हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना

(प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

लेखक

डॉ सुरेश सिनहा

एम० ए०, डी० फिल०

प्रकाशक

अशोक प्रकाशन

नई सड़क, दिल्ली

जिनके सपने इन पृष्ठों में साकार हुए हैं

उन्हीं

पूज्य पिताजी डॉ० अक्षयवरलाल श्रीवास्तव

एवं

श्रद्धामयी माताजी श्रीमती सन्दल देवी श्रीवास्तव

को

करुणा के समक्ष मेरा यह

शिशु विद्रोह

यह शोध-प्रबन्ध

डॉक्टर सुरेश सिनहा, एम० ए०, डी० फिल्० का शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना'—देखने में चाहे सीधा विषय लगता हो, परन्तु है बहुत गूढ़। डॉक्टर सिनहा ने बहुत विचार और पांडित्य के साथ इस विषय का विवेचन किया है। १८५७ से १९४७ तक की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक स्थितियों का ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों से पूरा पर्यपेक्षण किया है। नारियों की स्थिति पर पूरा ध्यान रखते हुए उन्होंने विशद विवेचन किया है। इनके शोध-ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में यह सब आया है। इसी में 'नई नारी' के विकास पर भी प्रकाश डाला है। दूसरे अध्याय में युग जीवन और उपन्यास, उपन्यास क्या है, मध्यवर्ग का उदय और उपन्यासों की लोकप्रियता, उपन्यास के रचना तत्व और उनमें पात्र योजना, पात्रों के चरित्र-चित्रण का विकास—नारी पात्र, और नारी पात्रों में नायिका की समीक्षा विस्तार के साथ की गई है। तीसरे अध्याय में नायिका की परिकल्पना के प्रमुख स्रोत एवं उद्देश्यों की चर्चा मनोवैज्ञानिक, छानबीन के साथ की गई है।

चौथे अध्याय में नायिकाओं के वर्गीकरण पर विचार किया गया है। इनमें दो वर्ग प्रमुख हैं—एक वासनात्मक, दूसरा अवासनात्मक। प्रेमिकायें, गृहस्थ नायिकायें, कृषक बालायें, वेश्यायें, नर्तकियाँ इत्यादि आई हैं। स्वाभाविक ही है। एक युग था जब वेश्याओं और नर्तकियों का ऊँचे समाज में भी बोलबाला था। पाँचवें, छठे और सातवें अध्याय में क्रमशः प्रेमिकायें, गृहस्थ नायिकायें इत्यादि पहले वर्ग में वर्णित नारियों का विवेचनपूर्ण वर्णन है। आठवें अध्याय में नायिकाओं और कुछ प्रधान नारी पात्रों के आधार पर उपन्यासकारों का नारी चित्रण सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट करने का पांडित्यपूर्ण प्रयत्न किया गया है। पूर्व-प्रेमचन्द काल, प्रेमचन्द काल तथा उत्तर प्रेमचन्द काल में नायिकाओं की परिकल्पना से सम्बन्ध रखने वाले दृष्टिकोण के विकास क्रम का सूक्ष्मता के साथ विश्लेषण नवें अध्याय में किया गया है। फिर उपसंहार है। डॉक्टर सिनहा ने इस निबन्ध को लिखने में बहुत परिश्रम किया है। उनकी सफलता के लिए मेरी हार्दिक बधाई।

झाँसी
११-१०-६३

—वृन्दावन लाल वर्मा

भूमिका

यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान और प्राचीन भारतीय साहित्य तथा पुरात्व विभाग की खोजों के फलस्वरूप ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में जीवन को जो नव स्पन्दन प्राप्त हुआ उसमें, अन्य अनेक बातों के अतिरिक्त, नारी को उच्च और आदरणीय स्थान फिर से मिला। 'फिर से' इसलिए, क्योंकि प्राचीन भारत में नारी को जो गौरवपूर्ण स्थान था, वह कई करणों से, भारतीय इतिहास के मध्ययुग से च्युत हो गया था और उन्नीसवीं शताब्दी तक आते-आते नारी अनेकानेक अंध-परम्पराओं और कुरीतियों तथा अशिक्षा से संवेष्टित पशुवत् जीवन व्यतीत करने लगी। उसे पुरुष की व्यक्तिगत सम्पत्ति और यौनेच्छाओं की पूर्ति के साधन के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझा जाने लगा था। उसका अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं रह गया था। ऐसी ही नारी पति के मृत शरीर के साथ बलपूर्वक भस्मीभूत कर दी जाती थी। इससे अधिक नारी की हीनावस्था का क्या प्रमाण हो सकता है? ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के जीवन में जो नव-स्फूर्ति और नवचेतना (जिसे पुनरुत्थान के नाम से अभिहित किया जाता है) उत्पन्न हुई। उसके फलस्वरूप एशिया के अन्य देशों की भाँति भारतवर्ष में भी नारी को उच्च स्थान प्राप्त होना अनिवार्य था। ऐसा हुआ भी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता, बाबू गोपालचन्द्र, ने अपनी कन्याएं मिशनरी स्कूलों तक में शिक्षा प्राप्त करने भेजी और स्वयं भारतेन्दु ने 'नीलदेवी' का आदर्श समाज के सम्मुख रखा। तत्पश्चात्, नीलदेवी' से 'ध्रुवस्वामिनी' तथा उसके बाद तक का इतिहास नारी के व्यक्तित्व के विविध पक्षों के विकास का ही इतिहास नहीं, मनोवैज्ञानिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टिकोणों से वह उसके व्यक्तित्व की पूर्ण स्वतन्त्र एवं स्वस्थ प्रतिष्ठा का इतिहास है। आज अपने देश में, 'जहाँ, नारी का आदर होता है वहाँ देवता निवास करते हैं' वाली उक्ति पूर्णत: तो नहीं अधिकांशत: चरितार्थ होते दिखाई देने लगी है। अब उसका मन और मस्तिष्क पराया या पति का नहीं, उसका अपना है।

उपन्यासों में पात्रों की कल्पना एक निश्चित उद्देश्य से की जाती है और इस उद्देश्य की सफलता पर ही समूचे उपन्यास की सफलता अधिकांश रूप में निर्भर करती है। अनावश्यक पात्रों की कल्पना एवं उनके असफल चरित्र चित्रण से न तो उपन्यासकार की कलात्मक कुशलता की सार्थकता ही प्रतिपादित होती है, और न उसका उद्देश्य ही पूर्ण हो पाता है। अत: पात्रों के स्वरूप निश्चित करने और उनके

चरित्र चित्रण में पर्याप्त कुशलता अपेक्षित होती है। उपन्यासों में पात्रों की संख्या क्या होनी चाहिए—इस पर काफी विवाद खड़ा किया है। चूंकि उपन्यासों का उद्देश्य मानव जीवन का पूर्ण एवं सत्य चित्रांकन करना माना गया है, अतः एक वर्ग का कहना है कि उपन्यासों में पात्रों की संख्या कम से कम इतनी तो होनी चाहिए कि समूचे मानव जीवन का उपन्यास में यथार्थ चित्रण किया जा सके। पूर्व-प्रेमचन्द काल के कुछ सामाजिक उपन्यासों और प्रेमचन्द काल के प्रायः सभी उपन्यासों में इसीलिए पात्रों का बाहुल्य प्राप्त होता है और वे अधिकांश रूप में वर्गगत पात्र हैं, जिनकी कल्पना की पृष्ठभूमि में यह उद्देश्य निहित था कि सभी वर्गों का पूर्ण प्रतिनिधित्व हो सके और उपन्यास में चित्रित किए जाने वाले जीवन की पूर्णता तथा यथार्थ मानव जीवन की पूर्णता में कोई विशेष अन्तर न प्रतीत हो। पर एक दूसरा वर्ग इससे सहमत नहीं हुआ। उसने यह स्वीकार किया कि कुछ एक पात्रों के माध्यम से जीवन की किसी एक समस्या को लेकर उपन्यासों का सृजन करना ही अधिक उपयोगी है, साथ ही वह कलात्मकता की चरम अभिव्यक्ति भी है। इस विवाद से हट कर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उपन्यासों में पात्रों की संख्या कथानक की आवश्यकता पर निर्भर करती है। यहां एक दूसरा प्रश्न उठता है। पात्रों की संख्या में नारी पात्रों और पुरुष पात्रों के मध्य परस्पर अनुपात क्या हो? कहा जा सकता है कि यह अनुपात भी कथानक की आवश्यकतानुसार ही निश्चित किया जाता है। हां यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि बिना नारी पात्रों के हिन्दी में अभी उपन्यास नहीं लिखे गए हैं। इसके लिए फिर वही बात दुहराई जा सकती है कि उपन्यास और मानव जीवन में निकट सम्बन्ध होने के कारण ही उपन्यासकार यह उपेक्षा नहीं कर पाता। एक उपन्यासकार जब पात्रों की कल्पना करता है तो नारी का उसमें आ जाना अनिवार्य है, क्योंकि नारी की अवहेलना करना जीवन की अवहेलना करना है। हिन्दी उपन्यास साहित्य नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास की क्रमिक स्थापना का ज्वलन्त प्रमाण प्रस्तुत करता है। उपन्यास साहित्य में यही विकास प्रस्तुत करना प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य है।

ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के नारी-जीवन के अवांछनीय नियन्त्रणों यन्त्रणों एवं कठोर, अस्वस्थ अनुशासन के नीचे दबे हुए बोझिल और घुटन तथा आत्मव्यथा से पूर्ण वातावरण में पुनरुत्थानकालीन वातावरण में उपन्यास साहित्य का सुधारवादी दृष्टिकोण लेकर अवतरित होना आवश्यक था। उसने विभिन्न नारी समस्याओं को सशक्त रूप में प्रस्तुत कर समाज की आंखें खोलने और नारियों के दुःखमय एवं नैराश्य से परिपूर्ण जीवन में प्रेरणा देने एवं नवीन आशाज्योति जागरित करने का अनुपम दोहरा कार्य सम्पन्न किया। आगे चल कर प्रेमचन्द काल और उत्तर-प्रेमचन्द काल में तो मात्र नारी की ही प्रेम, गृहस्थ, आर्थिक, सामाजिक एवं काम समस्याओं को लेकर स्वतन्त्र उपन्यासों की रचना की गई।

उपन्यासों में इन नारी समस्याओं को प्रधान नारी पात्रों एवं नायिकाओं के

माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। कुछ लोग प्रधान नारी पात्रों और नायिकाओं में कोई अंतर स्थापित करना नहीं चाहते और दोनों को एक ही मानना चाहते हैं। पर यह धारणा ठीक नहीं है। वास्तव में प्रधान नारी पात्रों और नायिकाओं में अन्तर है। उपन्यास में प्रधान नारी पात्र कई हो सकते हैं और यह आवश्यक नहीं है कि कथा के सारे सूत्र उन्हीं के हाथों में हों और फलागम की स्थिति भी उन्हें ही प्राप्त हो। पर नायिका की स्थिति इससे भिन्न होती हैं। उपन्यास में नायिका एक ही होती हैं, कथा के सारे सूत्र उसी के हाथ में होते हैं और फलागम की स्थिति भी उसे ही प्राप्त होती है। इस दृष्टि से उपन्यास में नायिका की स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। वह समकालीन समाज में नारियों की स्थिति, उनके जीवन और समस्याओं का प्रतिनिधित्व करती है और उन्हीं के प्रतीक स्वरूप प्रस्तुत की जाती है। इन नायिकाओं की परिकल्पना पृष्ठभूमि में अनेक तत्व क्रियाशील रहते हैं और उपन्यासकार अपने किसी विशेष दृष्टिकोण को प्रतिफलित करने के लिए ही इन नायिकाओं का चित्रण करता है। समाज में नारियों के जितने रूप प्रात्त होते हैं, पुष्ट उपन्यास साहित्य में नायिकाओं के भी उतने ही रूप प्राप्त होते हैं। समकालीन समाज में नारी की स्थिति का इस वर्गीकरण पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है।

इस शोध-प्रवन्ध के लिखे जाने के पूर्व अभी तक हिन्दी साहित्य में नायिकाओं का अलग से कोई अध्ययन नहीं प्रस्तुत किया गया था। जो कुछ अध्ययन हुआ भी था, वह स्फुठ रूप में था या सभी नारी पात्रों का था, और वह भी केवल चरित्र चित्रण की दृष्टि से। नायिका किसे कहते हैं, नायिका की परिभाषा क्या होनी चाहिए, नायिका की परिकल्पना क्यों की जाती है, उसका स्वरूप किस प्रकार निर्धारित होता है और उनका वर्गीकरण किन आधारों पर किया जाता है, आदि कुछ ऐसे मौलिक प्रश्न थे, जिन पर इन स्फुट अध्ययनों में कोई ध्यान नहीं दिया गया था। वास्तव में ये स्फुट अध्ययन किसी उपन्यासकार के अध्ययन या किसी विशेप उपन्यास की आलोचना के रूप में विद्यार्थियों के उपयोग की दृष्टि से किए जाते थे। जिनमें मात्र नारी पात्रों का अन्य पात्रों की भाँति चरित्र चित्रण कर दिया जाता था और जो भी नारी पात्र थोड़ा महत्वपूर्ण प्रतीत होता था, उसे ही नायिका स्वीकार कर लिया जाता था। इस भ्रांतिपूर्ण धारणा के कारण 'गोदान' में धनिया और मालती दोनों को ही नायिका मान लिया जाता है। अन्य उपन्यासों में भी नायक की पत्नी या प्रेयसी होने मात्र से ही उन्हें नायिका मान लिया जाता है, चाहे कथानक के संगठन में उनका कोई महत्वपूर्ण स्थान हो या न हो, फलागम की स्थिति उन्हें प्राप्त हो या न हो। इस प्रकार अभी तक एक अवैज्ञानिक अध्ययन पर ही सारी मान्यताएं निश्चित की जाती रही हैं। इस दृष्टि से प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध हिन्दी उपन्यास साहित्य के एक महत्वपूर्ण अंग का प्रश्न मौलिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन है।

अनेक वर्षों से मैं उपन्यास साहित्य में इस महत्वपूर्ण अध्ययन के अभाव को अनुभव कर रहा था, और चाहता था कि इस पर कोई विद्यार्थी शोध-कार्य सम्पन्न

कर सन्तुलित एवं सुव्यवस्थित सामग्री प्रस्तुत करे। सुरेश सिनहा प्रारम्भ से ही मेरे प्रिय छात्र रहे हैं और प्रारम्भ से ही कथा साहित्य की ओर उनकी विशेष रुचि थी। शोध-कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व ही उनकी अनेक कहानियाँ और उपन्यास प्रकाशित होकर काफी लोकप्रियता भी प्राप्त कर चुके थे। मैं उनके यथार्थवादी चित्रण, जीवन के प्रति प्रगतिशील दृष्टिकोण एवं मानव मूल्यों को प्रतिष्ठित करने की उनकी प्रयत्नशीलता तथा उनके सृजनात्मक कार्यों से अत्यन्त प्रभावित था। अतः जब उन्होंने मुझसे इस महत्वपूर्ण विषय पर शोध कार्य करने की अनुमति माँगी, तो मुझे कोई संकोच नहीं हुआ और मैंने पूर्ण आत्मविश्वास के साथ उन्हें सहर्ष अनुमति प्रदान कर दी। श्री सुरेश सिनहा अत्यन्त अध्यवसायी लेखक हैं और साहित्य में उनका गहन अध्ययन है। दो वर्षों के अल्पकाल में ही उन्होंने यह सारा शोध-कार्य इतने सुव्यवस्थित ढंग से कर लिया है, जो स्तुत्य है। मुझे उन पर गर्व है उनका यह अध्ययन नितान्त मौलिक एवं वैज्ञानिक है, जो हिन्दी साहित्य के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करता है। मुझे हार्दिक प्रसन्नता, साथ ही संतोष भी, कि मेरे अत्यन्त प्रिय छात्र द्वारा यह कार्य अत्यन्त प्रशंसनीय ढंग से सम्भव हो सका है। श्री सुरेश सिनहा ने कथा साहित्य में नए हस्ताक्षर जोड़ने वालों में अपना महत्वपूर्ण स्थान पहले ही बना लिया है। मुझे आशा है अपनी इस प्रवृति से वे वैज्ञानिक शोध समीक्षा के क्षेत्र में भी अपना उल्लेखनीय स्थान बना लेंगे। मुझे पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी जगत में इस महत्वपूर्ण कृति का समुचित स्वागत होगा। प्रियवर सुरेश सिनहा मेरे बधाई के पात्र हैं।

हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी,
इलाहाबाद।

—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

आत्म-कथन

आधुनिक काल में भारतीय नारियों ने जितनी प्रगति की है, अपने सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकारों के लिए उन्होंने जो महान् संघर्ष किया है, वह मानवीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। वास्तव में नारियों से ही मानव जीवन की पूर्णता सिद्ध होती है। बिना नारी के पुरुष अधूरा है, उसका जीवन अपूर्ण है। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब हिन्दी उपन्यास साहित्य का आविर्भाव हुआ, तब भारत में नारियों की स्थिति बहुत अच्छी न थी, और पाश्चात्य देशों की नारियों की अपेक्षा वे अत्यधिक पिछड़ी हुई थीं। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के साथ ही धीरे-धीरे भारतवासियों में नवीन चेतना का उदय हुआ, पुनरुत्थान की भावना का जन्म हुआ, और नारियों की शोचनीय स्थिति की ओर लोगों का ध्यान जाने लगा। स्वयं नारियाँ ही अपनी हीनावस्था और अपने अधिकारों के प्रति सजग होने लगीं। उपन्यासकार इस स्थिति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाए, और उन्होंने उपन्यासों में नारियों की स्थिति का चित्रण कर, उनके सुधार की दिशा में उपन्यासों के माध्यम से कार्य करना प्रारम्भ किया। इसी के परिणामस्वरूप अनेक नारी पात्रों के साथ उपन्यासों में नायिकाओं की परिकल्पना की जाने लगी।

समाज में, फलतः साहित्य् में नारी की स्थिति का उपन्यास के माध्यम द्वारा अध्ययन करना प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य है। अभी तक हिन्दी में इस प्रकार का कोई अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया गया है। जो प्रयत्न इस दिशा में हुए भी हैं, वे केवल स्फुट रूप में ही हैं, और वह भी नारी-पात्रों के अध्ययन के रूप में। किन्तु सामान्य नारी पात्र और नायिका में अन्तर होता है। नारी पात्र समस्या को तीव्र रूप प्रदान करने और नायिका के चरित्र को प्रकाशित करने के लिए ही होते हैं। कथानक में उनका गौण स्थान होता है, कभी-कभी प्रमुख भी होता है, पर नायिका के हाथों में कथानक के सारे सूत्र होते हैं, और वह कथानक का संचालन करती है।

इसलिए नारी की परिवर्तित परिस्थिति का जितना अच्छा परिचय हम नायिका के अध्ययन द्वारा प्राप्त कर सकते हैं, उतना सामान्य नारी पात्रों के अध्ययन द्वारा नहीं। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इस दिशा की ओर किसी भी भारतीय अथवा विदेशी भाषा में सर्वप्रथम शृंखलाबद्ध एवं मौलिक प्रयास है, जिसमें नायिकाओं की परि-कल्पना सम्बन्धी तत्वों के वैज्ञानिक विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है।

यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि यहाँ नायिका का वही अर्थ ग्रहण किया गया है, जो अंग्रेजी भाषा में (Heroine) शब्द का है। वैसे नायक की पत्नी या प्रेमिका को भी नायिका की संज्ञा दी जाती है। उदाहरणस्वरूप "गोदान" में धनिया, "कर्मभूमि" में सुखदा, "वरदान" में विरजन, "कंकाल" में तारा, "गिरती दीवारें" में चन्दा, "स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी" में रमा तथा लक्ष्मी, "चन्द हसीनों के खुतूत" में नर्गिस, "गढ़कुंडार" में तारा तथा "विराटा की पद्मिनी" में कुमुद ऐसी ही नारी पात्र हैं, जो सामान्यतः नायिकाएं मानी जा सकती हैं, पर नायिका की जो परिभाषा ऊपर दी गई है, उसके अनुसार यदि इन नारी पात्रों का अध्ययन किया जाए, तो यह स्पष्ट होगा कि न तो उन्हें कथानक की अन्तिम परिणति ही प्राप्त होती है, और न कथानक के समस्त सूत्र ही उनके हाथों में रहते हैं। वे केवल नारी पात्र हैं, नायिकाएं नहीं। इसीलिए इस शोध-प्रबन्ध में उन पर विचार नहीं किया गया है।

जहाँ तक सामान्य नारी पात्रों की परिकल्पना के स्रोत का सम्बन्ध है, यह अवश्य है कि उनकी कल्पना उन्हीं भावनाओं से की गई है, जिस रूप में नायिका की, और नारियों के एक वर्ग का प्रतिनिधित्व ही करती प्रतीत होती हैं, पर उनका चित्रण नायिका रूप में नहीं किया गया है, यह निर्विवाद है। नायिका सम्बन्धी कल्पना का वास्तविक रूप सुनीता, कल्याणी, चित्रलेखा तथा जालपा आदि में प्राप्त होता है। "गबन" (१९३०) में प्रारम्भ के कुछ अंशों में अधिक महत्व नहीं रहता, जब रमानाथ कलकत्ता भाग जाता है, तो सारा उपन्यास जैसे जालपा में ही सिमट आता है, और जैसे अकेली ही सारे कथानक का नेतृत्व करती है। वह सारे कथानक पर एक प्रकार से छाई रहती है, इसीलिए उसे नायिका मान लिया गया है।

इस शोध-प्रबन्ध में प्रारम्भ से १९४७ तक का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ठाकुर जगमोहनसिंह के उपन्यास "श्यामा-स्वप्न" (१८८८ ई०) की नायिका श्यामा और श्री वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास "कचनार" (१९४७ ई०) की नायिका कचनार इस अध्ययन के दो छोर हैं। १९४७ में ही देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, और भारतीय इतिहास का महत्वपूर्ण काल—ब्रिटिश-काल समाप्त हो जाता है। इस दृष्टि से भी प्रस्तुत अध्ययन को १९४७ तक सीमित रखना उचित जान पड़ा। शोध-प्रबन्ध के प्रारम्भ में पृष्ठभूमि के रूप में १८५७ से १९४७ तक की सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के विस्तृत सिंहावलोकन के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि किस प्रकार पुनरुत्थान काल में नारियों की स्थिति में परिवर्तन हुआ है, और वे आलोच्य काल के उपन्यासों की नायिका बनीं। इसके पश्चात् उपन्यासों की पात्र योजना में नारी पात्र और नारी पात्रों में नायिका तथा उसकी परिभाषा पर विचार किया गया है। नायिकाओं की परिकल्पना के प्रमुख स्रोत तथा उनके वर्गीकरण पर आगे के दो अध्यायों में विवेचन किया गया है। उन हिन्दी उपन्यासों की नायिकाओं का, जो ऊपर दी गई परिभाषा के अनुरूप हैं, उन

पर तीन अध्यायों —प्रेमिकाएं, गृहस्थ नायिकाएं तथा अन्य नायिकाओं में विचार किया गया है । इससे उपन्यासों का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण यद्यपि काफी स्पष्ट हो जाता है, फिर भी कुछ ऐसे प्रधान नारी-पात्रों का अध्ययन करना समीचीन जान पड़ा, जिनके द्वारा उपन्यासकारों के नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण को समझने में यथेष्ट सहायता प्राप्त होती है । इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए आठवें अध्याय में नायिकाओं तथा अन्य प्रधान नारी पात्रों के आधार पर हिन्दी उपन्यासकारों के नारी सम्बन्वी दृष्टिकोण को स्पष्ट कर अध्ययन को पूर्ण करने का प्रयत्न किया गया है । इस अध्याय में अध्ययन को और भी व्यापक बनाने की चेष्टा की गई है, और उन्हें निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया गया है :—सुधारवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण, आदर्शवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण, रोमांटिक परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण, आदर्शोन्मुख यथार्थवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण, समाजवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण, व्यक्तिवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण, तथा मनोविश्लेषणवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण । अतः इस आठवें अध्याय में १९४७ तक के उन सभी पूर्व-प्रेमचन्द, प्रेमचन्द और उत्तर-प्रेमचन्द कालों के प्रमुख उपन्यासों की चर्चा की गई है, जिनके प्रधान नारी-पात्रों में उपन्यासकारों का नारी चित्रण सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रतिफलित हुआ है । पर एक बात अवश्य ही स्पष्ट रूप से कहनी है कि आठवें अध्याय में चर्चित नारी पात्र नायिकाएं नहीं वरन् प्रधान नारी पात्र ही हैं ।

एक बात और रह जाती है । हिन्दी के कुछ तथाकथित आलोचक (या संग्रहों का सम्पादन करने वाले तथा नोट्स बुक लिखने वाले गुट्टबाज ?) नायिकाओं और प्रधान नारी पात्रों में कोई अन्तर नहीं मानते । उनकी आलोचनात्मक प्रतिभा यह मानती है कि उपन्यासों के सभी नारी पात्र समान होते हैं, चाहे वह "कायाकल्प" की लौंगी हो, या 'त्यागपत्र" की मृणाल । आज हिन्दी में आलोचना के नाम पर जो घास-भूसा वाला साहित्य भरा जा रहा है, उस पर इन साहित्यिक पंडों को अभिमान है, मैं घृणा और असंतोष से उनका अभिवादन करता हूं (!) उनकी बुद्धि पर तरस खाता हूं ।

इस शोध-प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में श्रद्धेय आचार्य डा० लक्ष्मीसागर जी वार्ष्णेय का पांडित्य निर्देशन और पुत्रोचित प्रोत्साहन ही विशेष रूप से क्रियाशील रहा है । पग-पग पर राह में आने वाली कठिनाइयों का समाधान कर, अपने स्वयं के पुस्तकालय से पुस्तकें देकर, अन्यत्र स्थानों से दिलाकर, उन्होंने अपनी व्यस्तता के बहुमूल्य क्षणों में भी समय निकालकर इस शोध-प्रबन्ध का एक-एक शब्द पढ़ा है, और कुशल शिल्पी की भाँति इस प्रस्तर प्रतिमा को मूर्तिमान करने में अपनी कला प्रदर्शित की है। इस प्रबन्ध की अच्छाइयाँ उनकी हैं, बुराइयाँ मेरी हैं, जिन्हें मैं अपनी धृष्टता के कारण स्वीकार नहीं कर सका । मैं पूज्यनीया मम्मी श्रीमती राज वार्ष्णेय द्वारा पिलाये गये गर्म-गर्म काफी के प्यालों को कभी नहीं भूल सकूंगा,

जिनकी मीठी-मीठी चुस्कियां लेते-लेते इस प्रबन्ध का मैटर मैंने अपने निर्देशक डॉ० वार्ष्णेय जी से 'डिस्कस' किया था। आज की हिन्दी आलोचना जिनके कन्धे पर टिकी हुई है, और जिन्हें अपने निर्देशक के रूप में पाकर कोई भी छात्र थिसिस लिखने की वैज्ञानिक पद्धति ही नहीं अपितु विषय के गहन् विश्लेषण एवं चिन्तन मनन की प्रेरणा प्राप्त कर सकता है, उन्हीं डा० वार्ष्णेय जी को अपने थीसिस के ही नहीं, जीवन निर्देशक के रूप में पाकर मैं गर्व का अनुभव करता हूँ। हाँ, मम्मी जी से जरूर चाहूँगा, जब-जब इलाहाबाद आता रहूं, मुझे कॉफी के वही प्याले मिलने चाहिए, जिनसे सोंधी-सोंधी महक वातावरण में घुलती रहे।

प्रसिद्ध उपन्यासकार डॉ० वृन्दावन जी वर्मा का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अनेक अमूल्य सुझाव देकर तथा समय-समय पर प्रेरणा देकर मुझे संकट के क्षणों से उबारा है। डॉ० श्री कृष्ण लाल (हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी) तथा डॉ० इन्द्रनाथ मदान (पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़) का उनके अमूल्य सुझावों के लिए अनुगृहित है।

प्रो० रामजी लाल श्रीवास्तव, श्रीमती ललिता श्रीवास्तवा, श्रीमती स्नेह सिनहा, श्री मानिकचन्द जायसवाल और भाई अमरीक सिंह कलसी एम० ए० (शोध-छात्र, हिन्दी, प्रयाग विश्वविद्यालय) का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इस प्रबन्ध के लिखे जाने एवं टाइप कराने में मुझे अनेक सहायता दी है। अपने प्रकाशक श्री जगदीश जी का भी आभारी हूँ, जिन्होंने बड़े उत्साह के साथ पुस्तक अल्प समय में ही इसे सुन्दर ढंग से प्रकाशित की है। उन सभी लेखकों, जिनकी पुस्तकों तथा पुस्तकालयों से सहायता ली गई है, मैं कृतज्ञ हूँ।

—सुरेश सिनहा

कल्पना
१६ पुरुषोत्तम नगर
हिम्मत गंज, इलाहाबाद-२
रविवार १८ अगस्त, १९६३।

विषय-सूची

अध्याय १

पूर्व-पीठिका

(१८५७–१९४७)

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना[1]

ईसा का १८वीं और १९वीं शताब्दियों में किस प्रकार उत्तर-मुगलकालीन अराजकतापूर्ण परिस्थितियों में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी ने व्यापारिक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर क्रमशः अपनी दूरदर्शिता, कुशल नीति एवं परस्पर वैमनस्य का लाभ उठा कर अपना शासन स्थापित कर लिया, यह भारतीय इतिहास की एक ऐसी महत्वपूर्ण, साथ ही सामान्यतः सर्वविदित घटना है, कि उसका यहाँ विस्तृत विवरण करना न केवल पिष्टपेषण होगा, वरन् प्रस्तुत शोध-प्रबंध के विषय की दृष्टि से अनावश्यक भी । जो बात हमारा ध्यान आकृष्ट करती है, वह यह है कि ईसा की १८वीं-१९वीं शताब्दियों में मुगलों, सिक्खों, जाटों, मराठों आदि की भारतीय राजनीतिक शक्तियाँ आपस में एकता स्थापित कर विदेशियों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने में असमर्थ रहीं, और देश में एक ऐसी जाति का शासन स्थापित हुआ, जो अपने यहाँ की औद्योगिक क्रांति से प्रेरित आर्थिक एवं साम्राज्यवादी नीति से प्रेरित थी । पिछले शासकों की भाँति उसने भारतवर्ष को अपना घर नहीं बनाया था । फलतः देश राजनीतिक दृष्टि से ही पराधीन नहीं हुआ, वरन् आर्थिक दृष्टि से भी उसकी दशा दिन-पर-दिन शोचनीय होती गई । भारतवासियों का १८५७ ई० का प्रयास विफल हो जाने के पश्चात् अंग्रेजों की राजनीति और आर्थिक नीति खूब फली-फूली । उनके पैर अच्छी तरह जम गये और देश में एक ऐसी शासन प्रणाली का जन्म हुआ, जो अनेक अंशों में पिछली शासन-प्रणाली या परम्परागत भारतीय शासन-प्रणाली से नितांत भिन्न थी ।

---

१. देखिये—

(क) जे० एन० सरकार—लेटर मुगल्स, (१९५५), कलकत्ता

(ख) थॉम्पसन और गैरेट· राइज एन्ड फुलफिलमेंट ऑव ब्रिटिश रूल इन इंडिया, (१९३५), लंदन ।

(ग) सर पी० ग्रिफिथ : द ब्रिटिश इम्पैक्ट ऑन इंडिया, (१९५२), लंदन ।

एक शासन व्यवस्था को समाप्त कर उसके स्थान पर दूसरी शासन व्यवस्था की स्थापना के पश्चात् प्रत्येक दिशा में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। भारत में भी ब्रिटिश शासन की स्थापना के साथ ही भिन्न दिशाओं में परिवर्तन एवं नवीन व्यवस्था लक्षित हुई। यहाँ की विशृंखल शिक्षा-व्यवस्था में परिवर्तन, नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रचलन, समाचार-पत्रों का प्रकाशन, नवीन आर्थिक संगठन आदि इसी शासन व्यवस्था में परिवर्तन के परिणाम थे। पर इस परिवर्तन की पृष्ठभूमि में भारत की स्थिति सुदृढ़ करने अथवा भारत का निर्माण कर एक कल्याणकारी राष्ट्र का रूप प्रदान करने की भावना नहीं, वरन् स्वयं अपनी शासन-व्यवस्था को सुदृढ़ता प्रदान करने एवं अपने निजी स्वार्थों को पूर्ण करने की भावना क्रियाशील थी। ब्रिटिश अधिकारियों पर शासन का जो महती उत्तरदायित्व था, उसके सफल निर्वाह के लिए ही उन्होंने प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन करने की योजना बनाई थी।

नवीन शिक्षा

परिवर्तन की दिशा में प्रथम चरण शिक्षा प्रणाली का पुनर्गठन था। मुगल शासन के पतन के पश्चात् देश में कोई केन्द्रीय शासन सत्ता न थी। कम्पनी का शासन स्थापित होने और उसकी व्यवस्था सुदृढ़ होने में अनेक वर्ष लग गये। इस बीच शिक्षा व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जा सका, और प्रारम्भ में कम्पनी के अधिकारियों की भी इस दशा में विशेष रुचि न थी। शिक्षा प्रसार के फलस्वरूप चेतना के प्रसारण से अमरीका में ब्रिटिश शासन समाप्त हो चुका था। कम्पनी के अधिकारियों को भारत में भी इस घटना की पुनरावृत्ति की आशंका थी, अतः शिक्षा प्रसार के प्रति उदासीन रहना ही उन्हें श्रेयस्कर प्रतीत हुआ। कम्पनी ने १७९१ में कलकत्ता में एक फारसी मदरसा तथा काशी में एक संस्कृत विद्यालय की स्थापना कर ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझा। बाद में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने

१—पिछले पृ० से आगे का—

(घ) आर० सी० मजूमदार: एन एडवांस्ड हिस्ट्री ऑव इंडिया, (१९५३), लंदन।

(ङ) जे० रेम्जे म्योर: मेकिंग ऑव ब्रिटिश इण्डिया, (१७५६ से १८५८ तक), मैनचेस्टर, १९०४।

(च) डब्लू० ए० जे० आर्चबोल्ड: आउट लाइन्स ऑव इण्डियन कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री, (१९२६), लन्दन।

(छ) ए० युसुफ अली: द मेकिंग ऑव इन्डिया, (१९२५), लन्दन।

(ज) ए० युसुफ अली: ए कल्चुरल हिस्ट्री ऑव इन्डिया, (१९४०), लन्दन।

(झ) पं० जवाहरलाल नेहरू—हिन्दुस्तान की कहानी, (१९४७), इलाहाबाद।

(ट) पट्टाभिसीतारमैया: कांग्रेस का इतिहास, (१९४६), दिल्ली।

(ठ) मोहनदास कर्मचन्द गांधी: आत्मकथा, (१९५२), दिल्ली।

१८३१ में प्रथम वार भारत में शिक्षा के प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित करते हुए शिक्षा प्रणाली के पुनर्गठन के लिए एक लाख रुपया स्वीकृत किया। स्पष्ट है कि भारत जैसे बड़े देश के लिए इतनी कम राशि सन्तोष-प्रद न थी। परिणामस्वरूप शिक्षा-प्रसार के सम्बन्ध में शासन द्वारा अपनी चिन्ता प्रकट करने के अतिरिक्त कुछ भी प्रगति न हो सकी, पर यह स्थिति शीघ्र ही परिवर्तित हुई। सन् १८३५ ई० में लार्ड मैकाले ने एक योजना प्रस्तुत कर भारतीय स्कूल और कॉलेजों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी कर देने का सुझाव दिया, जिसे सरकार ने तुरन्त ही स्वीकार कर लिया। इससे अंग्रेजी के महत्व में वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त उस समय सरकारी नौकरियों में अंग्रेजी शिक्षित व्यक्तियों का ही प्रवेश सम्भव था, जिसके कारण भी अंग्रेजी के पठन-पाठन के प्रति भारतवासियों की रुचि विकसित हुई। परिणामस्वरूप अंग्रेजी स्कूलों की संख्या में शीघ्र ही वृद्धि हुई। १८५५ तक भारत में १५५ अंग्रेजी स्कूलों की स्थापना हो चुकी थी। अंग्रेजी शिक्षा प्रसार को राजा राम मोहनराय (१७७४-१८३३ ई०) से भी वल प्राप्त हुआ। उन्होंने अपने एक मित्र डेविड हेयर के साथ कलकत्ता में एक अंग्रेजी स्कूल की स्थापना की, जिसमें अंग्रेजी शिक्षा की आवश्यकता पर वल देते हुए अंग्रेजी शिक्षित लोगों को तैयार किया गया। वह वर्ग धीरे-धीरे सारे देश में फैलता गया[1]। इस प्रकार यद्यपि भारत में नवीन शिक्षा प्रायः १८वीं शताब्दी से ही प्रारम्भ हो गई थी, पर उसकी प्रगति वास्तव में १९वीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हुई।

ब्रिटिश अधिकारियों की शिक्षा प्रसार की यह भावना शासन व्यवस्था में अधिकाधिक शिक्षित व्यक्तियों को स्थान देकर अपनी स्थिति सुदृढ़ करने की चिन्ता पर ही आधारित थी। ज्यों-ज्यों उनके प्रशासन का क्षेत्र बढ़ता जा रहा था, इंगलैंड से शिक्षित व्यक्तियों को लाकर उन्हें शासन-व्यवस्था का भार सौंपना सम्भव न रह गया था। उच्च पदों पर और अन्य उत्तरदायी पदों पर तो उन्होंने अंग्रेजों को स्थान प्रदान किया था, पर उन्हें अधिक संख्या में शिक्षित क्लर्क चाहिये थे[2]। इसलिए भारतीयों को शिक्षित कर अपनी आवश्यकता को पूर्ण करने की योजना बनाई और अंग्रेजी शिक्षा प्रसार के प्रति अपनी अत्यधिक रुचि प्रदर्शित की। अतः यह स्पष्ट है कि इस रुचि में सद्‌भावना नहीं, वरन् स्वार्थ-पूर्ति की इच्छा थी। १८५४ ई० में चार्ल्सवुड ने सरकार के सम्मुख एक योजना प्रस्तुत कर प्राथमिक शिक्षा की आवश्यकता पर वल दिया। अभी तक प्राथमिक शिक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था, और कॉलेजों में ही अंग्रेजी शिक्षा के प्रचलन पर जोर दिया जाता था। १८८२ ई० में हंटर कमीशन ने भी प्राथमिक शिक्षा पर वल देते हुये प्राइवेट स्कूलों

१. सर जॉन कमिंग द्वारा सम्पादित-मॉडर्न इंडिया : ए कोम्पॉपरेटिव सर्वे, (लन्दन १९३१), पृ० १२२

२. मेह्यू : ऐजूकेशन ऑव इंडिया, (१९२६ ई०), लन्दन, पृ० २०-२१

प्रदान करना प्रारम्भ किया एवं सर्वत्र घूम-घूम कर शिक्षा की उपयोगिता जनता को समझाने की चेष्टा की, तो शिक्षा प्रसारण का कार्य अत्यन्त सरल हो गया, और धीरे-धीरे चेतना की नई लहर भारतवासियों में प्रसारित होने लगी।[1] पश्चिमी विचारधारा से सम्पर्क स्थापित होने पर उन्होंने देखा कि विदेशों में लोग किस प्रकार दमन एवं अत्याचार का विरोध कर साहसपूर्ण संघर्ष से अपनी दासता की शृंखलाएं छिन्न-भिन्न कर अपने-अपने देशों का नवनिर्माण कर रहे हैं। स्वाधीनता की आवश्यकता पर पाश्चात्य विचारों, चिन्तकों एवं राजनीतिज्ञों की बातें जब भारतीय युवकों तक पहुँची तो उनमें एक प्रकार से नव-जागृति हुई और वे अपने अधिकारों के प्रति सजग हुए। शिक्षा के इस प्रसार से तर्क शक्ति का भी विकास हुआ और भारतीयों के मन में विदेशियों द्वारा शासन किए जाने के अधिकार की बात भी उत्पन्न होने लगी।[2] उनमें यह विचार शीघ्र ही पनपने लगा कि इतने विशाल देश पर मुट्ठी भर विदेशियों को शासन करने का कोई अधिकार नहीं है। तब उन्हें अपने अतीत के गौरव, जीवन की गरिमा और अपने जन्म-सिद्ध अधिकारों का स्मरण हुआ और वे तन-मन से स्वाधीनता आन्दोलन को अग्रसर करने में लग गए। इस प्रकार नवीन शिक्षा-प्रसार भारतीय दृष्टि से सौभाग्यशाली ही सिद्ध हुआ और ब्रिटिश दृष्टिकोण से दुर्भाग्यपूर्ण, क्योंकि जिस भय की आशंका से वे आक्रान्त थे, अन्ततोगत्वा वह आगे चलकर घटित होना प्रारम्भ ही हुआ।

नवीन वैज्ञानिक आविष्कार

नवीन शिक्षा के प्रसार द्वारा देश में जिस नवीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक चेतना का उदय हो रहा था, उसमें नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा। उत्तर-मुगलकाल में विज्ञान अथवा वैज्ञानिक आविष्कारों का भारत में कोई महत्व न रह गया था, और सामान्य लोग इनसे सर्वथा अपरिचित ही थे। पर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रचलन भी हुआ। अठारहवीं शताब्दी में सम्पूर्ण विश्व में विज्ञान ने आशातीत सफलता प्राप्त की। वाष्प एवं विद्युत शक्तियों के आविष्कार से नित नए यंत्रों का निर्माण होने लगा। रेल, मोटर, ट्राम, पनडुब्बियां, हवाई जहाज, और तार आदि के आविष्कार विश्व के लिए सर्वथा नवीन थे और शीघ्र ही विश्व में वैज्ञानिक आविष्कारों का जाल सा बिछ गया। विदेशों में मानवीय

---

१. "In the first place, the influence of the caste system interposed an effective barrier between the classes traditionally concerned with learning and the masses of the population; so that until political developments within very recent years convinced the intelligentsia of the necessity of educating the masses to take part in politics, they passed on them nothing of the new learning." एल० एफ० रशब्रुक : व्हाट एबाउट इंडिया, (१६३६), लन्दन पृ० ६२।

२. ए० युसुफ अली: ए कल्चुरल हिस्ट्री ऑव इंडिया, (१६४०), लन्दन पृ० २२१।

जीवन विज्ञान पर पूर्णतया अवलम्बित हो चुका था, पर तब भी भारत इससे वंचित था। ब्रिटिश अधिकारियों ने भारत में नित नए होने वाले वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रचलन न होने देने के लिए भरसक प्रयत्न किया, क्योंकि उन्हें भय था कि भारत में इससे नव-चेतना अत्यन्त शीघ्रता से प्रसारित होगी, और उस परिस्थिति में उन्हें भारत में अपना शासन बनाए रखना प्रायः असम्भव सा होगा। अतः उन्होंने भारत में वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रचलित न होने देने की भरसक चेष्टा की[1] पर प्रकाश की रश्मियों को रोक पाना सम्भव नहीं है।

इस दिशा में भारत में प्रेसों का आगमन एक महत्वपूर्ण घटना थी। यद्यपि प्रारम्भ में व्यक्तिगत रूप से प्रेसों की स्थापना को प्रोत्साहित नहीं किया गया, किन्तु स्वयं सरकार का ही प्रशासन कार्य इतना अधिक विकसित हो गया था, कि बिना प्रेस की सहायता से उसका कार्य सरलता से चल पाना कठिन सा हो गया था। अतः विवश हो अधिकारियों ने कलकत्ता, मद्रास एवं अन्य स्थानों पर प्रेसों की स्थापना की। प्रथम व्यक्तिगत प्रेस बप्टिस्ट पादरियों ने श्रीरामपुर में स्थापित किया था। भारतीय भाषाओं में मुद्रण करने वाला सबसे पहला प्रेस डा० केरी ने १७९८ ई० में स्थापित किया, पर प्रकाशन के क्षेत्र में वास्तविक प्रगति १८४० ई० के पूर्व न हो सकी। सन् १८४० ई० तक सम्पूर्ण भारत में यथेष्ट मात्रा में व्यक्तिगत प्रेसों की स्थापना हो चुकी थी। प्रेसों द्वारा साहित्य की प्रगति हुई और अच्छी पुस्तकों का प्रकाशन अब भारत में भी सुलभ हो गया। अभी तक इन पुस्तकों का प्रकाशन न हो पाने के कारण भारतवासी केवल उन्हीं पुस्तकों को पढ़ पाते थे, जो अंग्रेजों की कृपा से भारत में आ पाती थीं। किन्तु शीघ्र ही विदेशों के महान् साहित्यकारों, चिंतकों एवं विचारकों की श्रेष्ठ पुस्तकों का अनुवाद भारत में होने लगा और प्रकाशित होकर उनकी बिक्री में भी वृद्धि हुई। इससे लोगों में पठन-पाठन की रुचि का प्रसार हुआ और चेतना के विकास के साथ ही भारतीय साहित्य की भी प्रगति हुई।

शिक्षा के प्रसार एवं नव-जागरण में पत्रों का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा।

---

१. पं० जवाहर लाल नेहरू ने अपनी पुस्तक "हिन्दुस्तान की कहानी", (१९४७), इलाहाबाद, के पृ० ३८३ पर एक ऐसी ही मनोरंजक घटना का उल्लेख किया है। एक बार हैदराबाद के निजाम ने एक विलायती मशीन देखने की अपनी हार्दिक इच्छा प्रकट की। इस पर वहाँ के तत्कालीन रेजीडेंट ने उसके लिए एक मुद्रण-यंत्र और एक वायु पम्प की व्यवस्था कर दी। निजाम की क्षणिक उत्सुकता शान्त हो जाने पर ये चीजें एक ओर कर दी गई, पर जब कलकत्ते की सरकार ने यह सुना तो उसने रेजीडेंट के प्रति अपना क्रोध प्रकट किया और एक भारतीय रियासत में मुद्रण-यंत्र चलाने पर तो विशेष रूप से फटकारा। इस पर रेजीडेंट ने सरकार की इच्छा पर उन चीजों को तुड़वा देने का विचार भी प्रकट किया था।

प्रारम्भ में समाचार-पत्र यद्यपि केवल अंग्रेजों की प्रशंसा, उनके उठने-बैठने, उत्सवों एवं अन्य कार्यक्रमों की सूचना तक ही सीमित थे, पर शीघ्र ही उनका तानावाना परिवर्तित हुआ, और उन्होंने जनता के समक्ष विदेशों की क्रान्ति के महत्वपूर्ण तथ्य एवं पश्चिमी विचारकों के उबलते विचार प्रस्तुत किए, जिससे अन्धकार में भटकती जनता को नवीन दिशा प्राप्त हुई और वह शिक्षा के प्रति उदासीन न रह शिक्षा के अधिकाधिक प्रसार में अपना उत्तरदायित्व समझने लगी।[1]

इनमें अनेक समाचार-पत्रों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था।[2] इन सभी

१. ए० युसुफ अली-ए कल्चरल हिस्ट्री ऑव इंडिया, (१०४०), लन्दन, पृ० २१८।

२. राजा राम मोहन राय और महर्षि देवेन्द्र नाथ टैगोर, दोनों ही अपने विचारों के प्रचार के लिए समाचार पत्र निकालते थे। १८३० के लगभग "द रिफार्मर" भारतीयों द्वारा संचालित प्रथम अंग्रेजी समाचार-पत्र था, जो राजाराममोहन राय के सम्प्रदाय से प्रकाशित होता था। १८४६ में काशी प्रसाद घोष (१८०९-१८७३ में "द हिन्दू इन्टेलीजेन्सर" नामक साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया, तथा १८४९ में एंग्लो-बंगाली पत्रकारिता के प्रमुख सूत्रधार गिरीशचन्द्र घोष ने "द बंगाल रिकॉर्डर" नामक समाचार-पत्र निकाला। १८८२ में डा० शम्भू चन्द्र मुकर्जी ने कलकत्ता से एक अत्यन्त प्रभावशाली पत्र "रईस और रैयत" प्रकाशित किया। इसी बीच वह लखनऊ के ताल्लुकेदार संघ के सहायक सचिव नियुक्त कर लिए गये और वहाँ से एक नए समाचार-पत्र "समाचार हिन्दुस्तानी" का सम्पादन किया। महात्मा शिशिर कुमार घोष (१८६२:१९११) और उनके भ्राता मोतीलाल घोष (१८४५-१९२२) ने १८३८ में मुफस्सल से सर्वाधिक प्रमुख और बहु-प्रचारित-पत्र "अमृत बाजार पत्रिका" निकाला, जो बाद में १८७२ में कलकत्ते से प्रकाशित होने लगा। यह पत्र पहले प्रान्तीय भाषा में प्रकाशित होता था, पर बाद में जब सरकार ने प्रान्तीय भाषाओं में प्रकाशित समाचार पत्र सम्बन्धी अधिनियम अत्यन्त कठोर कर दिए, तो १८७८ से अंग्रेजी में प्रकाशित होने लगा। १८७८ में ही मद्रास से दो उत्साही युवकों मि० सुब्रामनिया ऐयर और मि० एम० वी राघवाचार्य ने एक साप्ताहिक पत्र "द हिन्दू" निकाला, जो १८८३ से सप्ताह में तीन बार और १८८९ से दैनिक रूप में प्रकाशित होने लगा। श्री बाल गंगाधर तिलक ने १८८० में पूना से "द मराठा केसरी" निकाला। १८३८ में बम्बई से "द बॉम्बे टाइम्स" का प्रकाशन प्रारम्भ हो चुका था जो १८६१ से 'द टाइम्स ऑव-इंडिया" के नाम से प्रकाशित हो रहा था। इसके अतिरिक्त देश के प्रायः सभी भागों में अनेक संख्या में समाचार पत्र प्रकाशित हो रहे थे, और उनकी संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही थी।

ए० युसुफ अली : ए कल्चरल हिस्ट्री ऑव इंडिया, (१९४०), लन्दन, पृ० २२१।

समाचार-पत्रों से शिक्षा के प्रसार एवं राष्ट्रीयता के विकास में बड़ी सहायता प्राप्त हुई। इनके माध्यम से राजनीतिक नेता विश्व के अन्य देशों में स्वाधीनता प्राप्ति के होने वाले संघर्ष, क्रान्ति, आर्थिक प्रगति, नवनिर्माण एवं अपने जीवन को सुखी एवं समृद्धशाली बनाने के उपायों से परिचित होते रहते थे, तथा राजनीतिक क्षेत्र में अपनी कार्य-प्रणाली उसी के अनुरूप निर्मित करते थे। इन समाचार पत्रों ने भारत-वासियों को उनके वास्तविक अधिकारों के प्रति सचेत करते हुए भारत पर अंग्रेजों द्वारा अनाधिकार रूप से शासन करने का विरोध किया। धीरे-धीरे जब शिक्षित युवकों की संख्या बढ़ने लगी तो उनमें तीव्र चेतना उत्पन्न हुई, और अपनी वास्तविक सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थिति को सोचने-समझने की शक्ति भी आई।

प्रेसों की स्थापना की भाँति भारत में रेलों का आगमन भी कम महत्वपूर्ण न था।[1] १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यातायात के साधनों की भाँति डाक-तार की भी व्यवस्था पूर्णतया असंतोषजनक थी। डाक वितरित होने की देशी प्रणाली पिछड़ी हुई थी। डाक वितरण करने वालों को पैदल ही कार्य करना होता था। जहाँ ऐसा सम्भव न था, वहाँ घोड़ा गाड़ियों से काम लिया जाता था, तथा निश्चित दूरी के पश्चात् उनकी सवारी बदल दी जाती थी। इससे एक पत्र के बंटने में एक सप्ताह से भी अधिक लग जाता था। १८३६ ई० में भारत में कुल २७६ डाकखाने ही थे, पर धीरे-धीरे अंग्रेजों ने डाक-व्यवस्था में सुधार किया, जिससे देशी जीवन एकता के सूत्र में बंधा और देश के सुदूरवस्थित स्थानों से समाचार प्राप्त करने में सुविधा प्राप्त हुई। तार की व्यवस्था सन् १८५४ ई० में प्रथम बार स्थापित की गई। कलकत्ते से आगरे तक उसी वर्ष पहली तार लाइन स्थापित की गई। इसी के कुछ समय पश्चात् टेलीफोन की व्यवस्था भी भारत में की गई। बिजली, मोटर, रेडियो आदि अन्य दैनिक जीवन में उपयोग आने वाली वस्तुएं भी समय-समय पर भारत में प्रचलित होती गई।

---

1. सन् १८५३ ई० में जी० आई० पी० रेलवे ने थाना और बम्बई के मध्य अपनी प्रथम शाखा की स्थापना की थी और १८५४ ई० में ईस्ट इन्डियन रेलवे ने कलकत्ते से ३७ मील तक रेलवे लाइन खोली थी। १८५७ ई० में मद्रास से अर्काट तक रेलवे लाइन खोली गई। १९४७ ई० में धीरे-धीरे भारत में रेल पथ की कुल लम्बाई ४३,००० मील थी। भारत में रेलों के आगमन से जन-जीवन में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये। यद्यपि प्रारम्भ में सरकार ने रेलों को अपने कठोर नियंत्रण में रखा, और उसका एकमात्र उद्देश्य अपने माल तथा अपनी सेना को एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजना था। इसमें उनका व्यक्तिगत स्वार्थ निहित था, पर आगे चलकर इससे भारत के औद्योगीकरण, सुधारवादी आन्दोलनों और राष्ट्रीयता के प्रचार एवं एकीकरण में विशेष सहायता प्राप्त हुई।

इस प्रकार भारत में यद्यपि वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रचलन बहुत बाद में हुआ, तथापि एक बार प्रारम्भ होने पर उसमें निरन्तर प्रगति ही होती गयी। जिस समय भारत में वैज्ञानिक आविष्कारों का आगमन हुआ, उस समय वह कदाचित् विश्व का सर्वाधिक पिछड़ा देश था। उस समय तक विश्व के अन्य देश अत्यन्त प्रगतिशील हो चुके थे और विज्ञान उनके लिए दुर्गम न रह गया था। इन नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रचलित हो जाने से भारतीय जीवन की अनेक कठिनाइयाँ स्वतः समाप्त हो गई। रेलों के आगमन से लोगों को अपने देश के एक भाग से दूसरे भाग में जाने का अवसर प्राप्त हुआ, और वे विभिन्न प्रकार के लोगों, तथा विचारों के सम्पर्क में आए। इससे एक प्रकार से सारा देश एक दूसरे के विचारों से सम्बद्ध हो गया और भावनात्मक एकता का विकास हुआ। यातायात के साधनों में सुधार हो जाने एवं डाक-तार व्यवस्था के प्रचलन से लोगों को तुरन्त अपने देश के प्रत्येक भाग में होने वाली घटनाओं की सूचना प्राप्त होती रहती थी और देश एकता के सूत्र में आबद्ध हो गया था। विभिन्न भागों की सांस्कृतिक परम्पराओं, विचारों एवं विभिन्न लोगों के सम्पर्क में आने से विचारों का आदान-प्रदान प्रारम्भ हुआ और संस्कृतियों में भी आदान-प्रदान हुआ। इससे नव-जागरण-आन्दोलन को बड़ा बल मिला, और साथ ही साहित्य एवं कला की आशातीत प्रगति हुई। भारतीय साहित्यकारों ने उच्चकोटि के प्रगतिशील विदेशी साहित्यकारों से प्रेरणा ग्रहण कर भारत में प्रगतिशील जन साहित्य की रचना प्रारम्भ की। साहित्य के क्षेत्र में जो अनेक धाराएं और प्रवृत्तियाँ बाद में प्रचलित हुई, वे विदेशी साहित्य की ही प्रेरणा स्वरूप ग्रहण की गयी हैं। इस प्रकार इन वैज्ञानिक आविष्कारों का भारत में प्रचलन हो जाने से भारतवासियों को चतुर्दिक लाभ हुआ और उनमें नवीन प्रगतिशील भावनाएं स्वतः विकसित होने लगीं। दैनिक जीवन में परिवर्तन होने और नए विचारों तथा लोगों के सम्पर्क में आने से लोगों की कट्टरता समाप्त होकर परम्परागत रूढ़ियाँ समाप्त होने लगीं। उदाहरण के तौर पर वैज्ञानिक आविष्कारों के पूर्व विलायत का जाना भारतवासियों के लिए एक अप्रत्याशित बात थी, और वे इसे धर्म-विरुद्ध मानते थे। पर धीरे-धीरे यह भावना समाप्त होती गयी और लोग विदेशों में जाकर वहाँ की राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का अध्ययन कर उनके स्वाधीनता आन्दोलन की मुख्य बातों से परिचत हो स्वदेश लौटे, और उन्होंने उन नवीन विचारों से भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन को नवीन दिशा प्रदान की।

नवीन आर्थिक संगठन

यद्यपि भारत में कम्पनी का आगमन व्यापारिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के पश्चात् हुआ था, तथापि आगे चल कर यहाँ की शासन व्यवस्था का सूत्र जब कम्पनी के अधिकारियों के हाथों में आ गया तो उन्होंने यहाँ की अधिकाधिक सम्पदा लूट कर अपने देश में ले जाने की एकमात्र योजना का अवलम्बन किया। वास्तव में यहाँ

का धन-धान्य देख उनके मन में इस सीमा तक लोभ व्याप्त हो गया कि साधारण सी नैतिकता भी वे प्रदर्शित न कर सके। थॉम्पसन और गैरेट ने अपने प्रसिद्ध इतिहास ग्रंथ में भारत की संज्ञा एक ऐसे पेगोडा वृक्ष से दी है, जो उस समय तक बार-बार हिलाया गया, जब तक कि वह पूर्णतया नष्ट नहीं हो गया। अंग्रेजों के मस्तिष्क में धन के प्रति इतना लोभ उत्पन्न हो गया था कि कार्टेज और पिजारो युग के स्पेनवासियों के समय से आज तक कदाचित् उसकी पुनरावृत्ति नहीं हुई। भारत में प्रारम्भ के कुछ वर्षों तक ब्रिटिश शासन का इतिहास विश्व में राजनीतिक छल का सबसे बड़ा उदाहरण है।[1] परिणाम-स्वरूप भारत की आर्थिक परिस्थिति दिन-प्रतिदिन अत्यन्त शोचनीय होती गयी। इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् अधिक संख्या में मिलें स्थापित हो गयी थीं, तथा उनकी कच्चे माल के प्रति माँग निरन्तर बढ़ती जा रही थी। इंगलैण्ड स्वयं उस माँग की पूर्ति करने में असमर्थ था, अतः ब्रिटिश अधिकारियों ने भारत एवं अन्य अपने शासनाधीन देशों से अधिकाधिक कच्चा माल इंगलैण्ड की मिलों को भेजना प्रारम्भ किया। इसका भारत की आर्थिक अवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ा और आर्थिक सुदृढ़ता की रही सही आशा भी खंडित हो गयी। स्वार्थपरक दृष्टिकोण यहीं समाप्त नहीं हुआ, ब्रिटिश अधिकारियों ने ऐसी नीति का अवलम्बन किया, जिसके अनुसार इंगलैण्ड से जो चीज भारत आती थी वह कर-मुक्त रहती थी, अतः उसके मूल्य भी कम रहते थे। इसके विपरीत भारत से जो चीजें अभी तक विदेशों को भेजी जाती थीं, उन पर इतना अधिक कर लगाया कि उनका मूल्य बढ़ जाना स्वाभाविक ही था, अतः उनकी माँग भी समाप्त हो गयी। इनसे भारतीय व्यापार पूर्णतया नष्ट तो हो ही गये, विदेशी मालों की अधिकाधिक खपत भारत में होने लगी, जिससे राष्ट्रीय आय का वह भाग, जो भारत में ही रह सकता था, विदेशों को जाने लगा। कम्पनी अधिकारियों ने भारत के लघु-उद्योगों, कृषि व्यवस्था को भी प्रोत्साहन नहीं दिया। कृषि का ढंग अंग्रेजों के 'प्रगति-शील' राज्य में वही प्राचीन था, जिससे प्रतिदिन उपज में कमी होती जा रही थी। फसलों की रक्षा की वैज्ञानिक एवं आधुनिक प्रक्रियाएं भारतीय कृषकों को नहीं बताई जाती थीं। खेतों में विभाजन होता जा रहा था, और आपसी वैमनस्य एवं संयुक्त परिवारों के टूटने के कारण उनकी सीमाएं लघुतर होती जा रही थीं। कृषि के विकास के लिए कोई उपाय नहीं किए जाते थे। सरकार केवल लगान वसूली तक ही अपने को सम्बन्धित रखना चाहती थी। कृषकों के ऊपर उनके दमन एवं अत्याचारों में निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी। इसका परिणाम भयंकर हुआ। कृषकों के ऊपर

---

१. थॉम्पसन और गैरेट: राइज एण्ड फुलफिलमेन्ट ऑव ब्रिटिश रूल इन इण्डिया, (१९३५), लन्दन, पृ० २३२।

ऋणों का भार बढ़ता गया। देश में भीषण निर्धनता व्यापक रूप से फैल गई[1] और भारतीयों की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई।

१८५८ ई० में जब भारत में कम्पनी का शासन समाप्त हुआ, और भारत ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के शासन के अन्तर्गत आया, तो स्थिति में नाम-मात्र को परिवर्तन हुआ। सरकार ने आर्थिक सुधारों की ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया, और भारतीयों द्वारा खोले जाने वाले बड़े-बड़े उद्योगों पर अपनी आपत्ति एवं नियंत्रण में ढील दी, जिससे भारतीयों में कुछ उद्योग-धन्धे अपने प्रयत्नों से स्थापित कर भारत की आर्थिक व्यवस्था को कुछ सीमा तक सुदृढ़ बनाने की भावना को बल मिला। इसी काल में जे० एन० टाटा ने भारत में अनेक मिलें स्थापित कर भारत के औद्योगीकरण करने का प्रयत्न किया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से ही यातायात की स्थिति में अपेक्षाकृत सुधार होने से खानों की खुदाई का कार्य भी प्रारम्भ हुआ। १८५५ ई० में एक अंग्रेज उद्योगपति ने हुगली के किनारे सर्वप्रथम एक जूट मिल की स्थापना की। १८६० ई० में मशीनों के आयात पर जो चुंगी लगाई गयी थी, हटा ली गयी। इसके परिणामस्वरूप औद्योगीकरण के मार्ग की एक प्रमुख बाधा का स्वतः निराकरण हो गया और बम्बई तथा अहमदाबाद में भारतीय पूंजी और नियंत्रण में कपड़े की अनेक मिलों की स्थापना हुई। यद्यपि भारतीय उद्योगपतियों को उचित रूप में प्रोत्साहन अभी भी प्राप्त नहीं हो रहा था, पर औद्योगीकरण की दिशा में प्रयास जब प्रारम्भ हो गए थे तो उन्हें रोक सकना सहज सम्भव न था। भारतीयों द्वारा उद्योग-धन्धों को अत्यन्त विषम परिस्थितियों में भी स्थापित किए जाने की पृष्ठभूमि में दो शक्तियाँ प्रमुख रूप से क्रियाशील थीं। प्रथम, उनके सम्मुख आर्थिक लाभ का प्रश्न तो था ही, पर सबसे महत्वपूर्ण चीज़ थी, कि वे अपने देश की आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने की भावना से भी प्रेरित थे। दूसरे, इंगलैण्ड की नियंत्रण की नीति समाप्त हो चुकी थी, जिसका कारण था, कि व्यापार में इंगलैण्ड को इतना अधिक लाभ हो चुका था कि उसे अब वहाँ के औद्योगीकरण विकास में लगाने में विशेष लाभ न दृष्टिगोचर हुआ, और उन्होंने वह लाभांश भारत के आर्थिक सुधार में लगाने का निश्चय किया। इस नीति परिवर्तन में इंगलैण्ड का चाहे जो भी स्वार्थ निहित रहा हो, भारत को इससे लाभ ही हुआ। १९१८-१९ में सरकार ने भारत की औद्योगिक स्थिति की जाँच करने के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की, जिसकी मुख्य सिफारिशें थीं कि भारतीय उद्योग धन्धों

१. "It must be stated frankly that the widespread poverty of the Indian people impresses all observer. The great majority of Indians live in a way which would be quite impossible in a more rigorous climate; and their appearance strikes the observer as pitiable poor, depressed and melancholy."—एल० एफ० रशब्रुक विलियम: ह्वाट एबाउट इण्डिया ?, (१९३९), लन्दन, पृ० १५९।

की रक्षा के लिये भारत में बनने वाले मालों को कर-मुक्त कर बाहर से आने वाले माल पर कर लगाना चाहिये, तथा विदेशी पूंजी का भारत में अनियंत्रित प्रवेश होना चाहिए। आर्थिक कमीशन की सिफारिशों के अनुसार भारत सरकार ने 'टैरिफ बोर्ड' की स्थापना की, जिसमें भारतीय सदस्यों को भी स्थान प्राप्त हुआ। इसके सिफारिशों के अनुसार लोहे और फौलाद के उद्योग-धन्धों को सहायता प्रदान कर उन्हें संरक्षण भी प्रदान किया गया, जिससे औद्योगीकरण की दिशा में यथेष्ट प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

१९३७ में प्रान्तीय स्वाधीनता प्राप्त होने पर लोकप्रिय सरकारों ने भी इस दिशा में गम्भीरतापूर्वक ध्यान दिया और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने पं० जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय योजना समिति की स्थापना की, पर दुर्भाग्यवश कोई विशेष कार्य करने के पूर्व ही द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। युद्ध की आवश्यकताओं से भी भारत के औद्योगिक विकास को बहुत बल प्राप्त हुआ। अस्त्र-शस्त्र गोला-बारूद, बिजली के तार तथा युद्ध की अन्य आवश्यक सामग्रियों के लिए सरकार ने विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धे स्थापित किए। द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के पश्चात् ६ अप्रैल १९४५ को सरकार ने अपनी नवीन आर्थिक नीति घोषित की, और यह स्पष्ट किया कि बड़े-बड़े उद्योग धन्धों, जैसे इंजन निर्माण के कारखानों, लोहा, कोयले की खानों, रासायनिक पदार्थों का उत्पादन करने के कारखानों तथा मशीन-पुर्जे रेडियो तथा जहाज निर्माण करने वाले कारखानों पर सरकारी नियंत्रण होगा। अन्य उद्योग धन्धों को स्वतन्त्र रूप से प्रारम्भ किए जाने की अनुमति प्रदान की गई। इस महत्वपूर्ण घोषणा का प्रभाव हितकर सिद्ध हुआ। इससे छोटे-मोटे उद्योग-धन्धों को प्रारम्भ करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। उद्योगधन्धों के अतिरिक्त आगे चल कर कृषि की स्थिति में भी पर्याप्त सुधार करने का प्रयत्न किया गया। भारत में वर्षा की अनिश्चित स्थिति के कारण प्रायः दुर्भिक्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी, और कृषकों की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो रही थी। सरकार ने कृषकों की स्थिति में सुधार लाने के लिए कृषि-कमीशन की नियुक्ति १९२६ ई० में की और अनेक नहरों का निर्माण किया। १९३९ ई० तक भारत में नहरों की लम्बाई कुल मिलाकर ३५,००० मील थी, जो उस समय विश्व में सबसे बड़ी नहर व्यवस्था थी, और उससे ३३ लाख एकड़ खेतों की सिंचाई होती थी।[1] पर भारत जैसे विशाल देश की यह स्थिति भी विशेष संतोषप्रद नहीं थी, वह विश्व में भले ही अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती हो। एक विचित्र बात यह थी कि कहाँ तो एक ओर कृषि-व्यवस्था में सुधार लाने के प्रयत्न किए जा रहे थे, दूसरी ओर जमींदारी प्रथा को भी प्रोत्साहन प्रदान किया जा रहा था। पहले उन्होंने जिन लोगों को माल-

गुज़ारी वसूल करने का उत्तरदायित्व सौंपा, वस्तुतः उनकी कोई अलग सत्ता न थी, और वे एक प्रकार से अंग्रेज़ों की सी ही मनोवृत्ति के लोग थे। उन्हें इतने प्रचुर-मात्रा में अधिकार प्रदान किए गए थे कि थोड़े ही दिनों में वे जमींदार हो गए। जमीन और उपज पर से लोगों का अधिकार समाप्त हो गया था। अब तक उस समूची जाति के लिए जो विशेष हित या विशेष स्वार्थ था, अब वह इस नए जमीन के स्वामी की निजी सम्पत्ति हो गई। इससे ग्राम जीवन के परस्पर सहयोग की व्यवस्था टूट गई और धीरे-धीरे सहयोगपूर्ण काम और सेवा की व्यवस्था भी गायब होने लगी।[1] भारतीय कृषि की स्थिति में सुधार लाने के लिए सबसे आवश्यक था कि कृषि की वैज्ञानिक प्रणाली का प्रचलन किया जाय और कृषि-शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार किया जाय। वैज्ञानिक प्रणाली पर कृषि को प्रोत्साहन देने के लिए सर्वप्रथम उल्लेखनीय प्रयत्न लॉर्ड कर्जन के समय में हुआ। सन् १९०४ ई० में पूसा में कृषि अनुसंधानशाला (इम्पीरियल इंस्टीट्यूट ऑव ऐग्रीकल्चर) की स्थापना की गई। लॉर्ड कर्जन ने ही १९०५ ई० में प्रथम बार उचित रूप से कृषि विभाग का पुनर्गठन किया तथा कृषि-विज्ञान की शिक्षा के लिए अनेक स्कूल खोले। इन सब सीमित सुधारों का लाभ यह हुआ कि नवीन वैज्ञानिक प्रणाली का उपयोग करने में धीरे-धीरे लोगों की हिचक समाप्त होती जा रही थी, और लोग कृषि की अवस्था सुधारने के लिए सजग हो रहे थे।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि गत ८० वर्षों में भारत में आर्थिक व्यवस्था में जो थोड़ा बहुत सुधार हुआ है, वह ब्रिटिश अधिकारियों के प्रोत्साहन देने के फलस्वरूप ही हुआ है।[2] वे ही देश के शासक थे और सारा नियन्त्रण भी उन्हीं के हाथों में था। उन्होंने जरा भी नियन्त्रण कम किया तो भारतवासियों ने औद्योगिक विकास का पूर्ण प्रयत्न किया। परिणाम-स्वरूप उस प्रगति की गति कितनी भी मंद क्यों न रही हो, धीरे-धीरे देश में आर्थिक क्रान्ति की लहरें उमड़ रहीं थीं और

१. पं० जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी, (१९४७), इलाहाबाद, पृष्ठ ३७४।

२. "The story of trade and industry of India in the last eighty years—the period of its close association with the British crown has been one of almost uninterrupted advance, marked primarily by the attainment of a world wide trade and in the present century by a determined effort to develop industry on modern lines. In both stages the British connexion has been vital. It rendered the first possible by the pacification opening and development of the country. It rendered the second possible by the accession of cheap capital, the force of example, and the creation of opportunity." सर जॉन कमिंग द्वारा सम्पादित : मॉडर्न इण्डिया : ए कोआॅपरेटिव सर्वे, (१९३१), लन्दन, पृष्ठ २८५।

भारतीय आर्थिक विकास एवं नवीन आर्थिक संगठन के प्रति प्रयत्नशील हो रहे थे, जिससे भारत का आर्थिक ढांचे के इस परिवर्तन में एक ऐसे मध्यम वर्ग का जन्म हुआ, जिस पर अंग्रेजी शिक्षा का सर्वाधिक प्रभाव था, और भारत की दासता की शृंखलाओं को छिन्न-भिन्न करने के लिए जो सर्वाधिक कटिबद्ध था।

परम्परा के प्रति असंतोष

ऊपर जिन नवीन परिस्थितियों का उल्लेख किया गया है, उनसे भारतीय जीवन का प्रभावित होना अवश्यंभावी था, जीवन जहाँ था, वहीं न रह सकता था भारतवासियों के विचारादर्शों, फलतः उनके व्यक्तित्व में परिवर्तन हुआ। वैसे तो ब्रिटिश अधिकारियों ने कभी भारत के वास्तविक कल्याण की बात नहीं सोची। वे जो कुछ भी परिवर्तन करते थे, उनमें उनका अपना निजी स्वार्थ निहित रहता था। कम्पनी यहाँ शासन करने नहीं, व्यापार करने आई थी। पर परिस्थितियों के चक्र ऐसे निर्मित होते गए, कि यहाँ उसका पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया। जब कम्पनी को यहाँ शासन भी करना पड़ा, तो उसकी नोच-खसोटों और लूटमार की प्रवृत्ति में और भी वृद्धि हो गई। इससे भारत की स्थिति और भी संकटपूर्ण हो गई, क्योंकि लूट-मार की जिस नीति का कम्पनी के अधिकारी अवलम्बन कर रहे थे, वह भारत के लिए नितान्त रूप से भी हित-प्रद न थी। एडम स्मिथ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "वेल्थ ऑव नेशन्स" (१७७६) में कदाचित् इसी तथ्य को ध्यान में रखकर कहा था कि एकमात्र व्यापारियों की कम्पनी का शासन कदाचित् किसी देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य होता है, और भारत को इस दुर्भाग्य से निकलने में वर्षों लग गए। कम्पनी के अधिकारियों के दमन एवं अत्याचार तथा देश का निर्माण करने के बजाय ध्वंस कर देने के कुचक्र की स्वाभाविक प्रतिक्रिया भारतीय जनता पर हुई, पर इस प्रतिक्रिया को क्रियात्मक रूप ग्रहण करने में वर्षों लग गए। ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के साथ ही जैसे भारतवासियों की नींद टूटी और उनमें अपने देश को इन विदेशियों के दमन और अत्याचार से मुक्त करने की भावना पनपने लगी। इसमें पश्चिम की प्रगतिशील भावना का भी यथेष्ठ प्रभाव पड़ा।[1] इसके अतिरिक्त जापान सदृश छोटे से राष्ट्र द्वारा शक्तिशाली रूस को पराजित करके अपने यहाँ वैधानिक राज्य-प्रणाली स्थापित करना, तथा टर्की के क्रान्तिकारी नेता मुस्तफा कमालपाशा द्वारा अपने यहाँ धार्मिक तथा सामाजिक रूढ़ियों को समाप्त कर प्रगति की ओर निरन्तर बढ़ते रहने का प्रयास आदि ने भारतवासियों में पर्याप्त उत्तेजना उत्पन्न कर दिया था, और उन्होंने अपनी परम्पराओं को तोड़ स्वाधीनता प्राप्त करने का प्रयत्न करना प्रारम्भ किया।

सन् १७७६ ई० में अमरीका की स्वाधीनता प्राप्ति भी इसी सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण घटना थी वहाँ अंग्रेजों ने अपने धर्म, अपनी शिक्षा को जबर्दस्ती लादने, लोगों को उनके अधिकारों से पूर्णतया वंचित करने, तथा निर्दयतापूर्ण अमानुषिक व्यवहार

---

१. जे० रेम्जे मैकडोनॉल्ड: द अवेकेनिंग ऑव इंडिया, (लंदन), पृष्ठ १०५।

करने की परम्परा को बनाए रखना।[1] पर यह स्थिति स्थायी न रह सकी, और वहाँ शीघ्र ही स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। भारत ने धीरे-धीरे जो करवट बदली, उस पर इन घटनाओं का बड़ा प्रभाव पड़ा। वास्तव में भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना मात्र इस कारण हुई कि वे बड़ी-बड़ी मशीनों और औद्योगिक संस्कृति के अग्रणी थे।[2] वे एक ऐसी ऐतिहासिक शक्ति के प्रतिनिधि थे, जो शीघ्र ही संसार में आमूल-चूल परिवर्तन लाने वाली थी। स्वयं अंग्रेज इससे अपरिचित थे कि वे परिवर्तन एवं क्रान्ति का नेतृत्व करने जा रहे हैं, और आने वाली नवीन संस्कृति और वातावरण की भूमिका निर्मित कर रहे हैं। वे तो केवल स्वार्थवश भारत में परिवर्तन करते जा रहे थे, पर उसी के साथ जाने-अनजाने उनके परिवर्तनों से भारत में नवीन चेतना का उदय हो रहा था, और रूढ़िवादी परम्पराओं के प्रति असंतोष उत्पन्न होता जा रहा था। उन्होंने शिक्षा प्रणाली में जो सुधार किए, भारत का जो नवीन आर्थिक संगठन किया, एवं वैज्ञानिक आविष्कारों का जो प्रचलन किया, उससे भारतवासियों को लाभ भी हुआ।[3] इससे उनके विश्वासों को बल प्राप्त हुआ, और अत्याचारों से संघर्ष करने की प्रेरणा तथा अपने को स्वाधीन करने की भावना को शक्ति प्राप्त हुई।

इसके परिणाम-स्वरूप जिस नयी चेतना का उदय हुआ, उससे भारतवासियों को नवीन प्रकाश प्राप्त हुआ, और तब उन्होंने अपने को जिस स्थान एवं स्थिति में पाया, उन्हें खेद ही नहीं घोर आश्चर्य भी हुआ, कि विश्व उन्हें कितना पीछे छोड़ आगे बढ़ गया है, और १९वीं शताब्दी में रहकर भी वे १५वीं शताब्दी सा पिछड़ा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। भारतवासियों की प्रगति में सबसे बड़ी बाधा उनकी अपनी जातीय, धार्मिक एवं सामाजिक परम्पराएं थीं, जो शताब्दियों से बिना किसी परिवर्तन के अपने मूल रूप में चली आती रहने के कारण अत्यन्त रूढ़ हो गई थीं। उन परम्पराओं का वैदिक काल अथवा पुराणों के काल में भले ही अत्यधिक महत्त्व रहा हो, पर आधुनिक युग में उनका कोई महत्त्व न रह गया था, तथा उनकी उपयोगिता समाप्त हो गई थी। उनमें पूर्णतया परिवर्तन आपेक्षित था, क्योंकि वे जिस रूप में वर्तमान थीं, उसके सम्मुख नवीन विचारों और प्रगतिशील भावनाओं के लिए

१. चार्ल्स ऐन्ड मेरी बेयर्ड: द राइज़ ऑव अमरीकन सिविलिजेशन, (१९२८), प्रथम भाग, पृष्ठ २९२।

२. पं० जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी, (१९४७), इलाहाबाद, पृ० ३८५।

३. "British rule, alone among the many dominions India has known in its tragic history, has placed the country on the road which leads alike to national integration and to national self-government."—एल० एफ० रश ब्रुक विलियम्स : ह्वाट एबाउट इण्डिया?, (१९३९), लन्दन, पृ० १६८।

कोई स्थान न था। यद्यपि शिक्षा के प्रसार से यह कल्पना की गई थी कि पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव ग्रहण करने के पश्चात् लोगों में प्रगतिशील भावनाएं घर कर जाएंगी,[१] पर बहुत दिनों तक यह विचार सम्भव न दृष्टिगोचर हुआ, उस प्रक्रिया को पूर्ण होने में पर्याप्त समय लगा।

विश्व के इतिहास के अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है कि किसी भी पराधीन देश में जब शिक्षा का पुनर्गठन हुआ है, आर्थिक व्यवस्था में उन्नति हुई है, नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रचलन हुआ है, तथा नवीन जागृति का प्रसार हुआ है, तो इनके परिणाम-स्वरूप वहाँ के जन-जीवन पर गहन प्रतिक्रिया हुई है, और उन देशों में भीषण क्रान्ति हुई है, जिसने उन देशों का रूप-विधान ही एक सिरे से परिवर्तित कर दिया। फ्रान्स की क्रान्ति, अमरीकी क्रान्ति, रूस की क्रान्ति, और स्वयं अंग्रेजों की ही औद्योगिक क्रान्ति, सभी इस कथन की पुष्टि करते हैं। पर भारत में अंग्रेजों की हठधर्मी, और कठोर नीति से ये परिवर्तन शीघ्र सम्भव न हो सके। इसका यह तात्पर्य न था कि जनता ब्रिटिश शासन से पूर्णतया संतुष्ट थी, अथवा वह कोई प्रगति नहीं चाहती थी, और अपने देश को विकासोन्मुख एवं अपने को सुखी तथा समृद्धिशाली नहीं बनाना चाहती थी। बात तो इससे भिन्न थी। जापान की रूस पर विजय तथा अमरीकी क्रान्ति के पश्चात् अंग्रेज पूर्णतया भयभीत हो गये थे। स्वयं भारत में ही १८५७ ई० की क्रान्ति से यह स्पष्ट हो चुका था कि जनता में असन्तोष की ज्वाला सुलगने लगी है, और अवसर प्राप्त होते ही वह अपना प्रचण्ड रूप प्रदर्शित करेगी। अतः ब्रिटिश सरकार ने पूर्ण शक्ति से जन-भावना को कुचलने और उसे आधुनिक युग से पूर्णतया वंचित रखने का प्रयास किया, जिससे भारत में उनकी स्थिति सुदृढ़ रह सके और जनता के समक्ष उन्हें असफल न होना पड़े। पर उन्हें अपने इस दुराग्रह में अधिक दिनों तक सफलता प्राप्त न हो सकी, और जनता में चेतना के विकास के साथ ही परम्परा के प्रति असन्तोष बढ़ता गया। वे सब उन परम्पराओं को समूल नष्ट कर समाज का रूप-विधान ही परिवर्तित कर देना चाहते थे, जिसके कारण वे पतन के इस गर्त तक पहुँच गये थे, और प्रगति की दौड़ में शताब्दियों पीछे हो गए थे। अतः आगे चलकर अनेक सुधारवादी आन्दोलनों का जन्म हुआ, जो इसी असन्तोष की प्रतिक्रिया स्वरूप थे, और जिनसे भारतीयों में पूर्ण चेतना का विकास हुआ। भारतवासियों की यह चेतना ही पुनरुत्थान के नाम से अभिहित की जाती है। इस पुनरुत्थान आन्दोलन

---

१. "It was assumed that when once the literate classes has been educated in Enlish, Western learning, of which the English was medium, would gradually 'filter down' to the masses—"
एल० एफ० रशब्रुक विलियम्स: व्हाट एबाउट इण्डिया ?, (१९३९), लन्दन, पृष्ठ ९२।

के अनेक पक्ष थे, किन्तु अन्य देशों की भाँति, भारतवर्ष में भी इस आन्दोलन के अन्तर्गत नारी की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन हुए बिना न रह सका।

सुधारवादी आन्दोलन और नारी की स्थिति

नवीन शिक्षा तथा वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप भारत में जिस चौमुखी जागृति और नवीन चेतना का विकास हो रहा था, धार्मिक रूढ़ियों का अतिक्रमण उसमें बाधा उपस्थित कर रहा था। भारत में समाज और धर्म के मध्य वस्तुतः कोई विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। यहाँ समाज का आधार धर्म ही है। परम्पराओं में लोगों का इतना मोह था, कि धार्मिक आडम्बरों में विश्वास न रखते हुए भी वे उनका पालन करते आ रहे थे। अतः इस कारण भी इस युग में अनेक सुधारवादी आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, और धीरे-धीरे धार्मिक रूढ़ियों में लोगों की आस्था कम होती गई। इसके पीछे कई तत्त्व क्रियाशील थे। पहली थी, पश्चिम की वह चुनौती, जो औद्योगिक क्रान्ति की भावना लेकर आई थी, इसमें मौलिकता का अंश अत्यधिक था। भारतवासियों का अपना एक जीवन था, और भौतिकता के पार्श्व में वे अपने अन्दर आध्यात्मिकता का जो भाव सन्निहित रखते थे, वह अन्य देशों में न था। अतः पश्चिम की इस चुनौती को स्वीकार कर लेने में उन्हें अपनी आत्मा की हत्या का भाव लक्षित हुआ। इससे पश्चिम के प्रति एक जबर्दस्त प्रतिक्रिया का भाव उत्पन्न हुआ, जिसे पूर्व और पश्चिम का संघर्ष भी कहा गया। यह वस्तुतः आध्यात्मिक क्षेत्र का संघर्ष था। स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि भारत की तत्कालीन, जीर्ण-शीर्ण सामाजिक अवस्था में आध्यात्मिकता का भाव कहाँ से उत्पन्न हुआ? भारत के शिक्षित वर्ग ने एक ओर तो पश्चिम के बढ़ते हुए प्रभाव को देखा, तथा दूसरी ओर अपने देश में सर्वत्र निविड़ अन्धकार की छाया व्याप्त देखी। नैराश्य एवं दैन्य की उस विषम परिस्थिति में उन्हें भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के लुप्त हो जाने की पूर्ण सम्भावना लक्षित हुई और इसकी कल्पना मात्र से ही वे चिंतित हो उठे। अतः इस अन्धकार को मिटाने के लिए उन्होंने एक ऐसे भारतीय शास्त्र का स्वरूप निश्चित किया, जो भारतीय शिक्षित वर्ग को तो मान्य हो ही, पश्चिमी जगत भी उसे मान्यता प्रदान करे। अर्थात् धर्म का ऐसा रूप प्रतिष्ठित हो, जो रूढ़ पौराणिकता और आडम्बर विहीन हो। यह धर्म का स्वरूप उपनिषदों के धर्म में खोजा गया, जो आज भी प्रचलित है। यह वही धर्म था जिसे शंकराचार्य ने बौद्धों को परास्त करने के लिए प्रयोग किया था। अतः उस युग में जो धार्मिक सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुए, उनका एकमात्र उद्देश्य परम्परागत रूढ़ियों को समाप्त कर धर्म का एक सर्वसम्मत स्वरूप उपस्थित करने का था, जो शिक्षित वर्ग के आडम्बर मुक्त, परम्परागत एवं अनावश्यक रूप से कठिन होने के आरोपों से मुक्त हो।

उन्नीसवीं शताब्दी का सर्वप्रथम धार्मिक सुधार आन्दोलन ब्रह्म समाज (१८२८) के नाम से विख्यात है। इसके प्रवर्त्तक राजा राम मोहन राय (१७७४-

१८३३) थे, जिनमें अद्वितीय प्रतिभा थी और जो स्वयं संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान थे।[3] उन्होंने बहु-विवाह, छुआ-छूत तथा मूर्ति-पूजा आदि का प्रबल विरोध किया, क्योंकि प्राचीन हिन्दू धर्म तथा उपनिषदादि ग्रन्थ इसका अनुमोदन नहीं करते। उन्होंने वैदिक हिन्दू धर्म को अत्यन्त सरल, सम्पूर्ण और युक्ति संगत बताया। उस समय भारतीय जनता पर ईसाई धर्म का प्रभाव गहरा पड़ता जा रहा था। राजा राम मोहन राय इसका विरोध कर हिन्दू जनता को उसके धर्म और उत्तरदायित्व के प्रति सचेत किया। उन्होंने सबसे बड़ी क्रान्तिकारी[4] बात विधवा विवाह पर जोर देकर किया। उस समय भारतीय समाज में विधवाओं की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। समाज उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखता था। उनका कोई आर्थिक आधार न था, और पति की मृत्यु के पश्चात् या तो उन्हें सती होने के लिए बाध्य किया जाता था, अथवा उन्हें दासी सदृश जीवन व्यतीत करना पड़ता था। कभी-कभी उनके साथ सामाजिक दुर्व्यवहार इतना बढ़ जाता था कि उनमें से अधिकांश आत्महत्याएं कर लेती थीं अथवा वेश्या-वृत्ति अपना लेती थीं। राजा राम मोहन राय ने इसकी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया और विधवा विवाह की आवश्यकता पर बल देते हुए उनका जीवन सुधारने का प्रयास किया। यह उन्हीं के आन्दोलन का परिणाम था कि लार्ड विलियम बेंटिक ने सती प्रथा पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। नारी की स्थिति की शोचनीयता से राजा राम मोहन राय बहुत असंतुष्ट थे और वे अपने समाचार पत्रों के माध्यम से बराबर लोगों को नारियों की स्थिति सुधारने की आवश्यकता पर बल देते रहते थे। दुर्भाग्यवश ब्रह्म समाज की स्थापना के कुछ ही वर्ष पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई, और उनके देहान्त के साथ ही ब्रह्म समाज में दरार उत्पन्न हो गई। वह दो वर्गों में विभाजित हो गया। एक वर्ग के संचालक श्री देवेन्द्र नाथ टैगोर (१८१७-१९०५) थे, जो कट्टर हिन्दू थे और जाति-प्रथा के तोड़ने में अधिक विश्वास न रखते थे। दूसरे वर्ग का नेतृत्व श्री केशव चन्द्र सेन (१८३८-१८८४) कर रहे थे, जो ईसाई धर्म के अत्यन्त प्रशंसक थे।

इसी समय एक दूसरे शक्तिशाली आन्दोलन का सूत्रपात १८७५ ई० में स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३) के नेतृत्व में हुआ। यह आन्दोलन आर्य समाज आन्दोलन था, जिसका हिन्दी से घनिष्ठ सम्बन्ध था। स्वामी दयानन्द गुजरात के थे, और उन्होंने जाति भेद, विधवा विवाह के प्रचलन और सम्मिलित खान-पान पर बल प्रदान किया। आर्य समाज आन्दोलन आत्मिक शुद्धि पर अधिक बल देता था, और लोगों में स्वदेश प्रेम, आत्म-गौरव, जातीय धर्म निष्ठा और परम्परागत

रूढ़ियों को समाप्त करने की भावना का संचार कर रहा था[1]। वेदों के समय के पश्चात् अन्य जो बातें आर्य-धर्म पर आरोपित की गई थीं, और जिनके परिणाम-स्वरूप वह आडम्बरयुक्त, कठिन और लोकप्रिय (शिक्षित वर्ग में) हो रहा था, आर्य समाज आन्दोलन उनका निराकरण कर आर्य-धर्म को ऐसा स्वरूप प्रदान करना चाहता था, जिससे वह हर दृष्टिकोण से प्रगतिशील, सरल एवं आडम्बरहीन धर्म के रूप में सभी वर्गों में लोकप्रिय हो सके। उन्होंने वेदों की नये ढंग से व्याख्या प्रस्तुत की, तथा सत्य को ग्रहण करने और असत्य का त्याग करने, अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि पर जोर दिया। आर्य समाज आन्दोलन ने नारियों के कल्याण के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए। भारत में नारियों की स्थिति गिरती जा रही थी। ऋग्वेद-काल में विवाह संस्था वर्तमान थी। उस काल में नारियाँ पश्चिम की भाँति उपेक्षणीय नहीं, वरन् अपने पति की अर्द्धांगिनी और गृहस्वामिनी होती थीं। उनका पति के धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में समान अधिकार था, और दोनों के एक दूसरे के प्रति अनेक कर्त्तव्य थे, जिससे "दम्पति" शब्द की सार्थकता सिद्ध होती थी। नारियों को वेदों के अध्ययन का भी अधिकार प्राप्त था, और वे स्वतन्त्र उपासना भी कर सकती थीं। शिक्षा के संबंध में उन पर कोई नियन्त्रण न था। वे अपनी इच्छानुसार या तो विवाह तक या विवाहोपरान्त जीवन पर्यन्त अध्ययन कार्य में व्यस्त रह सकती थीं। यद्यपि पुत्र-जन्म पर माता-पिता को अपार प्रसन्नता होती थी, पर इस बात का उल्लेख नहीं प्राप्त होता कि पुत्री जन्म पर उन्हें दारुण दुख हो, या वे उनके साथ अमानुषिक व्यवहार करते हो।

पर वैदिक काल के पश्चात् यह स्थिति न रह सकी, और वह गिरती गई। धर्म सूत्रों और स्मृतियों ने बाल-विवाह की अनुमति दे दी, और नारियों की शिक्षा केवल साधारण रूप से पढ़ लिख लेने तक ही सीमित रह गई। उन्हें धार्मिक संस्कारों में भाग लेने के अधिकार से भी वंचित होना पड़ा। उन्हें पढ़ने लिखने का अवसर प्राप्त ही न होता था, जिससे वे वेदादि का अध्ययन न कर पाती थीं, इसलिए उन्हें अज्ञान से परिपूर्ण शूद्रों के समान स्वीकार कर लिया गया। बाल-विवाह के कारण नारियों को अपने पति चुनने का अवसर ही न मिलता था, जिससे दोनों में पारिवारिक स्तर पर परस्पर सामंजस्य न स्थापित हो पाता था। उसका दुष्परिणाम हुआ, नारियाँ केवल अपनी पति की आज्ञा का पालन करने में अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझने लगीं और उनमें स्वतः ही पति की दासता का भाव जड़ पकड़ने लगा। मध्यकाल में ६०० ई० से १८०० ई० तक) नारियों की स्थिति में और भी पतन हुआ। इस काल में धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों की ओर नारियाँ अधिक प्रवृत्त हुई। शिक्षा की कमी के कारण उनकी चेतना शक्ति और ज्ञान मार्ग का भी

१. सर पी० जी० ग्रिफिथ : द ब्रिटिश इम्पैक्ट ऑन इण्डिया, (१९५२), लंदन, पृष्ठ २५२-२५३।

धाराओं का समन्वय कर धर्म का वह रूप प्रस्तुत किया जो सरल था, आडम्बरहीन था, और सभी को मान्य था। साम्प्रदायिक तत्वों के वे प्रबल विरोधी थे और उन्होंने कभी भी धार्मिक कट्टरता पर बल नहीं दिया। उन्होंने अछूतों से घृणा न करने पर बल दिया और उनके पतित समझे जाने वाले जीवन में भी गरिमा की स्थापना की।

एक अन्य धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलन थियोसाफिकल सोसाइटी ने चलाया, जिसकी स्थापना कर्नल अल्काट और ब्लैवटस्की ने ७ दिसम्बर १८५७ को न्यूयार्क में की थी। भारत में उनका पहला केन्द्र (१८७५) मद्रास में खोला गया था। थियोसाफिकल सोसायटी ने सभी धर्मों की मौलिक सत्यता में अपनी आस्था प्रकट की। उसमें बौद्ध तथा हिन्दू धर्म को सत्य का सर्वाधिक उत्तम रूप मान उन्हें विशेष गरिमा प्रदान की। इसने जाति-भेद, ऊँच-नीच, भेद-भाव आदि को मिटाकर समाज में प्रगतिशीलता लाने का प्रयत्न किया। इस सोसाइटी में श्रीमती ऐनी बेसेंट सदृश महिलाएं थीं और उन्होंने हिन्दू नारियों के समक्ष ऊंचे आदर्श प्रस्तुत कर नारियों को रूढ़ियों और आडम्बरों को समाप्त कर उनमें नवीन चेतना संचार तथा उन्हें उनके वास्तविक उत्तरदायित्व एवं कर्त्तव्य के प्रति सचेत किया। इस समाज ने सहिष्णुता का प्रचार कर भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की गौरवपूर्ण बातों को नए सिरे से प्रस्तुत कर आत्मगौरव की भावना के उदय का प्रयत्न किया।

स्वामी रामकृष्ण जी की मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द (नरेन्द्रनाथ दत्त, १८६२-१९०२) ने रामकृष्ण-मिशन की स्थापना की और सेवा भाव की वृद्धि में सहायता प्रदान की। उन्होंने वेदांत-दर्शन के अद्वैतवाद पर अधिक बल दिया, क्योंकि उनकी विचार-धारा में प्रगतिशील मानव जाति के लिए आगे चल कर सिर्फ वेदांत-धर्म ही कल्याणकारी हो सकता था। इसका कारण यह था कि वेदांत केवल आध्यात्मिक ही नहीं, तर्क-संगत भी था, और साथ ही उसका विश्व के वैज्ञानिक आविष्कारों से सामंजस्य भी था[1]। उनके अनुसार इस विश्व का सृजन किसी विश्वोपरि ईश्वर ने नहीं किया। वह स्वयंभू, स्वयं संहारक, स्वयं-पोषक एक अनन्त अस्तित्वपूर्ण ब्रह्म है। "वेदांत का आदर्श, आदमी की एकता और उसकी सहज दैवी प्रकृति का था, मानव में ईश्वर दर्शन ही सच्चा ईश्वर दर्शन है, प्राणियों में मनुष्य सबसे बड़ा है, लेकिन अदृश्य वेदांत को दैनिक जीवन में सजीव-काव्यमय, हो जाना चाहिए, बेहद उलझी हुई पौराणिक गाथाओं में से निकलकर उसका साथ नैतिक रूप सामने आना चाहिये और रहस्यपूर्ण योगीपने के भीतर से एक वैज्ञानिक और अमल, मनोविज्ञान सामने आना चाहिये[2]।" वेदांत-दर्शन में आस्था रखने वाले धर्मप्रचारकों ने भारत के शिक्षित नवयुवकों को अत्यधिक प्रभावित किया। उन्होंने आत्म-निर्माण और स्वावलम्वी होने पर बल दिया तथा हिन्दू संस्कृति का पोषण

१. पं० जवाहर लाल नेहरू: हिन्दुस्तान की कहानी, (१९४७), इलाहाबाद, पृ० ४१७।
२. वही, पृ० ४१७।

किया। वर्णगत भेद-भाव को मिटाने, विचारों की संकीर्णता समाप्त कर व्यापक पृष्ठभूमि पर अपनी तर्कशक्ति का विकास करने, स्वदेश के अतीतकालीन गौरव का स्मरण कराकर स्वाधीन बनाने की दिशा में सम्मिलित रूप से प्रयत्न करने पर अत्यधिक बल दिया। स्वामी विवेकानन्द ने जनसाधारण को अधिक महत्ता प्रदान की और उच्च वर्ग के लोगों को नैतिक एवं भौतिक दोनों दृष्टिकोणों से प्राण-हीन समझा। उन्होंने मानव की दुर्बलता को पाप बताकर अंधविश्वास एवं जादू दोनों की निन्दा की।

एक अन्य सामाजिक सुधार आन्दोलन प्रार्थना-समाज की स्थापना १८६७ में बम्बई में हुई थी। इसके प्रमुख नेताओं में रानाडे (१८४२-१९०१) तथा एन० जी० चन्द्रवर्कर (१८५५-१९२३) आदि भी थे, जो अपनी अद्वितीय प्रतिभा और समाज सेवा के कारण ख्याति अर्जित कर चुके थे। मुसलमानों में जागृति का कार्य सर सैयद अहमद (१८१७-१८१८) प्रमुख रूप से कर रहे थे। उन्होंने मुसलमानों में प्रचलित पर्दा-प्रथा की कठोर निन्दा की और वैज्ञानिक विचारों तथा इस्लामी धर्म में समन्वय करने की चेष्टा की, जिससे इस्लामी धर्म से भी रूढ़ियाँ समाप्त हो जाएं। उन्होंने मुसलमानों में शिक्षा का प्रसार किया, विशेष रूप से लड़कियों की शिक्षा का प्रचार किया। सर सैयद के अतिरिक्त जौनपुर के मौलवी करामत अली (मृत्यु १८७३) भी इसी प्रकार के सुधार कार्य में संलग्न थे। मौलवी चिराग अली (लगभग १८४४-१८९५) ने मुसलमानी लड़कियों की शिक्षा पर बल देते हुए उन्हें ऊँची शिक्षा प्राप्त करने की अनुपम प्रेरणा प्रदान की। मौलाना शिबली नूमानी (१८५७-१९१४) ने पर्दा-प्रथा के समाप्त करने एवं मुस्लिम नारियों को सामाजिक तथा राजनीतिक सम्मान प्रदान करने के हेतु अथक परिश्रम किया।

इन देशी आन्दोलनों के अतिरिक्त भारतीय नारी की स्थिति को यूरोपीय विचारधारा ने भी प्रभावित किया। धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलनों, और पाश्चात्य विचारधारा के प्रभाव के कारण नारियों की स्थिति में सुधार लाने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान प्राप्त हुआ। अभी तक भारत पूर्णतया पिछड़ा हुआ देश था, जिसमें धार्मिक अन्धविश्वास, वर्णगत भेद-भाव, ऊँच-नीच, सम्मिलित खानपान, अशिक्षा और नारियों की दयनीय स्थिति आदि विभिन्न प्रकार के सामाजिक अभिशाप अपने भीषण रूप में व्याप्त थे। इस नवीन चेतना ने समाज को नवीन प्रेरणा दी और प्रगति की ओर अग्रसर होने का आह्वान किया। इससे जनता में परम्परा के प्रति मोह जाता रहा, और नवीन शिक्षा, नवीन विचारधारा एवं वैज्ञानिक आविष्कारों को अपनाने में जो हिचक थी, वह समाप्त हो गई, और जागरण आन्दोलन में सर्वाधिक लाभ भारतीय नारियों को हुआ। अभी तक वे अत्यन्त उपेक्षिता थीं एवं शिक्षा तथा नवीन विचारधारा से वंचित केवल भोग की सामग्री और परिवार पालन का उत्तरदायित्व वहन करने वाली मात्र ही समझी जाती थीं। शिक्षा का प्रचार न होने से न उन्हें अपने अधिकारों का ज्ञान था, न उन्हें अपनी

वास्तविक परिस्थिति का परिचय ही था। उन्हें समाज में कोई विशेष प्रतिष्ठा भी प्राप्त न थी और न राजनीति के क्षेत्र में उनका कोई सहयोग ही था। पर इन धार्मिक सुधार आन्दोलनों ने नारियों की स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया, और घर की चार दीवारी में बन्द रहने वाली निर्जीव गठरियों ने प्रथम वार नवीन प्रकाश के अन्तर्गत अपने वास्तविक लक्ष्य की ओर चरण बढ़ाया। उनके धर्मगत आडम्बरों और भय में कमी हुई तथा धीरे धीरे उनमें आत्म विश्वास और सजगता की वृद्धि हुई।

अस्तु ५०-६० वर्षों के अन्दर ही उस दृढ़ धारणा में पर्याप्त मात्रा तक परिवर्तन हुआ जिसके अंतर्गत लड़कियों का बाल-विवाह कर दिया जाता था, और उनका एकमात्र कार्य संतानोत्पत्ति ही समझा जाता था। बाद में नारियाँ वकालत के क्षेत्र, राजनीतिक क्षेत्र, डाक्टरी के क्षेत्र, सामाजिक क्षेत्र और शिक्षा के क्षेत्र में सफलतापूर्वक प्रवेश करने लगीं, और अपनी प्रखर चेतना-शक्ति, सूझ-बूझ और तर्क-शक्ति का परिचय देने लगीं। उनमें पुरुषों से होड़ की प्रवृत्ति हो गई, वे किसी भी क्षेत्र में पुरुषों से पीछे नहीं रहना चाहती थीं। पर पारिवारिक और मातृत्व सम्बन्धी शिक्षा देने वाले स्कूलों की इस युग में बहुत कमी थी। डेनमार्क, चेकोस्लोवाकिया तथा जर्मनी आदि देशों में लड़कियों के लिये इस प्रकार के अलग स्कूल थे, जिन में भोजन बनाने, कपड़ा धोने, परिवार सम्भालने तथा बच्चों की स्वास्थ्य-रक्षा आदि पर साप्ताहिक या सप्ताह में दो अथवा तीन कक्षाएं होती थीं[1]। भारत में १९४७ ई० तक इस प्रकार के स्कूल नाम-मात्र को ही थे, इसी कारण शिक्षा के प्रसार के बावजूद भी लड़कियां वह आवश्यक शिक्षा नहीं प्राप्त कर पाती थीं, जो उनके लिये सर्वथा अनुकूल थीं, और जो पुस्तकीय शिक्षा के साथ अत्यन्त आवश्यक भी थी, जिससे उनके व्यक्तित्व का चतुर्दिक विकास संभव हो सकता।

विदेशों में नारियों की स्थिति में सुधार लाने के अनेक प्रयत्न हो चुके थे। फ्रेंच क्रान्ति के साथ ही समस्त यूरोप में सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में नवोन्मेष की भावना प्रकट हो रही थी। राजनीतिक और सामाजिक मान्यताएं नये प्रतिमान स्थापित करने लगीं और रूप-विधान में परिवर्तन होने लगा। समस्त १९वीं शताब्दी में पश्चिमी चेतना सामूहिक रूप से सामाजिक और राजनीतिक नवनिर्माण के महत्ती उत्तरदायित्व को पूर्ण करने में संलग्न हो गई।[2] स्वाभाविक था कि वहाँ उस नारी की स्थिति में परिवर्तन लाने का भी प्रयास किया जाता, जो अभी तक "मृत्यु का द्वार" अथवा केवल भोग की सामग्री समझी जाती थीं। उनमें शिक्षा के प्रति उदासीनता थी, और शिक्षा जो भी दी जाती थी, केवल अपने को आकर्षक बनाने मात्र के प्रयोजन के लिए। आश्चर्य तो तब होता है, जब रूसो जैसे महान्

१. वाई एम०रीग : व्हीदर वुमन ?, (१९३८), बम्बई, पृष्ठ २४०-२४१।
२. एच० जी० वेलस : आउट लाइन्स आव हिस्ट्री, (१९२०), लन्दन, पृष्ठ ५०६।

प्रतिभाशाली व्यक्ति भी नारी की उस शिक्षा का समर्थन करते थे, जिसके अनुसार वे पुरुषों को अपनी ओर अधिकाधिक रिझा सकें और उनका जीवन सुखी एवं सम्पन्न बना सकें।[1] उस काल में यदि नारी अधिक सौन्दर्यपूर्ण हुई, तो उसका जीवन सुख संतोषपूर्ण होता था। पर यदि दुर्भाग्य से ऐसा नहीं होता था, तो उसका जीवन अत्यन्त करुणा-प्रद और कष्टपूर्ण हो जाता था। नारी हेय है, अबला है, इसलिए उसकी रक्षा की जानी चाहिये और शरण दी जानी चाहिए—यह धारणा उस समय समाज में व्याप्त थी। उस समय के उपन्यासों से यह प्रकट होता है कि नारी का सर्वप्रथम गुण सुन्दर होना और अच्छा भोजन पकाना ही समझा जाता था। हेनरी फिल्डिंग (Henry Fielding) के प्रसिद्ध उपन्यास" An old Man Taught Wisdom" की नायिका लूसी इसी भावना को पुष्ट करती है। नारियों की महत्वाकांक्षाएं, उनके अधिकार आदि विदेशी शब्द समझे जाते थे। पर यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं बनी रही, और एक महिला मेरी वाल्स्टन क्रैफ्ट ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "ए विन्दिकेशन आव दी राइट्स आव विमेन" (१७९२) में नारियों पर होने वाले सामाजिक अत्याचारों और उनकी होने वाली उपेक्षा की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया तथा उनमें परिवर्तन लाने की आवश्यकता पर बल दिया। इसका प्रभाव चिन्तकों एवं विचारकों पर पड़ा तथा वे नारियों की स्थिति में परिवर्तन लाने को कृत-संकल्प हो गए। न्यूजीलैंड में १८९३ में तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया में १८९४ में स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त हुआ, जिससे नारी सुधार आन्दोलन को और भी बल प्राप्त हुआ, इसके पश्चात् युद्धकाल में अस्पतालों एवं रेडक्रास केन्द्रों में नारियों ने घायलों की अथक परिश्रम से सेवा की। इसका प्रभाव भी अच्छा ही पड़ा। धीरे-धीरे अस्पतालों में नर्सों की जगहें नारियों को मिलने लगीं। नारी शिक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन की आवाज उठाई गई शारलट पर्किन्स गिलमैन की प्रसिद्ध पुस्तक "वूमन एन्ड इकोनोमिक्स" में यह माँग की गई है कि नारियाँ पुरुषों की बराबरी प्रत्येक क्षेत्र में कर सकती हैं। उनके अनुसार नारियों में पुरुषों के समान ही बुद्धि, कार्य करने की प्रवृत्ति और उत्तरदायित्व वहन करने की क्षमता है, अतः उन्हें वही शिक्षा दी जानी चाहिये, जो पुरुषों को दी जाती है। इस प्रकार पुरुषों के समान अधिकारों की मांग को १९वीं शताब्दी में यथेष्ठ बल मिला और नारियों की स्थिति में आशातीत परिवर्तन हुआ। वे सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण से उपेक्षणीय न रह सकीं, और रचनात्मक कार्यक्रमों में वे भी उतना ही भाग लेने लगीं, तथा निर्माण के उत्तरदायित्व को उसी रूप में ग्रहण करने लगीं, जिस रूप में पुरुष वर्ग। वे अच्छी नौकरियों में स्थान प्राप्त करने लगीं, उच्च-पद ग्रहण करने लगीं, और अपने देश की राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण भाग लेने लगीं। वे अब केवल सौन्दर्य अथवा उपभोग की सामग्री मात्र न

---

१. रूसो : एमिली : (बारबो फाक्सले कृत अनुवाद), पृ० ३२८, (रीम की पुस्तक २३९ से उद्धृत)।

रह सकी, अपितु सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में पुरुषों से कन्धे-से-कन्धा मिला कर चलने लगीं।

वास्तव में नवीन चेतना ने भारतीय नारी आन्दोलन को अनुपम प्रेरणा प्रदान की। उससे भारतीय नारी में नवीन जीवन एवं स्फूर्ति का संचार हुआ। भारतीय नारियों की जागृति की दिशा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना भारतीय राजनीति में डा० ऐनी बेसेन्ट का प्रवेश था। सन् १९१४ ई० में इन्होंने मद्रास में "भारत जागो" शीर्षक से एक भाषण दिया था,जिस भारतीय नारियों से अपनी दासता समाप्त करने, अपनी अशिक्षा समाप्त करने बाल-विवाह न करने और निम्न जातियों को सम्मानित स्थान प्रदान करने की अपील की गई थी। इससे समस्त देश में उत्साह की नई लहर दौड़ गई। मई १९१७ में प्रथम महिला संघ की स्थापना की गई, जिसमें प्रत्येक विचारधारा की महिलाओं की सदस्यता स्वीकृत की गई थी। इस संस्था में भारत के कल्याणकारी कार्यों में सहायता प्रदान करने के लिए महिलाओं का एक दल निर्मित किया। डा० ऐनी बेसेन्ट की अध्यक्षता में "वीमेन्स इन्डिया एसोसियेशन" ने धर्म और निरपेक्षता को अपनी सेवा का आधार बनाया। न वह धर्म की अवहेलना करना चाहता था और न उसके रूढ़ रूप को स्वीकार ही करना चाहता था। वह धर्म के आडम्बर को समाप्त कर उसे उदार एवं उपयोगी बनाने पर बल दे रहा था, ताकि नारियों के अन्ध-विश्वास और धार्मिक आडम्बर समाप्त हो सकें और वे प्रगति-शीलता के पथ पर अग्रसर हो सकें। १९२०-३० के मध्य इस संस्था की कुल ८७ शाखाएं खोली गई, जिनसे नारी जागरण में बड़ी सहायता प्राप्त हुई।

एक अन्य संस्था "यंग वीमेन्स क्रिश्चियन एसोसियेशन" की शाखाएं भी सारे भारत में तेजी से खोली जा रही थीं। यह महिलाओं का ऐसा वर्ग निर्मित कर रहा था, जो "संयुक्त भारत" को सम्पूर्ण विश्व के व्यापक सन्दर्भ से सम्बन्धित कर जागरण कार्य के प्रवृत्त हो रहा था। "दी नेशनल लिबरल एसोसियेसन" में वे पुरुष और नारी, जो विशेष रूप से अधिकारी वर्ग से सम्बन्धित थे, सदस्य थे, ब्रह्म समाज की नारी शाखा अन्य स्थानों की अपेक्षा बंगाल में अधिक सक्रिय थी। पूना और बम्बई के "सेवासदन" और "भारत स्त्री महामण्डल" भी इसी प्रकार की संस्थाएं थीं, जिन्होंने प्रायः समान रूप से सारे देश में एकता का सूत्र स्थापित कर नारियों की स्थिति में पर्याप्त मात्रा तक सुधार करने का अथक प्रयत्न किया। १८ दिसम्बर १९१७ को श्रीमती सरोजिनी नायडू के नेतृत्व में चौदह महिलाओं का एक प्रतिनिधि मण्डल मद्रास में वायसराय तथा इंगलैंड में भारतीय सचिव ई० एस० मांटेगय (E. S. Montague) से मिला। इस प्रतिनिधि मण्डल में देश के विभिन्न भागों से महिलाएं सदस्य थीं और उन्होंने अपने विवरण पत्र में यह अनुरोध किया उन्हें शिक्षा की अधिक अच्छी और विकास प्राप्त सुविधाएं, स्वास्थ्य एवं अस्पताल की अच्छी सेवाएं और पुरुषों के समान ही मताधिकार प्रदान किए जाने चाहिएं। यह भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना थी और मताधिकार के लिए यह नारियों की प्रथम

सम्मिलित माँग थी ।[1] इन माँगों के स्वीकृत होने से भारतीय नारियों के जागरण की दिशा में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई । इस प्रकार क्रमशः १९२१ में मद्रास विधान परिषद् में तथा बिहार परिषद् में १९२१ में नारियों तथा पुरुषों को समान मताधिकार प्रदान किया गया ।

मताधिकार के अतिरिक्त एक अन्य समस्या १९१७ ई० के प्रारम्भ से ही सुलझाई जाती रही । यह समस्या नारियों को स्वास्थ्य रक्षा एवं बच्चों के स्वास्थ्य की ओर ध्यान देने की थी । रेड-क्रास ने इसी प्रकार की एक संस्था "आल इंडिया-मेटर्निटी एन्ड चाइल्ड वेलफेयर एसोशियेशन" संगठित किया और इसके माध्यम से प्रत्येक वर्ष स्वास्थ्य सप्ताह आयोजित करता रहा, जिससे नारियों में अच्छे स्वास्थ्य की भावना का उदय हुआ और वे स्वयं अपने तथा बच्चों की स्वास्थ्य रक्षा की ओर प्रवृत्त हुई । लड़कियों की बालचर संस्था ने भी नारियों की जागृति की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया । इन सब से घर की चार दीवारी के बाहर आकर सुदृढ़ सामाजिक जीवन के निर्माण एवं उसकी उपयोगिता समझने का नारियों को अवसर प्राप्त हुआ, तथा साथ ही कुछ सीमा तक कट्टर एवं रूढ़िवादी अभिभावकों की मनोवृत्ति में परिवर्तन हुआ, और वे अपनी लड़कियों की प्रगति एवं शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ उदार नीति का पालन करने लगे । इस दिशा में महिला संगठनों का महत्वपूर्ण योगदान प्राप्त हुआ । दिन-पर-दिन देश के प्रत्येक भाग में अनेक नारी संस्थाओं का जन्म होने लगा जो नारियों को उनके सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों के प्रति सचेत करने लगीं और उन्हें नवीन चेतना, तथा नवीन विचारों से पल्लवित करने लगीं । अक्टूबर १९२६ में अखिल भारतीय महिला कान्फ्रेंस हुई जिसने तीव्रता से प्रगति की ओर अग्रसर होती हुई नारियों की परिवर्तित परिस्थितियों की सूचना दी । इसके पश्चात् बेथून कालेज कलकत्ता की एक सभा में बंगाल के शिक्षा इंस्पेक्टर ने नारियों से स्पष्ट रूप से कहा कि वे बिना किसी हिचक के देश के सम्मुख ऐसी योजना उपस्थित करें जिसमें उनकी मनोवांछित शिक्षा के स्वरूप का परिचय प्राप्त हो सके । उन्होंने पुरुषों के हाथों में महिला शिक्षा का स्वरूप निर्धारित न करने की भी चेतावनी दी ।

अतः यह स्पष्ट है कि भारत में नारी उत्थान के जो प्रयत्न हुए उन पर स्वयं भारत में विकसित होने वाली चतुर्दिक राष्ट्रीयता, नवीन चेतना और नारी शिक्षा के क्रमशः विस्तार का प्रभाव तो पड़ा ही था, साथ ही वे पश्चिमी देशों में होने वाली इसी प्रकार के प्रयत्न से कम प्रभावित नहीं थे । भारत के आन्दोलनों ने इन पश्चिमी आन्दोलनों की दुर्बलताओं और असफलताओं से लाभ उठाया, और इसी कारण भारत में नारी सुधार आन्दोलनों को आशातीत सफलता प्राप्त हुई । इसके अतिरिक्त जब भारतीय राजनीति का संचालन महात्मा गांधी के हाथों में

---

१. मार्ग्रेट ई० कजिन्स : इन्डियन वुमनहुड टुडे, (१९४१), इलाहाबाद, पृष्ठ ३३ ।

आया तो उन्होंने नारियों की जागृति की ओर विशेष ध्यान दिया। महात्मा गांधी ने बराबर नारियों की प्रगति को जोरदार दलीलें उपस्थित कीं और रूढ़ परम्पराओं को समाप्त कर उन्हें प्रगति की ओर चरण बढ़ाने के लिए प्रेरित किया।

पाश्चात्य-शिक्षा ने ही नारी की पारिवारिक स्थिति तथा सामाजिक परम्पराओं की स्थिति में अनेक परिवर्तन उपस्थित कर दिये थे। नारी संगठनों में नारियों की दयनीय स्थिति का गहन अध्ययन कर उन्हें इस संकटपूर्ण स्थिति से ऊपर उठाने में पूर्ण प्रयास किया। परिणामस्वरूप स्थिति परिवर्तित होती गई और नारियाँ सीमित दायरे से निकल प्रगति की ओर अग्रसर होने लगीं।[1] नारियाँ अब बन्धन में नहीं रहना चाहती थीं। पुरुषों की भाँति वे भी राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष में समान भाग लेना चाहती थीं और समाज को प्रगति की चरम सीमा तक ले जाने में अपना हाथ बटाने की उत्कट लालसा उनमें जन्म ले रही थी। वे उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहती थीं। राजनीति के क्षेत्र में गाँधी जी के उदय ने नारियों को सहज ही उनके अधिकार दिला दिये। उन्हें कोई विशेष संघर्ष नहीं करना पड़ा, जिस प्रकार कि पश्चिमी देशों की नारियों को करना पड़ा था। गांधी जी ने जो असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया था, उसमें इन्हीं "पिछड़ी" हुई नारियों ने पुलिस के दमन-चक्र का साहसपूर्वक सामना किया। गाँधी जी का आन्दोलन मात्र राजनीतिक ही नहीं था, वरन् वह भारत के समग्र जीवन को अपने में समेटे हुए था। इसी प्रकार पारिवारिक परिस्थितियों में भी परिवर्तन उपस्थित हुआ। अभी तक भारत में सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा प्रचलित थी, पर ज्यों-ज्यों भारत की आर्थिक परिस्थिति शोचनीय होने लगी, सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा भी त्यों-त्यों विच्छिन्न होने लगी। दूसरी ओर अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के कारण भारतवासियों में एक व्यक्तिवादी दृष्टिकोण उपस्थित होने लगा था। जाति-प्रथा भी क्षीण होने लगी थी और बाल-विवाह की प्रथा भी धीरे-धीरे समाप्त होने लगी। यह आश्चर्य का विषय है कि आधुनिक युग में इतना परिवर्तन होने के बावजूद भी पर्दे की प्रथा पूर्ण रूप से समाप्त न हो सकी थी। १९३५ में जब भारत के लिये नये विधान की रचना की गई तो उनके लिये मताधिकार और विधान-सभाओं में सुरक्षित सीटों की व्यवस्था की गई।

नारियों के अधिकारों के सम्बन्ध में सन् १९३७ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अधिनियम हिन्दू नारियों का सम्पत्ति अधिकार ऐक्ट (Hindu Women's Right Property Act) बना। इसके अनुसार यदि कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का बटवारा किए बिना मर गया हो, तो उसकी विधवा पत्नी को लड़के के बराबर का भाग प्राप्त होता था, जिससे उसका जीविकोपार्जन भली-भाँति हो सके और वह वैधव्य के दारुण दुख से कुछ सीमा तक बची रह सके। इस प्रकार नारियों की स्थिति में

१. विनय कुमार सरकार : क्रिएटिव इण्डिया, (१९३७), लाहौर, पृष्ठ ५९७।

चतुर्दिक सुधार होने से उन्हें सहज ही पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हो गए, और उन्हें सामाजिक जीवन एवं राजनीतिक क्षेत्र में बराबर सम्मान प्राप्त होने लगा।

राष्ट्रीय आन्दोलन और नारियों का महत्वपूर्ण योगदान

शिक्षा का प्रसार होने एवं धार्मिक आडम्बरों के समाप्त होने पर नारियों में जिस नवीन चेतना का संचार हुआ, उसके परिणाम-स्वरूप वे पारिवारिक ही नहीं, समाज सम्बन्धी और व्यापक रूप से राष्ट्र सम्बन्धी अपने उत्तरदायित्व को समझने लगीं। उस समय देश की सर्वाधिक प्रमुख समस्या स्वाधीनता प्राप्ति की थी और गाँधी जी राजनीति के क्षेत्र में स्वाधीनता आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे थे। उन्होंने नारियों को भी उस महत्वपूर्ण आन्दोलन में भाग लेने को कहा, जिसमें इन्हें निराशा नहीं हुई और महिलाएं पूर्ण उत्साह से उस महान् राष्ट्रीय यज्ञ में अपना भाग लेने लगीं। उन्होंने श्रीमती ऐनी बेसेन्ट एवं श्रीमती सरोजिनी नायडू आदि के नेतृत्व में सभाएं कीं, जुलूस निकाले, और धरने दिये। उस समय जब भी कोई राजनीतिक जुलूस निकाला जाता था, महिलाएं सबसे आगे रहती थीं। इसका कारण यह था कि जहाँ पुलिस के घेरे को तोड़ना होता था, वहाँ नारियों के लिए सरलता से मार्ग बन जाता था, और वे पुलिस के घेरे को तोड़ सकने में प्रायः सफल रहती थीं। किन्तु सदैव ऐसा नहीं होता था। ब्रिटिश अधिकारियों की बर्बरता और अमानवीय व्यवहारों की छाया पुलिस में भी आ गई थी, और ऐसे कई अवसर आए, जब उन्होंने राजनीतिक जुलूसों का नेतृत्व करने वाली नारियों पर अत्यन्त निर्दयता से लाठियाँ एवं गोलियाँ बरसाई, अश्रु गैसों का प्रयोग किया। ये अवसर नारियों की परीक्षा के होते थे, और इन अवसरों पर कभी उन्होंने अपनी कायरता प्रदर्शित कर अपने को कलंकित नहीं किया। उनकी सहिष्णुता, सहनशीलता और त्यागवृत्ति से पुरुषों को प्रेरणा प्राप्त होती थी और वे इन साहसी नारियों में भारत माँ का विराट स्वरूप देख अपूर्व उत्साह से जीने-मरने के लिए कटिबद्ध हो जाते थे। प्रेमचन्द ने अपने कुछ उपन्यासों में इस तरह के नारी पात्रों की सृष्टि की है। 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि' आदि उपन्यासों के प्रायः सभी नारी पात्र तत्कालीन समाज की उन्हीं नारियों की भाँति हैं, जो अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर भी देश को स्वाधीन बनाने में संलग्न थीं।

इसके अतिरिक्त उस समय क्रान्तिकारी दल भी देश में अत्यन्त शक्तिशाली हो गया था, और वह हिंसक कार्य कर तथा तोड़-फोड़ कर ब्रिटिश सरकार के सम्मुख आतंकवादी स्थिति उपस्थित करना चाहता था। इन क्रान्तिकारी दल के सदस्यों के प्राण सदैव खतरे में रहा करते थे, और उन्हें सर्वदा गिरफ्तार होकर मृत्यु-दण्ड पाने की सम्भावना बनी रहती थी। अतः गिरफ्तार होने पर अपने दल से सम्बन्धित गुप्त रहस्यों को पुलिस को बताने के पूर्व वे आत्म-हत्या कर लेते थे। यह आश्चर्य का विषय है कि नारियाँ जीवन की इस भयंकरता से भयभीत नहीं हुई

और इन क्रान्तिकारी दलों के सदस्यों में उनकी संख्या सबसे अधिक थी। इन नारियों ने जासूसी, एक स्थान से दूसरे स्थान तक संदेश पहुंचाने, पुलिस अधिकारियों के यहां प्रेम का स्वांग रच कर आवश्यक कागजातों को उड़ाने तथा चन्दे एकत्रित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। क्रान्तिकारी दलों की कार्य पद्धति से भले ही कोई असहमत हो, पर उनकी देशभक्ति असन्दिग्ध थी। यशपाल ने अपने कुछ उपन्यासों में क्रान्तिकारी दलों से सम्बन्धित इन्हीं महिलाओं का बड़ा सजीव चित्रण किया है।

यह तो हुआ ही, कांग्रेस की नीतियों को निर्धारित करने और स्वाधीनता संग्राम को विभिन्न दिशाओं में संचालित करने के महती कार्यों में भी इन नारियों ने बराबर भाग लिया, और अपनी अपूर्व प्रतिभा, दक्षता एवं असाधारण तर्क शक्ति का परिचय दिया। श्रीमती एनी बेसेन्ट और श्रीमती सरोजिनी नायडू आदि अनेक नारियों ने कांग्रेस की कार्य-समितियों में भाग लेकर अपनी सूझ-बूझ और विचारों से नई शक्ति दी तथा उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में स्वाधीनता आन्दोलन का नेतृत्व किया। जेल जाने में भी नारियाँ पुरुषों से पीछे नहीं रहीं। उन्होंने जब कभी अवसर देखा, जेल जाकर राष्ट्रीय आन्दोलनों को नवीन दिशाएं प्रदान कीं। इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलनों में नारियों का महत्वपूर्ण योगदान है, और स्वाधीनता प्राप्त करने के संघर्ष में अपने उत्तरदायित्व को उन्होंने सफलतापूर्वक वहन किया है।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम में नारियों ने जो महत्वपूर्ण योगदान दिया, उससे उनके सामाजिक एवं राजनीतिक महत्व में वृद्धि हुई। गांधी जी के अतिरिक्त तत्कालीन अन्य राजनीतिक नेताओं का नारियों की शक्ति पर पूर्ण विश्वास न था, और वे उन्हें महती उत्तरदायित्व सौंपे जाने के पक्ष में न थे। वे गांधी जी से पुरुषों के ही कन्धों पर समस्त उत्तरदायित्व सौंप देने को कहा करते थे, पर गांधी जी इसे कभी स्वीकार नहीं करते थे। बाद में उन नेताओं की आवाज स्वतः ही बन्द हो गई। वस्तुतः नारियों ने अपने अधिकारों के लिए सतत प्रयत्न किया, जो मानवीय इतिहास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है।[1] इस संघर्ष का परिणाम अच्छा ही हुआ। नारियों को सामाजिक, राजनीतिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होने से उनकी स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ। १९४० में भारतीय विधान सभाओं में ८० महिलाएं प्रतिनिधित्व कर रही थीं। वे बराबर नारियों को सम्मानपूर्ण स्थान दिलाने के लिये प्रयत्नशील थीं। नारियों में जागरूकता अत्यन्त तीव्रता से वृद्धि प्राप्त कर रही थी। १९०४ ई० में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में टैगोर परिवार की एक

१. "Freedom and equality are the basis of human development. Women fought for them, and their great struggle has remained a landmark in human history."

—वाई० एम० रीग : व्हीदर वुमन ?, (१९३८), बम्बई, पृष्ठ २७२।

सदस्या श्रीमती सरलादेवी चौधरानी ने एक समूह का नेतृत्व करते हुए 'वन्देमातरम्' गीत गाकर महिलाओं की वास्तविक स्थिति की सूचना दी थी। १९१७ में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में प्रथम बार एक महिला अध्यक्षा श्रीमती ऐनी बेसेन्ट चुनी गई, और उन्होंने समस्त देश में भ्रमण कर महिलाओं का संगठन किया, जिससे उनमें साहस, आत्म-विश्वास और अपूर्व उत्साह उत्पन्न हो सके। १९१९ से ही एक अन्य महिला श्रीमती सरोजिनी नायडू राजनीति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य कर रही थीं। वे प्रभावशाली भाषण देने के लिये प्रख्यात थीं। १९२८ में बीजापुर (बम्बई) में वे कांग्रेस की अध्यक्ष निर्वाचित हुईं। इसके पूर्व वह अनेक राजनीतिक एवं विद्यार्थी कान्फ्रेन्सों की अध्यक्षा रह चुकी थीं। डा० मुद्दुलक्ष्मी रेड्डी भारतीय विधान सभाओं में स्थान प्राप्त करने वाली प्रथम महिला थीं। उनका निर्वाचन निर्विरोध हुआ, जब उनका नाम शीघ्र ही मद्रास विधान परिषद् के उपाध्यक्ष पद के लिए प्रस्तावित किया गया। वे इस पद पर तीन वर्ष तक रहीं, जब कि उन्होंने सरकार द्वारा महात्मा गाँधी को गिरफ्तार कर लिए जाने के विरोध में इस्तीफा दे दिया। इस प्रकार प्रारम्भ से ही नारियों ने सिद्धान्तों के सम्मुख अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को कभी महत्व नहीं दिया।

इसी समय नारियों ने म्युनिस्पिल कौंसिलों के चुनाव में भाग लेना प्रारम्भ किया, और उसमें उन्हें बहुत सफलता प्राप्त हुई। बम्बई में श्रीमती सरोजिनी नायडू को मेयर बनने के लिये आमन्त्रित किया गया। यह नारियों की परिवर्तित सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति का परिचायक था। १९२९-३२ के असहयोग आन्दोलन में बन्दी होने वाली श्रीमती सरोजिनी नायडू प्रथम भारतीय महिला थीं। १९३७ में जब प्रान्तों में कांग्रेस ने सरकारें बनाई तो अनेक महिलाओं ने मंत्रीपद का भार ग्रहण कर देश की प्रगति में सराहनीय योग प्रदान किया। अनेक विदुषी महिलाओं ने नारियों के सामाजिक एवं राजनीतिक संगठन स्थापित कर जिस प्रकार स्वाधीनता संग्राम में कार्य किया है, वह प्रशंसनीय है ही, उसके बराबर का उदाहरण विश्व के इतिहास में कदाचित् कम ही प्राप्त होगा।

नवीन शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पन्न जीवन की जिन नवीन परिस्थितियों का उल्लेख किया गया, उनसे समग्र जीवन के साथ-साथ नारी-जीवन का भी प्रभावित होना अवश्यंभावी था, क्योंकि नारी जीवन का अविभाज्य अंग है। आलोच्यकाल में भारत की आधुनिक नारी का जन्म हो चुका था। अब वे पिछड़ी हुई, अथवा कमरे की चार-दीवारी में बन्द रहने वाली अज्ञान की गठरी मात्र नहीं, हमारे सामाजिक जीवन में बराबर की साझीदार थी। उसने पुरुष की तुलना में अपनी हीनता अथवा दीनता प्रदर्शित न कर अनेक महत्वपूर्ण कार्यों को अपने हाथों में ले रखा है, जिसका वह सफलतापूर्वक निर्वाह भी कर रही है। आज समाज में उसका जो सम्मान है, राष्ट्र के नव-निर्माण एवं नवीन रचना-प्रक्रिया में उसका जो प्रमुख

सहयोग है, वह वस्तुतः उसकी योग्यता, धैर्य, साहस एवं सहिष्णुता का परिचायक है। सामाजिक जीवन में ही नहीं, उसने हमारे पारिवारिक जीवन को भी टूटने नहीं दिया है। उसने उसे भी अनुपम गरिमा प्रदान की है, तथा सामाजिक एवं राजनीतिक कार्यों के साथ ही उसने अपने जीवन में पारिवारिक कार्यों का सुन्दर समन्वय कर लिया है, जो उसे सही अर्थों में गरिमा प्रदान करता है। इस नारी-जीवन की नींव उन्नीसवीं शताब्दी में पड़ी थी। ऐसी ही नारी आलोच्य-काल के उपन्यासों की नायिका बनी।[1]

---

१. विशेष विवरण के लिए अध्याय छः, सात एवं आठ देखिए, जिनमें ऐसी ही नायिकाओं एवं प्रधान नारी पात्रों की सोदाहरण समीक्षा की गई है।

सिद्धांत पक्ष और उपन्यासों में नारी चित्रण

आधुनिक काल और उपन्यास

भारत में ब्रिटिश-साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् ही हिन्दी साहित्य में आधुनिक-काल का प्रारम्भ होता है। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही भारत की राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति में परिवर्तन होने लगा था और देश में नवीन चेतना का प्रसारण हो रहा था। धार्मिक रूढ़ियां और परम्पराएं धीरे-धीरे समाप्त हो रही थीं, और गद्य का प्रसार अत्यन्त तेजी से हो रहा था। ऐतिहासिक घटना-चक्र के अनुसार १९वीं शताब्दी के भारतवर्ष में एक नवीन युग की अवतारणा हुई। उस समय भारतवासियों का पश्चिम की एक सजीव और उन्नतिशील जाति के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ। यह जाति अपने साथ यूरोपीय औद्योगिक क्रान्ति के बाद की सभ्यता लेकर आई थी। उसके द्वारा प्रचलित नवीन शिक्षा-पद्धति, वैज्ञानिक आविष्कारों, और नवीन प्रवृत्तियों से हिन्दी साहित्य अछूता न रह सका (दे० पहला अध्याय)। शासन सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा जीवन की नवीन परिस्थितियों के कारण गद्य जैसे नवीन साहित्यिक माध्यम की आवश्यकता हुई, और गद्य के द्वारा ही हिन्दी में आधुनिकता का बीजारोपण हुआ (उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में) न कि काव्य द्वारा।[1] सन् १८५७ ई० की क्रान्ति के पश्चात् हिन्दी गद्य का अभूतपूर्व विकास हुआ। वास्तव में गद्य साहित्य का आविर्भाव तथा विकास भारतीय जीवन में उस चरम-लक्ष्य की ओर संकेत करता है, जिसके अनुसार हिन्दी साहित्य मध्य-युगीन वातावरण से बाहर निकल कर नवीन वैज्ञानिक चेतना और आधुनिकता की सीमाओं में प्रवेश कर सका। हिन्दी का समस्त गद्य साहित्य हमारे जीवन के परिष्करण और विकास का नवीन साहित्य है। गद्य के माध्यम से ही हम विदेशों के नवीन उन्नतिशील साहित्य, नवीन विचारों और क्रान्तियों के सम्पर्क में आए और परिणामस्वरूप उत्पन्न नवीन वातावरण में अपने देश और साहित्य के नव-निर्माण एवं विकास की प्रक्रिया में प्रयत्नशील हुए। प्रथम बार हमारा साहित्य

---

१. डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय : हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियां, (राजकमल प्रकाशन, बम्बई), निबन्ध संग्रह की भूमिका, पृ० ३।

विविध विषयों को अपनी सीमा में समेटने में समर्थ हुआ। गद्य में विभिन्न रूपों और शैलियों के अन्वेषण के प्रति लोगों में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। इससे गद्य के नवीन रूप सामने आने लगे। नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों, शिक्षा के प्रसार, नवीन आर्थिक संगठन तथा यातायात के साधनों के विकास एवं प्रेसों की स्थापना के कारण हिन्दी प्रदेश का सम्पर्क विश्व के अन्य भागों और वहां के साहित्य से स्थापित हुआ, और उसे एक नवीन दृष्टि प्राप्त हुई। इसके परिणामस्वरूप शैली में विविधता उत्पन्न हुई। विषय की कोई कमी थी नहीं। इस काल में विभिन्न सुधारवादी आन्दोलन चल रहे थे, जो जनता में नवीन चेतना के प्रसारण का सराहनीय कार्य कर रहे थे। हिन्दी साहित्य इस नवीन जागरण के संस्पर्श से कैसे अछूता रह सकता था, पर सुधारवादी सनातनधर्मियों के हाथ में बागडोर होते हुए भी हिन्दी साहित्य आर्य-समाज से प्रभावित हुए बिना न रह सका, उसने साहित्यिकों को तरह-तरह के विषय सुझाए[1] और विषयों में वैविध्य उत्पन्न हुआ।

हिन्दी साहित्य का यह विविधता-सम्पन्न गद्य खड़ी-बोली गद्य था, जो प्रेस जैसे वैज्ञानिक साधन की सहायता से अधिकाधिक प्रचलित और अनूदित विविध-विषय-सम्पन्न एवं पुष्ट होता जा रहा था। आधुनिक अर्थ में उपन्यास खड़ी बोली की ही विशेषता है। कथाओं, आख्यायिकाओं आदि की रचना तो आधुनिक काल से पूर्व भी हुई थी, और "उपन्यास" शब्द भी प्राचीन है. किन्तु जिस उपन्यास साहित्य से आज हम परिचित हैं, वह आधुनिक काल की ही देन है, और उसका जन्म नवीन आर्थिक संगठन के फलस्वरूप उत्पन्न मध्यवर्ग और आधुनिक रूप में शिक्षित मध्यवर्ग की सुधारवादी प्रवृत्तियों के कारण हुआ। वास्तव में हिन्दी उपन्यासों और नाटकों, दोनों का सुधारवादी आन्दोलनों से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

हिन्दी साहित्य में आधुनिक उपन्यास साहित्य का जन्म १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। मानव-जाति आदिम काल से कथा साहित्य का आश्रय लेकर अपना मनोरंजन करती चली आ रही है। कथा-प्रेम की इस मनोवृत्ति ने विश्व-साहित्य की बहुत बड़ी पूर्ति की है। धन-धान्य से पूर्ण भारतवर्ष के ऋग्वेद ब्राह्मणों, उपनिषदों, बौद्ध और जैन साहित्य में हमें कथा-साहित्य का प्रारम्भिक रूप देखने को मिलता है। उनमें समाज-नीति, राजनीति, धर्मनीति तथा दर्शन आदि जैसे गम्भीर विषय सरल और सुगम रीति से समझाए गए हैं। साथ ही मनोरंजन करने तथा जीवन की छोटी-छोटी बातों पर प्रकाश डालने वाली सामग्री भी प्रचुर मात्रा में मिलती है। कथा-प्रेम की इसी मानव-प्रकृति की उद्भावना शक्ति की प्रेरणा से संस्कृत में पंच-तंत्र, हितोपदेश, वैतालपंच विंशति सिंहासनद्वात्रिंशिका, शुकसप्तशती, सोमदेव कृत कथासरित्सागर, गुणाढ्य कृत बृहत्कथा और क्षेमेन्द्र कृत बृहत्कथामंजरी

---

१. डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, भारतेन्दुकालीन साहित्य, (सम्मेलन पत्रिका), पृष्ठ ७४।

आदि साहित्य की रचना हुई। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक और मध्य-युगों में काव्य का एकाधिपत्य होने के कारण गद्य में हमें कथा साहित्य का साक्षात्कार नहीं होता। परन्तु १०वीं शताब्दी में गद्य का प्रचार हो जाने से हिन्दी में भी उसका आगमन हुआ।[1] हिन्दी का प्रथम मौलिक साहित्यिक उपन्यास लाला श्रीनिवास कृत "परीक्षा गुरु" (१८८२) है,[2] किन्तु इसमें उपन्यासकला और मनोवैज्ञानिक चित्रण का सर्वथा अभाव है। इसी काल में उपन्यासों का अनुवाद-कार्य भी प्रारम्भ हुआ। इसमें बाबू रामकृष्ण वर्मा और बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री का विशेष योगदान रहा है। गोपाल राम गहमरी ने बंगला के अनेक उपन्यासों का अनुवाद किया। उपन्यास कला में प्रगतिशीलता और आधुनिकता लाने का वास्तविक कार्य किशोरी लाल गोस्वामी ने किया। १८९० में राधाकृष्ण दास ने "निस्सहाय हिन्दू" नामक उपन्यास की रचना की जिसमें मुसलमानों की धर्मान्धता तथा हिन्दुओं की शोचनीय स्थिति का कारुणिक वर्णन किया गया है। बालकृष्ण भट्ट कृत "नूतन ब्रह्मचारी" (१८८६), "सौ अजान एक सुजान" (१८९२) आदि उपन्यासों ने भी उपन्यास कला के विकास में अपना योग प्रदान किया। हिन्दी में उपन्यास के साहित्यिक रूप का विकास बीसवीं शताब्दी में हुआ।

उपन्यास साहित्य प्रारम्भ से ही सुधारवादी दृष्टिकोण लेकर आया था। वास्तव में उस समय नाटक के बाद उपन्यास ही वह साधन था, जिसके माध्यम से समाज के दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया गया। नैतिकता के उत्थान के लिए भी प्रयत्न किया गया। प्रेमचन्द के हाथों में पड़कर उपन्यास साहित्य में और अधिक निखार आया, और विकास के उच्च स्तर तक पहुँच गया। प्रेमचन्दोत्तर-काल में तो उपन्यास सर्वाधिक लोकप्रिय हुए और उनके पाठकों की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई।

वास्तव में उपन्यास आधुनिक काल में गद्य रूप में सर्वाधिक प्राणदायक साहित्यिक विधा है। वह नवीन युग की नवीन अभिव्यक्ति का सर्वथा नया रूप है। साहित्य के रूपों के उद्भव के सम्बन्ध में यह एक अखण्ड सत्य है कि वे व्यक्ति एवं युग के शाश्वत और सामयिक रसायन का परिणाम होते हैं। आत्म-रक्षा और आत्म-प्रसार मानव के दो जन्मगत मूल भाव हैं। जन्म के साथ ही व्यक्ति अपना

---

१. डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य, (१९५४), इलाहाबाद, पृ० १६९।

२. यद्यपि "परीक्षागुरु" के पूर्व भारतेन्दु का उपन्यास "पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा" प्रकाशित हो चुका था, पर वह मराठी उपन्यास से प्रभावित था। अतः उसे पहला मौलिक उपन्यास स्वीकार नहीं किया जा सकता। —देखिए—डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी-साहित्य, (१९५४), इलाहाबाद, पृ० १७३।

सम्पर्क विविध क्षेत्रों से स्थापित कर अपने ज्ञान और बुद्धि का अधिकाधिक प्रसार करना चाहता है, दूसरी ओर वह अपनी आत्म-रक्षा को भी प्रस्तुत करता है । इस प्रकार उसमें परस्पर विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । "प्रसार" किसी न किसी रूप में "रति" का पर्याय और द्योतक होता है, और संकोच" भय का । रति और भय जिस अद्वैत से सम्बन्धित हैं, उसे अहं की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। वाणी भी स्वयं मनुष्य की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है । वाणी की सहायता से "प्रसार" भी रक्षा का आक्रामक माध्यम हो जाता है। वाणी की जितनी भी अभिव्यक्तियाँ हो सकती हैं, उन सब में "प्रसार-रक्षा" का द्वन्द्व विद्यमान मिलेगा। वाणी जब भाषा का आवरण ग्रहण कर लेती है, तब भी वह अपनी मूल प्रकृति के साथ ही रहती है। भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त भाव "साहित्य" होकर उनके विविध रूपों में बिखर जाते हैं और प्रसार-संकोच के युगीन सम्बन्धों से वे रूपों में ढुलते जाते हैं। उपन्यास भी इसी प्रकार का एक रूप है, जो युगीन प्रक्रिया का स्वरूप है। प्रश्न उठता है कि उपन्यास की उद्‌भावना क्यों हुई ? औद्योगिक क्रांति वैज्ञानिक अनुसंधान से उद्‌भूत क्रांति ने मनुष्य के बुद्धि-पक्ष को प्रबल किया। मनुष्य अधिकाधिक बौद्धिक होता चला गया और जैसे-जैसे इस बौद्धिकता का विकास होता गया, वैसे ही वैसे उपन्यासों के रूप और अर्थ भी विकसित होते गये । युग के नवीन आविष्कारों के क्रोड़ में नवीन क्रांतियों का जन्म हुआ और क्रांतियाँ एक दूसरे से सूत्रों में जुड़ी हुई विवर्तित होती चली आई है। आधुनिक युग से पूर्व का युग "भूमि निर्भर" युग था, जिससे व्यक्ति और उसका कर्म अत्यन्त सीमित था और प्रकृति के आश्रित था। धीरे-धीरे मनुष्य में एक नूतन सृष्टि की भावना का उदय हुआ और उपन्यास इसी न्यूनता की प्रतिकृति है। युग की आवश्यकता और नूतनता के प्रयोग ने सबसे पहला कार्य तो यह किया कि जहाँ कथा-कहानी के व्यक्ति को कथा-कहानी लोक के प्राणी जगत से यथार्थ जगत का प्राणी बनाया, वहाँ उसने उस प्राणी के चारों ओर व्याप्त आतंक-चक्र को भी उद्‌भेदित कर दिया उनमें उद्‌भव करने के तत्व समाविष्ट हुए । मानवीय दुर्बलताएं और मानवीय सबलताएं सभी आई । पर सबसे अधिक इस प्रयोग में जो तत्व प्रधान हुआ था, वह प्रत्यक्षत: वैज्ञानिक युग की प्रकृति की देन था—मानव का अनुसंधान । प्रकृति के नये आविष्कारों के नूतन परिणाम सामने आ रहे थे, और मनुष्य को भी नवीन वैज्ञानिक परीक्षण का विषय बनाया गया। मनुष्य इस अध्ययन से भी कुछ का कुछ रूप ग्रहण कर रहा था, वह स्वयं अपनी ही दृष्टि में कुछ और होने लगा था—और तब उसके सामाजिक क्षेत्र पर भी अनुसंधानात्मक दृष्टि पड़ी। वैज्ञानिक और शास्त्रीय दृष्टि से ही उस क्षेत्र का अनुसंधान किया गया। उससे मानवीय तत्वों से तो परिचय प्राप्त हो सकता था किन्तु स्वयं सजीवन मानव की सत्ता समाप्त हो जाती थी । पर सबसे बड़ी आवश्यकता इसी मानव को समझने, उसे पहचानने, उसकी शक्तियों की माप करने, उसकी प्रवृत्ति, बुद्धि और रूप के यथार्थ अनुसंधान की थी और ऐसे अनु-

संवान की आवश्यकता थी जिसमें मानवीय सत्ता अक्षुण्ण बनी रहे, समाप्त न हो जाय। यह कार्य उपन्यास ही सफलतापूर्वक कर सकता था क्योंकि उसका माध्यम गद्य था, उसका विषय मानव सम्बन्धों और उनकी मानसिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करना था, उसका धरातल यथार्थ की भूमि पर था और उसकी प्रकृति जीवनमयी थी। यही कारण था कि आधुनिक युग में उपन्यास सर्वाधिक महत्वपूर्ण साहित्यिक विधा बन गया और इतना लोकप्रिय हुआ[१]। उपन्यास में हमारी संस्कृति, हमारी सभ्यता, हमारा विकास क्रम और हमारा युगीन जीवन जितने सशक्त रूप में अभिव्यक्त हो पाता है उतना किसी अन्य साहित्यिक विधा में नहीं। कहानियाँ जीवन के अंश विशेष का प्रतिपादन करती है, कविता किसी भाव विशेष को प्रकट करती है, और नाटक चित्रपटों की बढ़ती लोकप्रियता के कारण स्वयं ही लोक-प्रिय होने लगे। अतः उपन्यास ही एकमात्र ऐसा साहित्यिक माध्यम था जिसके द्वारा मानव जीवन का चित्रण सरलता से किया जा सकता था। आज मानव जीवन कोई भी स्वयं में पूर्ण नहीं है, सभी खण्डित है। सभी की आस्थाएं टूटकर बिखरी हैं, सभी के स्वप्न अपूर्ण रहे हैं, सभी की आकांक्षाएं और कामनाएं अतृप्त रही हैं। आज का मानव जीवन जीने की एक विवशपूर्ण प्रक्रिया है। असंतोष और अशांति के मध्य व्यक्ति चाहता है नवीन दिशा, नवीन मान्यताएं, जीवन के प्रति गहन आस्थाएं सहज मानवीय संवेदनाएं और अंधियारे के बादलों को चीरकर प्रकाश का वह देदीप्यमान, पुंज जिसमें उसका मार्ग प्रशस्त हो सके। यह सब उसे उपन्यास में सहज रूप से प्राप्त होता है, जिसमें जीवन की समग्रता होती है, मानवीय जीवन से सम्बन्धित नवीन पहलुओं का उद्घाटन होता है और जीवन की गरिमा प्रतिष्ठित करने का प्रयास होता है। उपन्यास वस्तुतः मानव जीवन का गद्य रूप में महाकाव्य होता है, जिसमें मानव अपने व्यक्तिगत जीवन के सुख-दुःख, आशा-निराशा, घृणा-प्रेम, सफलता-असफलता, जय-पराजय सभी कुछ तो देखता है और उसका नवीन ढंग से विवेचन कर अपने जीवन में सन्तुलन स्थापित करने में प्रयत्नशील होता है, जिसमें उपन्यास उसके मार्ग-प्रदर्शक सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि पाठक अधिक से अधिक उपन्यासों से

---

१. "The novel today is the most vigorous of all literary forms. It obviously takes precedence over all others. The novel is the form in which our culture has most often sought expression it is the only form that seems able to express our experience, and there is nowhere any sign that its power or will is slackening In no country whose culture seeks expression in literature is their any sign of decadence. Everywhere today the novel comes to close to being the whole imaginative literature that distinction in any other form is so frequent as to cause surprize."

—बर्नार्ड डी वोटो : द वर्ल्ड ऑव फिक्शन, पृ० २९६।

अपना निकटतम सम्बन्ध स्थापित कर जीवन के वैविध्य से परिचित होने का प्रयास करता है और उनके निष्कर्ष से अपने जीवन की स्थिरता को गति प्रदान कर सकने में सफल होता है। अपनी इसी महत्वपूर्ण विशेषता के कारण उपन्यास आज सर्वप्रमुख साहित्यिक विधा के रूप में विद्यमान है।

उपन्यासों की लोकप्रियता और प्रमुखता का एक अन्य कारण यह भी था कि अवकाश में जी रमाने का उपन्यास से अच्छा कोई और साधन न था। उपन्यास मानव जीवन के अनुभवों का प्रतिविम्ब होता है। वह मानवीय अनुभव की सीमा का विस्तार करता है, और जादू के खेल की भाँति जीवन के सारे रहस्य निरावरण कर हमारे संमुख उपस्थित करता है[1]। वास्तव में उपन्यास ने हमारे सामने प्रथम वार एक नवीन यथार्थ प्रस्तुत किया। यथार्थ वही सत्यानुभूति से प्रेरित शक्ति है जो समाज का सर्वांगपूर्ण चित्र रेखांकित कर सकने में समर्थ होता है। उपन्यास साहित्य ने प्राचीन रूढ़िवादी परम्पराओं में कभी अपना विश्वास नहीं प्रकट किया। उसने जीवन के नवीन आधारों का अन्वेषण किया और सामयिकता की अनुभूति में अपनी आस्था प्रकट की। इस नवीन यथार्थ के रूप में उपन्यास साहित्य ने उस परम्परा में अपना अविश्वास प्रकट किया जो केवल मात्र अपनी प्राचीन मान्यताओं के आधार

---

१. "Novels increase the circumference of our experience. They talescope life times into reading time and so open more lives to us than the span of our days...Part of what we know about man and his state come to us through the gate that fiction opens. For a moment there has been a heightening; the flame has burned hotter and given more light. Whether it shines on life's horror, its mediocrity or its fortitude"something has been added to us. We have learned much when we have looked at a page and found people caught up in circumstances.

The magic operation goes further. Not only psychiatry strips away successive layers. To the shock of recognising a real thing and finding meaning in it, arts adds another shock for it brings us to the mist that lies beyond. If the substance of fiction is so refined that we can coast the whole shoreline of life in a few hours and explore the wildness in land from the coast, it leads on to strangeness. If the miniature of fiction concentrate what is to be learned in the land distant to Henry Thohean, it concentrates the mystery all travellers come to know...levels of significance lie in strate, one below another. Life has not only been revealed, it has been criticised and appraised under a strong light."

—वर्नार्ड डी वोटो : द वर्ल्ड ऑव फिक्शन, पृ० २९६।

पर जीवित रहना चाहते हैं, अपनी वास्तविकता एवं यथार्थता का हनन करके उपन्यास साहित्य ने आत्मप्रवंचना को आत्मसात करना श्रेयस्कर नहीं समझा। समाज में उत्पादन एवं वितरण की विषमता, शोषण, राष्ट्रीय आपका दुरुपयोग एवं दिन प्रतिदिन गिरता हुआ नैतिक स्तर आदि ऐसी अनेक विकृतियाँ हमारे जीवन में हैं, जो समाज एवं राष्ट्र की प्रगति को कुंठित कर देना चाहती हैं। उपन्यास साहित्य ने इन कुत्सित वृत्तियों का हनन करने वाली शक्तियों को बल प्रदान किया। अतः मानव ने जब भी जीवन की व्यस्तता और विषमता से परिपूर्ण कटुता से दूर शांति प्राप्त करने का प्रयास किया, उपन्यास से बढ़कर उत्तम साधन कोई सिद्ध न हो सका। उपन्यास चाहे सामाजिक हो, या राजनीतिक हो, या ऐतिहासिक हो, पाठकों को पढ़ने में एक विशेष प्रकार के आनन्द तत्व की उपलब्धि हुई, और उपन्यास मनोरंजन का साधन बन गये। पाठकों ने उपन्यास में एक नये कल्पित संसार का आभास पाया, जिसे वह ईश्वरीय सृष्टि के भीतर उपन्यासकार की सृष्टि की संज्ञा देने लगा। सिनेमेटोग्राफ की भाँति उसे उपन्यास में घटनाओं के कुशल संगुफन में इतना अधिक मनोरंजक तत्व प्राप्त होने लगा कि वह जब भी अवकाश पाने लगा, उपन्यासों के अध्ययन के पीछे प्रवृत्त हुआ। उपन्यासों से मनोरंजन नहीं सिद्ध हुआ, उससे लोगों के विशद ज्ञान और अनुभव की भूख भी शांत हुई। आगे चलकर दर्शन, मनोविज्ञान और इसी प्रकार के अन्य जीवन सम्बन्धी गम्भीर सूत्रों की व्याख्याएं उपन्यास में कथा के माध्यम से की जाने लगीं, और प्रबुद्ध पाठक, जो शास्त्रीय ज्ञान की पुस्तकों को पढ़ने में नीरसता का अनुभव करता था, उपन्यासों को अपने अवकाश के समय अधिक रुचि के साथ पढ़ने लगा और वह उसे मनोरंजन के साथ ज्ञानोपलब्धि का उच्च साधन प्रतीत होने लगा।

उपन्यास क्या है ?

"उपन्यास" शब्द संस्कृत के "अस्" धातु से उत्पन्न हुआ है जिसका धर्म होता है—'रखना" अनुक्षेपणे)।[1] "उप" और "नि" पूर्वक "अस्" धातु में घञ् प्रत्यय जोड़ने से ही "उपन्यास" शब्द बना है। इस आधार पर "उपन्यास" का अर्थ हुआ, वह रचना जिसमें जीवन के अनेक पक्षों का प्रक्षेपण निकट या समीप से किया गया हो। उप का अर्थ समीप तथा न्यास का अर्थ थाती ग्रहण कर उपन्यास की संज्ञा ऐसी रचना को दी जा सकती है, जिसे पढ़कर अपने जीवन की वास्तविक यथार्थवादी प्रक्रियाओं का आभास हो, और निकटता की अभिव्यक्ति हो। संस्कृत नाट्य शास्त्रीय ग्रंथों में उपन्यास" पूरक की प्रतिमुख संधि के एक उपभेद की संज्ञा है। इस संदर्भ में उसका अर्थ "प्रसादन" का लिया गया है। (उपन्यासः प्रसादनम्)।

---

१. विश्वनाथ "साहित्य-दर्पण" षष्ठ परिच्छेद, (जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य कलकत्ता, १९३४),'श्लोक ३६७, पृ० ४२२।

इसकी दूसरी व्याख्या के अनुसार "अर्थ" को युक्ति-युक्त रूप में उपस्थित करना ही उपन्यास है ।[1]

उपन्यास में वास्तविक की काल्पनिक कथा का समावेश होता है । प्रेमचन्द के अनुसार उपन्यास मानव-चरित्र का चित्र है । मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है ।[2] इस परिभाषा के अनुसार देवकी नन्दन खत्री के उपन्यासों अथवा 'किस्सा गुवकावली" या "भूतनाथ" आदि को उपन्यास की सीमा मे वहिष्कृत करना होगा, क्योंकि उनमें कथाएं मनोरंजन, एवं कौतूहल की चरम सीमा उत्पन्न करने के लिए कही गई हैं, मानव मन की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास उनमें नितान्त रूप से नहीं है, और न उनका वह उद्देश्य भी था । एक अन्य आलोचक के अनुसार उपन्यासों में मानव जीवन की अभिव्यक्ति होती है ।[3] पर इस परिभाषा को भी प्रेमचन्द के कथन के अनुसार ही स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं । इसके अनुसार यदि किसी रचना में पशु-पक्षियों की कथा का वर्णन हो, अथवा प्रकृति की निर्जिवता में भी प्राणों का संवेग संचारित कर उन्हें कथा का माध्यम बनाया जाय, तो उसे उपन्यास की संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें मानव जीवन की अभिव्यक्ति का पूर्ण अभाव रहेगा । यह परिभाषा उपन्यास को अत्यन्त संकुचित सीमा में आवद्ध करती है । एक अन्य आलोचक के अनुसार "—समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गो में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनका विस्तृत प्रतयक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति उत्पन्न कर सकते हैं ।—लोक किसी जन समाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिन्त्य परिस्थितियां खड़ी होती रहती हैं, उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी-कभी निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासों का काम है ।"[4] उपन्यास की यह परिभाषा अत्यन्त विश्लेपणात्मक है, और इससे उपन्यास की आत्मा की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती हैं । पर उपन्यास में मनोरंजन तत्व भी प्रमुख होता है, इस परिभाषा में इस पर ध्यान नहीं दिया गया है । उपन्यास वस्तुतः मात्र दार्शनिक सिद्धान्तों के विवेचन, राजनीतिक नारेवाजी, प्रचारात्मक अखाड़ेवाजी,

---

१. उपपत्तिकृतो हयर्थ उपन्यासः संकीर्ति", वही पृष्ठ ३७३ ।

२. प्रेमचन्दः कुछ विचार, चौथा संस्करण, १९४९, बनारस, पृ० ३८ ।

३. "This was a great step towards the modern novel, as defined by Earnest A. Baker, the interpretation of human life by means of fictions prose in narrative

—रिचर्ड चर्च : द ग्रोथ ऑव इंगलिश नॉवल (१९५१) लन्दन, पृ० ८ ।

४. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, (संवत् २००८), बनारस पृ० ४५० ।

अथवा मात्र चिन्तन का साधन नहीं है, अपितु उसमें कोई कथा कही जाती है, जिसका उद्देश्य प्रमुख रूप से मनोरंजन होता है। दर्शन, मनोविज्ञान अथवा तर्कशास्त्र आदि के सैद्धांतिक विवेचन से पाठकों को जो कसरत और परिश्रम करना पड़ता है, उपन्यास वास्तविक अर्थ में उससे दूर रहता है। उपन्यास में दर्शन, मनोविज्ञान तथा अन्य शास्त्रों का समावेश इस रूप में किया जा सकता है; कि उससे उपन्यास की मनोरंजकता किसी भी रूप में न्यून न हो. या नष्ट न हो। पर इसके विपरीत उपन्यास की रचना करने से उपन्यास का वास्तविक अर्थ नष्ट हो जाता है, और उस कृति को उपन्यास शब्द की संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता, उसे कुछ अन्य भले ही कहा जा सकता है। वास्तव में उपन्यास में सुन्दर कथानक और भली भाँति चित्रित पात्र होते हैं।[1]

उपन्यास की अन्य अनेक परिभाषाएं भी हैं।[2] सभी परिभाषाओं में एक बात प्रमुख रूप से साम्य रखती है, कि उपन्यासों में मानवीय अनुभवों का समावेश

---

१. "A Novel is a work of fiction containing a good story and well drawn characters."

—नार्मन कज़िन्स द्वारा सम्पादितः राइटिंग फॉर लव ऑर मनी, (१९४९), लांगमेन ग्रीन एन्ड कम्पनी, कनाडा, नामक पुस्तक में एडिथ व्हार्टन का निबन्ध।

२. They (novels) are prose translations of ideas into the language of human life being lived – the translation must be made with such an accuracy as to increase the reader's knowledge of his own self"

—इरा वोल्फर्ट : व्हाट इज ए नावेल ऐंड व्हाट इज इट गुड फार, (१९५०) न्यू० यॉ०, ८।

"A novel is in its broadest definition, a personal, a direct impression of life"

—हेनरी जेम्सः द आर्ट ऑव फिक्शन, (१९४८), न्यूयार्क, पृ० ८।

"The novel is typically a representation of human experience whether liberal or ideal and therefore, inevitably a comment upon life.'

—हरबर्ट जे० मुल्लर : मार्डन फिक्शनः ए स्टडीज आव वैल्यू, पृ० १४।

"The novel—as I use the term in this book—as a realistic prose, fiction complete in itself and of a certain length."

—आर्नोल्ड कैटिल : एन इन्ट्रोडक्शन टू द इंगलिश नावेल, (लन्दन), पृ० २८।

"The novel is a picture of real life and manners, and of the times is which it was written

—क्लारा रीव : प्रोग्रेस आव रोमांस, (१७८५), पृ० १८।

होता है। इन अनुभवों को किन्हीं सीमाओं में बांध कर सीमित नहीं किया जा सकता है। उस दिशा का प्रयास कदाचित दुराग्रह के अतिरिक्त कुछ भिन्न अर्थ न रखेगा। मानवीय अनुभव की सीमा अनन्त है। वह विज्ञान का क्षेत्र स्पर्श करती है, पशुपक्षियों या इसी प्रकार के अन्य जीव-प्राणियों से अपना तादात्म्य स्थापित करती है, उसका सम्बन्ध निर्जीव प्रकृति से होता है तथा गगन-मण्डल तक उसकी दृष्टि की परिधि विस्तृत रहती है, इनसे वह जो अनुभव प्राप्त करता है, उपन्यास की रचना उन्हीं के आधार पर होती है। सच तो यह है कि उपन्यास स्वयं इतना व्यापक अर्थ रखता है कि उसे परिभाषाओं की सीमा में आवद्ध नहीं किया जा सकता। उसकी प्रमुख विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए उपन्यास की परिभाषा के सम्बन्ध में मेरे विचार से इतना ही कहा जा सकता है कि—

उपन्यास में कल्पना के माध्यम से कोई कथा प्रस्तुत की जाती है—जिसका आधार मानव, अन्य जीव-प्रणाली, निर्जीव प्रकृति अथवा कोई भी हो सकता है। इस कथा में मनोरंजक तत्वों की पूर्ण रक्षा की जाती है।

यद्यपि अनेक दृष्टियों से यह परिभाषा भी पूर्णरूपेण सार्थक सिद्ध न होगी, किन्तु "उपन्यास" की अभिव्यक्ति में इससे पर्याप्त सीमा तक सहायता प्राप्त हो सकती है। पर यह निश्चित है कि उपन्यास का अर्थ दिन-प्रतिदिन इतना व्यापक होता जा रहा है कि उसकी कोई उचित परिभाषा देने में असमर्थता बनी रहेगी। स्वयं हिन्दी में ही उपन्यास-साहित्य के प्रारम्भिक काल से आज तक परिस्थितियों में इतना परिवर्तन हुआ है कि यदि उसे किसी परिभाषा के क्षेत्र में समेटा जाय तो प्राय: असम्भव सा होगा। प्रारम्भिक युग में उपन्यासकारों की दृष्टि में उपन्यास केवल मात्र मनोरंजन अथवा कौतूहल उत्पन्न करने के लिए रचे जाते थे। बाद में उनका उद्देश्य उपदेशात्मक अथवा सुधारात्मक हो गया। आज केवल मनोविज्ञान अथवा मनोविश्लेषण के माध्यम से व्यक्ति की परीक्षा, उसके अन्तस का अध्ययन करके ही जा रही है, और उपन्यासकारों में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण उपस्थित हो गया है।[1] आज मनोरंजन उपन्यास का उद्देश्य नहीं है। "शेखर: एक जीवनी", "सन्यासी", "कल्याणी" अथवा "दिव्या" में केवल मनोरंजन मात्र के दृष्टिकोण से पढ़ने वाले पाठकों को गहन निराशा ही होगी। अतः केवल इतना ही कहा जा सकता है कि मानवीय अनुभवों के समावेश से गद्य के रूप में जो पूर्ण कथा कही जाती है, वह उपन्यास ही है।

युग जीवन और उपन्यास

उपन्यास की परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि उपन्यासों का क्षेत्र प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य अथवा मनुष्येतर जीव और निर्जीव प्रकृति या कुछ भी हो सकता है पर

१. विशेष विवरण के लिए देखिए : अध्याय आठ।

सामान्यतः उपन्यास मानव जीवन का ही चित्रण करते हैं[१] और इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर उपन्यास लिखे गए हैं। यद्यपि किसी उपन्यासकार में आवश्यक प्रतिभा हो, तो उसकी रचना परिधि से कोई विषय बहिष्कृत नहीं हो सकता[२], फिर भी उपन्यासकारों का सम्बन्ध मानव जीवन से ही अधिक रहा है। जिस काल में उपन्यास की रचना होती है, उस युग की स्पष्ट अभिव्यक्ति उपन्यासों में होती है, इसीलिए मानवीय जीवन से उनका तादात्म्य स्थापित हो पाता है। उपन्यास की रचना प्रक्रिया के समूचे दौर में तत्कालीन युग जीवन सिमट आता है, वहीं उपन्यासकार की श्रेष्ठ सफलता स्वीकृत की जाती है। स्वभावतः प्रश्न उठ सकता है कि ऐतिहासिक उपन्यासों में तत्कालीन जीवन कैसे समेटा जा सकता है? पर यह स्पष्ट है कि ऐतिहासिक उपन्यास मात्र इतिहास नहीं हैं। इसमें किसी शासक के विजय, पराजय अथवा राजनीतिक षड्यन्त्रों का ब्यौरा मात्र ही नहीं प्रस्तुत किया जाता। इतिहासकार उपलब्ध सामग्री एवं प्राप्त शोध-कार्यों की पृष्ठभूमि में तत्कालीन युग की राजनीतिक घटनाओं एवं अन्य तथ्यों का विवरण और उनकी व्याख्या प्रस्तुत करता है। वहाँ कल्पना का उपयोग नितान्त रूप से भी नहीं होता। वह ऐतिहासिक उपन्यासकार तथ्यों की प्रामाणिकता में अपनी अपूर्व कल्पना का समावेश कर एक नए संसार की रचना प्रक्रिया में संलग्न होता है, तथा उसकी पूर्णता एक अद्भुत संसार का कल्पनात्मक विवरण के रूप में होती है, जिसे ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है। यह कल्पना उपन्यासकार के अपने जीवन के अनुभवों की भाव भूमि पर निर्मित होती है, और जीवन के अनुभव युग जीवन से निश्चित रूप से प्रभावित रहते हैं। अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि उपन्यास युग जीवन से पूर्णतया प्रभावित रहते हैं। हिन्दी में भी प्रारम्भ से ही युग जीवन का उपन्यासों में अत्यधिक महत्व रहा है।

---

१. "So daily life, whatever it may be really, is practically composed of two lives the tife in time and the life by values—and our conduct reveals a double allegiance...and what the story does is to narrate the life in time. And what the entire novel does, if it is a good novel—is to include the life by values as well; using devices here after to be examined."

—ई० एम फास्टर: ऐस्पेक्ट्स ऑव द नॉवेल, (जनवरी १९४४), लन्दन पृ० ४८-४९।

२. "Given the necessary genius, there is highly a theme that a modern novelist finds beyond his range."

—अर्नेस्ट ए० बेकर—द हिस्ट्री ऑव इंगलिश नॉवल, भाग १, (लन्दन), पृ० २९८।

हिन्दी में प्रारम्भिक युग उपन्यासकारों ने यद्यपि युगीन समस्याओं को उपन्यासों में प्रमुख स्थान देने का प्रयास किया, पर वह इसलिए अधिक महत्वपूर्ण न हो सका, क्योंकि उस ओर उनकी रुचि न थी। वह प्रयास केवल समस्याओं को वाह्य रूप से स्पर्श-मात्र कर लेने तक ही सीमित था। जहाँ ऐसा प्रयत्न होता था, वहीं उपन्यासकार उपदेशक बन बैठता था। उन प्रयासों में जीवन की गरिमा कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं के बराबर था, पर जो भी प्रयत्न हुए, उसमें अकुलाहट तथा उत्सुकता का पूर्ण आभास प्राप्त होता हैं। उस समय उपन्यासकारों के सम्मुख कोई दिशा न थी, किसी विशिष्ट शैली से उनका सम्बन्ध न था और किसी प्रक्रिया के संधिस्थल पर खड़े हो मात्र लिखना ही उनका उद्देश्य न था। उनका कार्य अपने लिये स्वयं पथ निर्मित करने और दिशा के अन्वेषण का था। अपने लक्ष्य का स्वरूप भी स्वयं उन्हें ही निर्धारित करना था। बल्कि कहना चाहिए कि यह हिन्दी उपन्यासों की शैशवावस्था थी और इस युग में हिन्दी सेवियों के सम्मुख सर्वप्रथम समस्या हिन्दी उपन्यासों के लिए उपयुक्त वातावरण निर्मित करना, तथा उसके लिए अधिकाधिक पाठक तैयार करना था। अतः उस युग में विदेशी उपन्यासों एवं बंगला के उत्कृष्ट उपन्यासों का अनुवाद करके लोगों को एक दिशा प्रदान करने का कार्य प्रारम्भ किया गया। पर जैसा कि ऊपर कहा गया है कि इस युग के उपन्यासकारों का प्रमुख दृष्टिकोण हिन्दी उपन्यासों के लिए ऐसा उपयुक्त और लोकप्रिय वातावरण निर्मित करने का था, जिसमें गद्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण साहित्यिक विधा, जो अभी तक एक प्रकार से स्पर्शहीन ही थी, अधिकाधिक पाठकों से अपना निकटतम तादात्म्य स्थापित कर सके, अथवा हिन्दी के अधिकाधिक पाठक तैयार हो सकें। इसके लिए उन्होंने उपन्यासों में कल्पनात्मक और रोमांचकारी स्थलों को युग और समाज की अपेक्षा अधिक महत्व प्रदान किया, जिससे उन कथाओं में यथेष्ट मात्रा तक कौतूहल- वृत्ति एवं रोचकता सुरक्षित रह सके, और पाठक उन्हें नीरस कह अस्वीकृत न कर दें। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनकी कल्पनाशक्ति ऐसी घटनाओं के अन्वेषण में व्यस्त रहती थी, जिसे पढ़कर पाठक उछल पड़ते थे, और उसी स्तर की अन्य कृतियों को पढ़ने के लिए व्यग्र रहते थे। यह प्रसिद्ध ही है कि बाबू देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकांता सन्तिति'' को पढ़ने के लिए ऐसे असंख्य पाठकों ने, जो हिन्दी भाषा से पूर्णतया अपरिचित थे, हिन्दी सीखी। इस प्रकार इस युग के उपन्यासकारों ने हिन्दी उपन्यासकारों की सशक्त पीठिका उपस्थित करने का उत्तरदायित्व पूर्ण करने का निश्चय किया था। प्रश्न उठता है, क्या उनके प्रयास महत्वहीन थे? अथवा उनकी कृतियों को उपन्यास साहित्य में न सम्मिलित किया जाए? इन प्रश्नों को लेकर साहित्यिक अखाड़ों में जो विवाद हुए हैं, उनके पीछे कोई तर्क नहीं है। जब कोई साहित्यिक विधा नवीन रूप में प्रारम्भ होती है, तो आरम्भ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न उसके निर्माण का होता है। कोई साहित्यिक विधा अपने समस्त गुणों से युक्त पूर्ण सशक्त रूप में कभी जन्म नहीं लेती, और प्रारम्भिक हिन्दी

उपन्यास साहित्य इसका अपवाद न था। वस्तुतः हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासकारों ने अपने एक महती उत्तरदायित्व को सफलतापूर्वक पूर्ण किया, यह था भविष्य में विकासोन्मुख होने वाले हिन्दी उपन्यास-साहित्य का पथ प्रशस्त करना, तथा उनके लिए नवीन दिशा निर्मित करना। इसमें उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

फिर भी इससे यह अनुमान कदापि न होना चाहिये, कि इन उपन्यासों में युगीन समस्याओं को किंचित-मात्र भी स्थान नहीं दिया गया। युगीन समस्याओं को स्थान मिला अवश्य, पर उस सूक्ष्म और यथार्थवादी रूप से नहीं, जैसा आगे चलकर प्रेमचन्द और प्रेमचन्दोत्तर-कालीन उपन्यासकारों की कृतियों में प्राप्त होता है। आगे चलकर अनेक उपन्यासकारों ने समाज या धर्म को सुधारने की चेष्टा में ही उपन्यासों की रचना की। भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, लाला श्रीनिवास दास, राधाकृष्णदास, किशोरीलाल गोस्वामी, मेहता लज्जाराम शर्मा आदि ऐसे ही उपन्यासकार थे, जिन्होंने युगीन समस्याओं को अपने उपन्यासों में स्थान देने का प्रयास किया। इन तथा अन्य अनेक उपन्यासकारों ने समाज के पतन की ओर ध्यान दिया, और उसका चित्रण भी किया। घरेलू जीवन से सम्बन्ध रखने वाले पारिवारिक उपन्यासों की रचना भी की गई।

हिन्दी उपन्यासकारों की यह सुधारवादी भावना प्रारम्भिक युग में जितनी प्रमुख रही, उतनी आगे चलकर न रही। प्रेमचन्द के उपन्यासों में यह दृष्टिकोण प्राप्त होता है, और उनके समकालीन उपन्यासकारों ने भी इस दृष्टिकोण की पूर्ण उपेक्षा नहीं की, पर बाद में उपन्यासों का दृष्टिकोण धीरे-धीरे वैयक्तिक होता गया, तब वहाँ सुधारवादी दृष्टिकोण की भावना न बनी रह सकी। प्रेमचन्द काल में मध्यम वर्ग को अधिक प्रधानता दी गई और तत्कालीन उपन्यासों में युगीन जीवन के अत्यन्त विशद चित्र प्राप्त होते हैं। उपन्यासों के क्षेत्र में प्रेमचन्द के पदार्पण ने हिन्दी उपन्यास-साहित्य को नवीन भव्यतर दिशा प्रदान की। कल्पना-लोक से निकाल कर यथार्थ की कठोर-भूमि पर उपन्यासकारों को लाने का महान् कार्य प्रेमचन्द ने किया। प्रेमचन्द प्रथम भारतीय उपन्यासकार हैं जिन्होंने किसानों और निम्न मध्यवर्ग का चित्रण बड़ी तत्परता और निष्पक्षता से किया है। शोषक और शोषित-वर्ग का संघर्ष, पूँजीवादी व्यवस्था के कठोर दमन-चक्र, नवीन धर्म का स्वरूप और प्रगतिशील समाज की नवरचना से उनके उपन्यास भरे पड़े हैं।

उपन्यास का जीवन से सम्बन्ध होने के कारण और व्यक्ति तथा समाज के जीवन के मूल में नारी की शक्ति के निहित होने के कारण उपन्यासों में नारी का चित्रण न होना असम्भव था, और असंभव है। अस्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर आधुनिक काल तक सभी उपन्यास लेखकों ने नारी को मानवता, राष्ट्र, समाज, परिवार और उसके अपने व्यक्तिगत जीवन के परिप्रेक्ष्य में रखकर उसका चित्रण किया है, उसके जीवन का मूल्य आंका है। उन्होंने नारी जीवन की अनेक समस्याओं के

साथ सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक पाखंडों की ओर ध्यान दिया। साथ ही, उन्होंने नारी की दयनीय परिस्थिति, उसे नई दिशा प्राप्त करने की आवश्यकता और उसमें नवोन्मेष संचार करने का प्रयास किया। नारी समस्या, उसकी प्रगति और सामाजिक संघर्ष में उसे उचित स्थान देने की ओर ही उपन्यासकारों का विशेष ध्यान आकर्षित हुआ। उनकी कृतियों में नारी-जीवन के मार्मिक प्रसंग, नारियों की प्रगतिशीलता की जोरदार दलीलें, उनके पिछड़े होने पर तीखे व्यंग और उनकी समस्याओं के समाधान का अपना आदर्शवादी ढंग-सभी कुछ प्राप्त होता है।[1] यह स्वाभाविक भी था। भारतीय नारियों के नवोत्थान की दृष्टि से यह युग अत्यन्त महत्वपूर्ण था। शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार होता जा रहा था, नवीन चेतना विकसित हो रही थी, और रूढ़ियाँ समाप्त हो रही थीं। इन परिस्थितियों में नारियों का प्रगति की दिशा में चरण बढ़ाना स्वाभाविक ही था। पर साथ ही उनकी कुछ ऐसी समस्याएं थीं, जिनकी ओर नवोत्थान की धुन में ध्यान नहीं दिया जाता था। नारियों की शिक्षा का स्वरूप कैसा हो, समाज में उनकी स्थिति किस प्रकार हो, राजनीति में वे किस प्रकार भाग ले सकती हैं, इस काल के उपन्यासों ने इसका बीड़ा उठाया और नारियों को तितली बन, जीवन व्यतीत करने से रोकने का प्रयास किया। इस प्रकार प्रायः सभी उपन्यासकारों ने युग की समस्याओं को अपने से पिछले युग की तुलना में अधिक गहराई से परखा, और उन्हे हृदयंगम कर, चेतना की कसौटी पर कपड़-छान कर मंजी हुई तार्किक शक्ति से अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया।

किन्तु युग प्रत्येक क्षण परिवर्तनशील है। विश्व हर क्षण एक नई करवट लेता रहता है। प्राचीनता का विरोध और नवीनता का आह्वान हमेशा होता है। विज्ञान लोगों को नवीन तार्किक शक्ति प्रदान करता और प्राचीन रूढ़िवादी परम्पराओं, समाज की संकुचित सीमाओं तथा जीवन में स्थिरताओं को आघात पहुँचाता है। इससे जीवन में विविधता की आकांक्षा उत्पन्न होती है। प्रेमचन्द के बाद के उपन्यासकारों ने जीवन की समस्याओं को तर्क की कसौटी पर कस उनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या की। आदर्शवाद मात्र अब उनकी दृष्टि में न रह गया था। वे अब मानवीय समस्याओं के मूल कारणों को खोज निकालना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने मानव के अन्तरमन में बैठ कर उसके अन्तर्द्वन्द्वों और आन्तरिक प्रवृत्तियों को समझने और उनके अध्ययन करने का प्रयास किया। उनके अनुसार प्रत्येक मानवीय समस्या वस्तुतः मानव की दमित-शमित वासनाओं, उसकी कुण्ठाओं, वर्जनाओं और अतृप्त आकांक्षाओं के कारण उत्पन्न होती है। मानवीय जीवन की समस्त प्रक्रियाएं मानव के अवचेतन मन से नियंत्रित होती हैं। अब फ्रायड, एडलर, युंग आदि पश्चिमी मनोवैज्ञानिक पंडित भारतीय उपन्यासकारों के आदर्श हो गए। अतः प्रेमचन्दोत्तरकाल में युगीन समस्याओं को उतना स्पर्श करने का प्रयत्न पुनः नहीं किया

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए : अध्याय आठ।

गया, जितना मानव के अध्ययन करने का। जो प्रवृत्तियां प्रेमचन्द और उनके सम-कालीन उपन्यासकारों को प्रभावित करने में असफल रहीं, या वे प्रभावित होते हुए भी उनकी अवहेलना करते रहे, और जबर्दस्ती समस्याओं पर आदर्शवादी आवरण डालने का प्रयास किया, उन्हीं प्रवृत्तियों को अब उपन्यासकारों ने अत्यधिक महत्ता प्रदान की। मानव-मन में अनेक प्रकार के भाव ज्वार-भाटे की भांति उठते-गिरते, बनते-बिगड़ते रहते हैं, उनका सम्यक् चित्रण करना ही नवीन उपन्यासकार अपनी सार्थकता समझने लगा। प्रेमचन्द ने व्यक्ति को एक सामाजिक इकाई के रूप में कल्पित करके उसे अपने साहित्य का आलम्बन बनाया था, और उनके प्रायः सभी सम-सामयिक उपन्यासकारों ने व्यक्ति की सत्ता एक सामाजिक इकाई के रूप में ही स्वीकृत की थी। किन्तु प्रेमचन्दोत्तर-कालीन उपन्यासकारों ने नवीन भावभूमियों को ग्रहण कर सम्मिलित स्वर में यह घोषणा की, कि व्यक्ति तो स्वयं में एक इकाई है, आवश्यक नहीं कि वह सामाजिक इकाई ही हो। अतः मनोविश्लेषण तथा अंतर्चेतना-वाद के सूक्ष्म विवेचन से मानव जीवन की समस्याओं का नवीन अध्ययन और उनका मनोवैज्ञानिक तर्क-पूर्ण समाधान प्रस्तुत करने का कार्य प्रमुख हो गया। व्यक्ति-चित्रण की प्रवृत्ति के अन्तर्गत नारी जीवन की भी अनेक समस्याओं का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया गया, और नारी की अन्तर्वृत्तियों का मार्मिक उद्घाटन कर नारी के त्याग, ममत्व और स्नेह-भावना को गौरव प्रदान किया गया। नारी का चित्रण विश्रृंखलित समाज, टूटती मर्यादाओं और सामाजिक नव-निर्माण की पृष्ठभूमि में किया गया। सम्प्रति युगीन समस्याओं को उतना महत्व नहीं दिया जा रहा है, जितना मानव मन की रहस्यमय गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास किया जा रहा है। व्यक्ति को समाज से ऊपर महत्व प्रदान किया जा रहा है। इसका कारण यह है कि मानव-मन के भीतर अनन्त रहस्यमय एक भिन्न लोक है, जिसकी अपनी निजी सत्ता है, और वह किन्हीं भी बाह्य परिस्थितियों से अनियंत्रित हैं। इसलिए वह प्रेमचन्द की सामा-जिक परम्परा का परित्याग कर, अर्थात् बाह्य सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण का पथ छोड़कर, मानव के अज्ञात चेतना के गहरे स्तरों में प्रविष्ट होकर उसके भीतर दमित वासनाओं तथा कुंठित भावनाओं का विश्लेषण करने का प्रयास करते हैं। उनकी उपन्यास कला का विकास वैयक्तिक समस्याओं के चित्रण द्वारा व्यष्टि तथा समष्टि में सामंजस्य खोजने का द्योतक है।" आज के युग में प्रायः सभी उपन्यासकारों ने अपना यह धर्म बना लिया है, इसीलिए प्रेमचन्दोत्तर-कालीन उपन्यासों में युगीन समस्याओं को उतना महत्व नहीं प्राप्त हो सका जितना व्यक्ति को, यद्यपि युगीन समस्याएं पूर्ण-तया उपेक्षित भी नहीं रहीं। किन्तु आलोच्य विषय की दृष्टि से युगीन समस्याओं का चित्रण पूर्ण रूप में हुआ हो, या आंशिक रूप में, या बिल्कुल ही न हुआ हो, केवल व्यक्ति का विश्लेषण हुआ हो, नारी की उपेक्षा और अवहेलना तो कोई उपन्यासकार नहीं कर सका।

उपन्यास के रचना-तत्वों में पात्र-योजना

वैसे तो उपन्यास लिखने में कोई नियम विशेष बनाकर लेखक को उन नियमों की परिधि में बंधे रहने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता, किन्तु फिर भी उपन्यास-रचना के कुछ आधार बन गये हैं, जिनका आश्रय ग्रहण कर उपन्यासकार आगे बढ़ता है। इन आधारों को उपन्यास के तत्वों की भी संज्ञा दी जा सकती है। प्रायः उपन्यासों के छः तत्वों की कल्पना की जाती है। यह आवश्यक नहीं कि जब तक किसी रचना में इन सभी तत्वों का समावेश न किया जाए, तब तक उसे उपन्यास की संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता। आज केवल कुछ चरित्रों को लेकर ही उपन्यासों की रचना की जाती है, उनमें कथानक के नाम पर कुछ भी विशेष नहीं रहता। जैनेन्द्र के अधिकांश उपन्यास इसी श्रेणी में आते हैं। ऐसे अनेक उपन्यास मिलेंगे, जिनमें अनेक तत्वों की उपेक्षा प्राप्त हो सकती है। फिर भी अधिकांश कृतियों में सभी तत्वों का कुछ न कुछ समावेश हो ही जाता है। साधारणतया उपन्यास के छः रचना तत्व हैं—कथानक, कथोपकथन, चरित्र-निर्माण, देशकाल अथवा वातावरण, विचार एवं उद्देश्य, तथा भाषा-शैली। उपन्यास के रचना-तत्वों के सम्बन्ध में आलोचनात्मक पुस्तकों में बहुत कुछ लिखा जा चुका है,[1] और उनका यहाँ वर्णन करना न केवल पिष्टपेषण मात्र होगा, वरन् आलोच्य-विषय की दृष्टि से अनर्थक भी।

उपन्यास के रचना-तत्वों में यों तो सभी आवश्यक है, और उनके परस्पर सामंजस्य से ही अच्छी कृतियों का निर्माण होता है, पर यदि अधिक सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षण किया जाय तो उपन्यास में पात्रों का महत्व अधिक लक्षित होता है। उपन्यास मानवीय जीवन की प्रक्रियाओं का वर्णन करता है, और ये पात्र उपन्यास के संसार में उसका क्रियात्मक रूप प्रदान करते हैं। वस्तुतः उपन्यासकार आत्माभिव्यक्ति को साकारता प्रदान करने के हेतु अनेक शब्द-मूर्तियों की रचना करता है, उन्हें रूप, अनुभाव प्रदान कर उनमें प्राण संचारित करता है, उनमें उद्धरण चिह्नों में बातचीत करवाता है, और कदाचित् उनसे एक सा व्यवहार भी करता है—ये

---

१. (१) ई० एम० फॉर्स्टर : ऐस्पेक्ट्स ऑव द नॉवेल, (जनवरी १९४४), लन्दन।
(२) एडविन म्योर : द स्ट्रक्चर ऑव द नॉवेल, (१९४६) लन्दन।
(३) हेनरी जेम्स : द आर्ट ऑव फिक्शन, (१९४८), न्यूयार्क।
(४) रैल्फ फॉक्स : द नॉवेल ऐण्ड द पीपुल।
(५) विलियम हेनरी हडसन : ऐन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर, (१९४९), लन्दन।
(६) पर्सी लब्बाक : द क्रैफ्ट ऑव फिक्शन, (१९४९), लन्दन।

शब्द-मूर्तियां ही उपन्यास के पात्र हैं।[1] यद्यपि वे पूर्णतया कल्पित होते हैं, और उपन्यासकार की रचनामात्र होते हैं, फिर भी वे इतनी कुशलता से प्रस्तुत किए जाते हैं कि पूर्णतया वास्तविक प्रतीत होते हैं, उनका हमारे जीवन के साथ निकटतम तादात्म्य होता है। उपन्यास-रचना के पीछे केवल एक ही कारण होता है, वह जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयास करता है।[2] अतः उपन्यास के पात्र भी साधारणतः मानव ही होते हैं। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्येतर प्राणी उपन्यास के पात्रों का रूप नहीं ग्रहण कर सकते। मनुष्येतर प्राणियों को उपन्यास के पात्रों के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, पर पूर्ण असफलता के साथ, क्योंकि अभी तक उनकी अपनी जीवन प्रक्रियाओं, उनकी अन्तर्वृत्तियों तथा उनके मनोविज्ञान से हम पूर्णतया अपरिचित हैं। अतः प्रायः मानवीय पात्रों की रचना उपन्यास में की जाती है। कथानक उपन्यास का एक अनिवार्य तत्व है, और उसमें विभिन्न घटनाओं का संगुफन किया जाता है। इन घटनाओं का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य अथवा मनुष्येतर प्राणियों से सम्बन्ध होता है। क्योंकि पूर्ण कल्पित घटनाओं का वर्णन उपन्यास में नहीं किया जाता, जो कभी किसी प्राणी के साथ घटी ही न हों। इन घटनाओं को विकास क्रम की अवस्था से पार कर उपन्यास के अन्तिम उद्देश्य तक ले जाने की प्रक्रिया में जो भी प्राणी सहयोग देते हैं वे चाहे मनुष्य हों, या मनुष्येतर प्राणी हों, पात्र की संज्ञा से ही अभिहित होते हैं।

यद्यपि ये पात्र कल्पित होते हैं, फिर भी हमारी ही भाँति उनके सत्य एवं यथार्थ मानव होने का भ्रम होता है।[3] "रंगभूमि" के सूरदास और गाँधी जी में अन्तर है। उपन्यास के पात्रों में और यथार्थ जीवन के पात्रों में अन्तर का प्रमुख कारण यह है कि उपन्यास के पात्रों के आन्तरिक जीवन से हम पूर्णतया परिचित होते हैं। उपन्यासकार अपने पात्रों को पूर्णतया चीर-फाड़ कर उनको इस रूप में प्रस्तुत करता है, कि उनके सम्बन्ध में कुछ भी रहस्यात्मक नहीं रह जाता। इसके विपरीत वास्तविकता में यदि कोई व्यक्ति जब तक यह नहीं कहता, उसने ऐसा अनुभव किया, या वह किया, हम उनकी आन्तरिक वृत्तियों से पूर्णतया अपरिचित

---

१. "The novelist makes up a number of word masses roughly describing himself...gives them names and sex assigns them plausible gestures, and causes them to speak by the use of inverted commas, and perhaps to behave consistently. These word masses are his characters."

—ई० एम० फॉर्स्टर : ऐसपेक्ट्स ऑव द नॉवेल, (जनवरी—१९४४), लन्दन, पृष्ठ ६४।

२. हेनरी जेम्स : द आर्ट ऑव फिक्शन, (१९४८), न्यूयार्क, पृष्ठ ५।

३. पर्सी लब्बाक : द क्रैफ्ट ऑव फिक्शन, (१९५४), लन्दन, पृष्ठ ६८।

रहते हैं। हम उनकी वाह्य प्रवृत्तियों से ही उनके संबंध में कोई धारणा निश्चित करते हैं, उनकी अच्छाइयों बुराइयों का निर्णय करते हैं, और उनसे घृणा या प्रेम करने के दायित्व को समझने का प्रयास करते हैं। इतिहासकार भी इतिहास में पात्रों का वर्णन करता है। उसका पात्रों से उतना ही सम्बन्ध होता है, जितना उपन्यासकार का, किन्तु वह केवल उनके वाह्य अस्तित्व को ही इतिहास में प्रदर्शित कर पाता है। किसी कान्फ्रेंस में यदि गाँधी जी यह न कहें कि इस पर वे अतीव प्रसन्न हुए हैं, इनके अगल वगल बैठने वाला व्यक्ति इससे अपरिचित रहेगा, कारण वह अपने पास बैठे हुए गाँधी जी के अन्तर्द्वन्द्वों को पूर्णतया जान सकने में असमर्थ है, और जब तक गाँधी जी स्वयं अपने भाव न प्रकट करें, सर्वसाधारण में उसकी घोषणा नहीं की जा सकती। किसी के जीवन के रहस्यों से कोई कैसे परिचित हो सकता है जब तक कि वह स्वयं अपने जीवन से सम्बन्धित रहस्यों की स्पष्ट घोषणा न करे। इतिहासकार इसीलिए बावर, शाहजहाँ, अकबर आदि की वाह्य क्रियाकलापों का वर्णन कर सका है। उनके जीवन के रहस्यों से हम पूर्णतया अपरिचित हैं, और सदैव ही अपरिचित रहेंगे। पर इसके विपरीत उपन्यासकार अपना चरण आगे बढ़ाता है। यदि अपने उपन्यास में बावर को पात्र बनायेगा, तो उसके सम्बन्ध में ऐसे रहस्योद्घाटन करेगा और उसके जीवन की अन्तर्वृत्तियों को इस प्रकार खोल कर स्पष्ट रूप से हमारे सम्मुख उपस्थित करेगा कि बावर के जीवन का कोई रहस्य हमसे अपरिचित नहीं रहेगा, और वह हमारे अधिक निकट आ जायगा। इस प्रकार उपन्यास एक ऐसे पात्र का निर्माण करेगा जो इतिहास का बावर नहीं बल्कि उससे भिन्न प्रकार का बावर होगा। उपन्यास कला की अन्यतम प्रक्रिया है, और उसके कुछ अपने नियम होते हैं, जो हमारे दैनिक जीवन के नियमों से पूर्णतया भिन्न होते हैं। उपन्यास के पात्र तभी तक सत्य और यथार्थ रूप हैं, जब तक वे इन नियमों के अनुसार परिचालित होते हैं।[१]

प्रश्न स्वभावतः उठता है कि उपन्यास के पात्रों का स्वरूप किस प्रकार का हो। कुछ उपन्यासों में पात्र इस प्रकार प्रस्तुत किए जाते हैं कि वे अपनी इच्छानुसार कुछ भी कर सकते हैं। जब भी उन्होंने इच्छा प्रकट की, उपन्यासकार ने ऐसे साधन प्रस्तुत कर दिए कि वह अचानक धनी हो गया, मिलों का स्वामी हो गया, उसके पास बंगले, मोटर-गाड़ियाँ सभी सुलभ हो गई। कभी ऐसा भी होता है कि एक पात्र इस सीमा तक सहनशील है कि सहनशीलता की स्वाभाविक सीमा का अतिक्रमण हो जाता है। फिर भी उपन्यासकार उन्हें इस रूप में उपस्थित करता है कि वे दुःख के वाद दुःख, ठोकर के बाद ठोकर सहन करते हुए बिना किसी विरोध के चुपचाप आत्मपीड़न में अपना जीवन व्यतीत करते जाते हैं, यहाँ तक कि उनकी

---

१. ई० एम० फॉर्स्टर : ऐस्पेक्ट्स ऑव द नॉवेल, (जनवरी १९४४), लन्दन, पृष्ठ ८७।

पात्रों की अवतारणा होनी चाहिए,[1] जिससे उपन्यास की सत्यता में किसी को कोई सन्देह उत्पन्न न हो। प्रसिद्ध उपन्यासकार थैकरे का कथन है कि मैं अपने उपन्यास में पात्रों को पूर्णतया स्वतन्त्र छोड़ देता हूँ, और मैं उनके वश में रहता हूँ। मुझे चाहे जहाँ ले जा सकते हैं।[2] अतः उपन्यास में पात्रों के स्वतन्त्र विकास की ओर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए, उन पर उपन्यासकार का कम से कम नियंत्रण होना चाहिए। जिससे वे पूर्ण सत्य से प्रतीत हों एक उपन्यास में पात्र तभी तक सत्य होते हैं, जब तक उपन्यासकार उनके सम्बन्ध में प्रत्येक बात जानता है। उसके लिए पात्रों का कोई रहस्य छिपा नहीं रहता। यह दूसरी बात है कि पात्रों के सम्बन्ध में वे सारी बातें जो उपन्यासकार जानता है, अपने पाठकों को बताना आवश्यक न समझे, पर वह ऐसा वातावरण निर्मित करता है, जिसमें पात्रों के सम्बन्ध में अनेक बातें न बताई जाने के बावजूद भी स्पष्ट हो जाती है, और पाठक विश्वास कर लेता है, कि इस परिस्थिति में इस पात्र को इसी प्रकार का आचरण करना स्वाभाविक था, क्योंकि उसका चरित्र इस प्रकार का था। तभी वे पात्र पाठकों के साथ अधिक निकट सम्बन्ध स्थापित कर पाते हैं, और उनकी सत्यता पर पाठकों को सहज विश्वास भी हो जाता है।

औपन्यासिक पात्र हमारे जाने पहचाने हों, उनसे हमारा निकटतम सम्बन्ध हो, इसका यह तात्पर्य नहीं कि औपन्यासिक पात्र हमारी हू बहू नकल करें। कोई भी पात्र किसी जीवित व्यक्ति की पूर्ण प्रतिकृति नहीं करता इससे उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नष्ट हो जाता है। प्रायः उपन्यासकारों ने जीवित व्यक्तियों को पूर्ण अंकन उपन्यास के पात्रों में करने का प्रयास किया है पर इसमें उन्हें सफलता नहीं प्राप्त हुई है और उनके उपन्यास पूर्णतया असफल हुए है। पात्रों की सजीवता बनाए रखने का सबसे कम उपाय यह है कि उनके रूप में किसी जीवित व्यक्ति का पूर्ण प्रतिबिम्ब स्थापित किया जाय।[3] उपन्यास के पात्र वस्तुतः वस्तुजगत के व्यक्तियों द्वारा अनुप्राणित होते हैं, पर वे उनका रेखा प्रतिरेखा रूप कदापि नहीं होते।

---

१. हेनरी जेम्स : द आर्ट ऑव फिक्शन, (१९४८), न्यूयार्क, पृष्ठ ९।

२. "I do not control my character. I am in their hands and they take me where they please."

—डब्लू० एच० हडसन: एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर (१९४९) लन्दन, पृ० १४४।

३ "It will be found that, as a rule, a set and formal description, given item by item, is one of the least successful ways of making a character alive before use."

—डब्लू० एच० हडसन : एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर, (१९४९), लन्दन, पृ० १४६।

उपन्यासकार के जीवन में अनेक व्यक्तियों का प्रवेश होता है, और उसके सम्पर्क में आए हुए व्यक्तियों में से अधिकांश उसे प्रभावित भी करते हैं। वह अपने कथानक की आवश्यकतानुसार एक पात्र की कल्पना करता है। तत्पश्चात् वह अपने सम्पर्क में आए हुए व्यक्तियों में से किसी का मुँह, किसी की आँखें, किसी का मन, किसी की काया, किसी की अन्तर्वृत्तियाँ किसी का स्वभाव, किसी का चरित्र और किसी की अन्य विशेषताएं—इन सब को वह अपने उसी कल्पित रूपरेखा की सीमा में एकत्रित कर उनमें प्राण भरता है, और इस प्रकार एक सृष्टि के भीतर नवीन सृष्टि का निर्माण करता है। उसके द्वारा निर्मित इसी नई सृष्टि को पात्र की संज्ञा दी जा सकती है। अतः पात्र हमारे मानवीय जीवन से सम्बन्ध रखते हुए भी किसी की पूर्ण प्रतिकृति नहीं होते, उनका अपना निजी अस्तित्व भी होता है।

उपन्यास में पात्रों की संख्या कितनी होनी चाहिए, यह कथानक की सीमा के साथ ही उपन्यासकार के व्यक्तित्व और उसकी कला पर भी निर्भर होता है। व्यक्तिगत जीवन में हम प्रायः ऐसे व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं जो इतने मिलनसार और सहृदय होते हैं, कि शीघ्र ही उनसे अपनत्व का भाव स्थापित हो जाता है। दूसरे शब्दों में उन व्यक्तियों का व्यक्तित्व बहिर्मुखी होता है, और उनसे व्यक्तिगत जीवन में जो भी व्यक्ति उनके सम्पर्क में आता है, उसका हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों के मित्रों की संख्या अधिक होती है। इसके विपरीत अंतर्मुखी प्रवृत्ति वाला व्यक्ति किसी से मिलना जुलना पसन्द नहीं करता, और अपने ही तक सीमित रहना अधिक रुचिकर समझता है। इन व्यक्तियों में उनका अहं अत्यन्त प्रबल होता है, धीरे-धीरे उनका व्यक्तिवादी दृष्टिकोण शक्ति प्राप्त करता रहता है। इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसे व्यक्तियों के मित्र होते नहीं, पर उनकी संख्या अधिक नहीं होती। उपन्यासकारों को भी इन्हीं वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। कुछ उपन्यासकार बहिर्मुखी व्यक्तित्व के होते हैं, कुछ अंतर्मुखी व्यक्तित्व के। पात्रों की संख्या पर उपन्यासकार की इन विशेषता का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। बहिर्मुखी व्यक्तित्व वाला उपन्यासकार स्वभावतः कथानक की सीमा अत्यन्त विस्तृत रखना चाहेगा, और प्रायः सभी प्रकार के पात्रों का चित्रण उपस्थित करना चाहेगा। यह आवश्यक नहीं कि विस्तृत कथानक उपस्थित करने की इच्छा के साथ वह सभी पात्रों का चरित्र चित्रण भी सफलतापूर्वक उपस्थित कर सके, यह तो उसकी कला निपुणता पर निर्भर होता है। इसके विपरीत अंतर्मुखी प्रवृत्ति का उपन्यासकार कथा का परिवेश सीमित रखेगा और कम ही पात्रों से अपना कार्य चलाने का प्रयास करेगा। पात्रों की संख्या पर कथानक के आधार का भी प्रभाव पड़ता है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों के लिए जीवन का विशाल चित्रपट चुना था और उन्होंने समग्र जीवन को उपन्यास की सीमा में बांधने का प्रयास किया था। इसीलिए उनके उपन्यासों में पात्रों का बाहुल्य है। अधिक पात्रों को रखने का लोभ न संवरण करने के कारण उनके सफल निर्वाह में उपन्यासकार अपनी असमर्थता का अनुभव करता है। परिणामस्वरूप या तो पात्र

बिना किसी कारण बीच उपन्यास से गायब हो जाता है, या उसे आत्महत्या करनी पड़ती है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में ऐसा बहुत हुआ है। जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों के लिए लघु आकार वाले कथानकों का निर्वाचन किया है। उन्होंने वस्तुतः चरित्रों को अधिक महत्ता प्रदान की है। अतः दो तीन पात्र लेकर उनके चरित्र का अध्ययन करने का प्रयास किया है। इसीलिए कथानक के नाम पर कुछ घटनाओं का संगुफन इस प्रकार किया गया है, जिससे उन पात्रों का चरित्र अधिक से अधिक स्पष्ट हो सके। जैनेन्द्र के उपन्यासों में इने गिने पात्र ही पूर्ण कथा का निर्माण करते हैं। पात्र योजना में लेखक को यथेष्ट मात्रा में सतर्कता रखनी पड़ती है, क्योंकि अनावश्यक रूप से पात्रों को रख देने से, जिनका कथानक की गतिशीलता में कोई विशेष योग-दान नहीं होता, उपन्यास की प्रभावशीलता समाप्त हो जाती है। पात्र कथानक को उपन्यास के निश्चित उद्देश्य तक पहुँचने में सहायता देते हैं,[1] इसीलिए ऐसे पात्रों की अवतारणा नहीं की जाती, जिनका कोई काम नहीं होता और वे निठल्ले होते हैं। कुछ सिद्धान्तवादी और मत-विशेष का प्रचार करने वाले उपन्यासकार कुछ ऐसे ही निठल्ले पात्रों का निर्माण करते हैं, जिनका कथानक के विकास में कोई हाथ नहीं होता। वह केवल उनके मतों का व्याख्या कर उनका प्रचार करता हुआ ही दृष्टि-गोचर होता है। वह पात्र उपन्यास की कथावस्तु में भली-भाँति नहीं मिल पाता और वह नितान्त ऊपर से जबदस्ती थोपा हुआ प्रतीत होता है। यशपाल के "दिव्या" में मारीश इसी प्रकार का पात्र है। यद्यपि यशपाल ने उसे ऐसा चरित्र करने का प्रयास किया है, जैसे उसका कथानक के विकास में प्रमुख स्थान हो, पर इसमें उन्हें सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। मारीश उपन्यास में समय-समय पर प्रकट होकर यशपाल के मन, यानी कि मार्क्सवाद की व्याख्या कर उसकी श्रेष्ठता एवं उपयोगिता सिद्ध करता हुआ उन्हें अपनाने का परामर्श देता है। लेखक भले ही इस प्रकार के पात्रों को प्राणवान बनाने का भरसक प्रयत्न करे, वे कोई स्थाई प्रभाव डालने में, असमर्थ प्रायः ही रहते हैं। पाठक उस पात्र के आते ही उकताकर उतने पृष्ठ छोड़ आगे बढ़ जाता है, जितने पृष्ठ अकेले वह पात्र अपने सिद्धांतों से घेरे रहता है। क्योंकि वह जानता है कि इस पात्र के प्रकट होने से पूर्व कथानक जहाँ था इस पात्र के चले जाने के पश्चात् भी कथानक वहीं का वहीं रहेगा। पाठकों को इस प्रकार के पात्रों से एक प्रकार से चिढ़ सी हो जाती है। लेखक प्रायः चुने हुए पात्रों को लेकर ही कथा का निर्माण करते हैं, जो कथानक की गतिशीलता के लिए अत्यन्त आवश्यक होते हैं। लेखक इन पात्रों के चरित्र-चित्रण में अपनी सारी कला का उपयोग करता है और भरसक उन्हें प्राणवान बनाने का प्रयत्न करता है। निर्जीव पात्र न पाठकों को अपनी ओर आकर्षित कर पाते हैं, और न उपन्यास के प्रभाव को ही स्थायित्व प्रदान कर पाते हैं। इसीलिए पात्र कथावस्तु की आवश्यकतानुसार ही निश्चित किए जाते

---

१. पर्सी लब्बाक : द क्रैफ्ट ऑव फिक्शन, (१९५४), लंदन, पृष्ठ ६९।

हैं, और उन्हें जहाँ तक सम्भव हो सकता है, अत्यधिक प्राणवान बनाने का प्रयास होता है, जिससे वे स्वाभाविक हों, और उनकी सत्यता पर सबको विश्वास हो।

भेदोपभेद की दृष्टि से पात्रों के दो भेद किए जा सकते हैं, प्रधान पात्र, तथा गौण पात्र। प्रधान पात्र कथानक का नेतृत्व करते हैं और घटनाओं में उनका प्रमुख भाग होता है। नायक, नायिका, सहनायक, और सहनायिका इन्हीं प्रमुख पात्रों में होते हैं, जिन पर सम्पूर्ण कथानक आश्रित होता है। उपन्यास में इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त कुछ गौण पात्र भी होते हैं जो कथानक की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं होते।। वे केवल साधन रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। उनका कार्य प्रमुखतः मुख्य पात्रों के चरित्र को स्पष्ट करने एवं उनकी महत्ता प्रदान करने के लिए ही होती है। गौण पात्र प्रायः कथानक को तीव्रता प्रदान करने, वातावरण में परिवर्तन लाने और वातावरण की सृष्टि करने के लिए ही होते हैं। "त्यागपत्र" में मृणाल का पति इसी प्रकार का गौण पात्र है। कथानक के विकास में उसका विशेष महत्व नहीं है, वह केवल अपनी पत्नी को घर से निकाल कर कथानक को तीव्रता प्रदान करता है, क्योंकि इसके पश्चात् घटना क्रम कल्याणी के विरुद्ध घटित होता चलता है, जिससे उपन्यास के उद्देश्य की पूर्ति होती है। "निर्मला" के गम्भीर वातावरण में पाठक नीरसता का अनुभव न करने लगे, इसलिए हास्य सृष्टि के लिए मोटेराम की अवतारणा की गई है। इसी प्रकार उपन्यास में जब राजरानी की आरती उतारनी होती है, सभाओं की भीड़ दिखानी होती है, तो कुछ पात्रों की सृष्टि की जाती है जिनका कार्य केवल वातावरण की सृष्टि करना होता है। चरित्र विकास की दृष्टि से भी दो प्रकार के पात्र होते हैं, स्थिर और गतिशील। स्थिर पात्र प्रारम्भ से अंत तक एक समान ही रहते हैं, उनके चरित्र में कोई परिवर्तन नहीं होता। स्थिर पात्र ज्यों ही उपन्यास में आते हैं, पाठक उन्हें अपने भावनात्मक नेत्रों से पहचान लेते हैं। स्थिर पात्रों के बार-बार परिचय की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि प्रारम्भ में उनकी जो विशेषता रहती है, वह अन्त तक वर्तमान रहती है। स्थिर पात्र चूंकि वातावरण द्वारा पराजित नहीं होते हैं, अपितु वे स्वयं वातावरण को एक निश्चित दिशा प्रदान करते हैं, इसलिए पाठकों के ऊपर उनका गहरा प्रभाव होता है, और वे उन्हें सहज ही नहीं भूल पाते। पर अत्यधिक गम्भीर प्रकृति के स्थिर पात्र प्रायः प्रभावहीन भी होते हैं। उनकी सत्यता में लोगों का तब कम विश्वास होता है। स्थिर पात्र प्रायः व्यक्ति नहीं, अपितु टाइप होते हैं। वे किसी वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं, इसीलिए वे जातीय कहे जाते हैं। वे जिस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, उपन्यासकार उस वर्ग की सारी विशेषताएं एक साथ एकत्रित कर उस पात्र के माध्यम से प्रदर्शित करने का प्रयास करता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में जातीय पात्र अधिक चित्रित किए गए हैं, क्योंकि प्रेमचन्द का उद्देश्य उपन्यासों के माध्यम से सम्पूर्ण युगीन जीवन को प्रदर्शित करने का था, और इस परिस्थिति में वैयक्तिक

पात्र रखे नहीं जा सकते थे। अतः अधिकांश रूप में जातीय पात्रों को रख कर ही उन्होंने अपने कथानकों का निर्माण किया है। इसके विपरीत गतिशील पात्र वातावरण के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं, और कथानक के विकास के साथ उनके चरित्र में भी परिवर्तन होता रहता है। गतिशील पात्रों की सबसे बड़ी परीक्षा यह होती है कि किसी विशेष वातावरण में उनमें पाठकों को आश्चर्य में डालने की क्षमता है या नहीं। अगर वे अपने परिवर्तन द्वारा आश्चर्यचकित करने में (अस्वाभाविक ढंग से नहीं) असमर्थ रहते हैं तो वे स्थिर पात्र ही होते हैं, भले ही वे गतिशील पात्र होने का वहाना क्यों न करे।[1] उपन्यासकार या तो पात्रों का वर्णन वाह्य रूप से करता है बिल्कुल एक पर्यवेक्षक की भाँति, या वह उनकी अन्तरात्मा में बैठ उनका वर्णन करता है।[2] पर इतना स्पष्ट रहता है कि पात्रों में जो परिवर्तन होता है वह उनकी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार होता है, जिनके अनुसार ही हम उन्हें स्थिर अथवा गतिशील पात्रों की संज्ञा देते हैं। इन पात्रों की विशेषताओं का वर्णन एक वाक्य में या कुछ शब्दों में नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे विकसनशील होते हैं और उनमें परिवर्तन होता रहता है। स्थिर पात्रों की विशेषताएं कुछ ही वाक्यों में चित्रित की जा सकती हैं।[3] गतिशील पात्र एक प्रकार से कल्पित होते हैं, और उपन्यास में वे वार-बार अपनी सत्यता का विश्वास दिलाते रहने का प्रयास करते हैं।

पात्र योजना में नारी पात्र

उपन्यास में पात्र योजना कथा के अनुसार की जाती है। उपन्यास की कथावस्तु ऐतिहासिक अथवा राजनीतिक होगी तो उसकी पात्र योजना भिन्न प्रकार की होगी। सामाजिक उपन्यासों की पात्र योजना और प्रकार की होगी। उपन्यास यदि नारी समस्या को लेकर लिखा जायगा तो उसकी पात्र-योजना भिन्न प्रकार की होगी। इस पात्र योजना में नारी पात्रों की प्रमुखता हो, या पुरुष पात्रों की, उनका परस्पर अनुपात क्या हो, यह कथानक के स्वरूप पर निर्भर करता है। पर

---

१. The test of a round character is whether it is capable of surprising in a convincing way. If it never surprises it is flat. If it does not convince, it is flat pretending to be round. It has the incalculability of life about it—life within the pages of the book. And by using it sometimes alone more often in combination with the other kind, the novelist achieves his task of acclimati: zation and harmonizes the human race with the other aspects of his work."

ई० एम० फॉर्स्टर : ऐस्पेक्ट्स ऑव द नॉवेल, (जनवरी १९४४), लन्दन, पृष्ठ १०६।

२. पर्सी लब्बाक : द क्राफ्ट ऑव फिक्शन, (१९५४), लन्दन, पृष्ठ ८३।

३. एडविन म्योर : द स्ट्रक्चर ऑव द नॉवेल, (१९४६), लन्दन, पृष्ठ १४१।

प्राय: होता यही है कि उपन्यासों में पुरुष पात्रों के साथ नारी पात्रों को भी प्रमुख स्थान प्रदान किया जाता है। शायद ही कोई ऐसा उपन्यास हो, जिसमें मात्र पुरुष पात्र ही हों, और उनमें नारी पात्रों को पूर्णतया बहिष्कृत कर दिया जाय। इसके कारण स्पष्ट हैं। हम यह स्वीकृत करते हैं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसका जीवन समाज की सीमाओं में ही ढलता बनता है। उसकी आस्थाएं, मान्यताएं और विचारधाराएं सामाजिक परिवेश में ही जन्म लेती हैं, विकसित होती हैं, या विच्छिन्न होकर बिखरती हैं। उसकी कल्पनाएं समाज में ही प्राण पाती हैं और उसके स्वप्नों तथा उसकी आकांक्षाओं की साकारता भी समाज में ही सिद्ध होती है। अर्थात् मनुष्य और समाज एक दूसरे के पूरक हैं। बिना मनुष्यों के समाज कैसा, और बिना समाज के मनुष्य क्या और उसका महत्व क्या? इस समाज में केवल पुरुष ही नहीं नारियां भी हैं। न तो अकेले पुरुष ही सामूहिक रूप से समाज की रचना कर सकते हैं और न मात्र नारियां ही समाज की रचना प्रक्रिया पूर्ण कर सकती हैं। दोनों से मिल कर ही समाज की रचना पूर्ण होती है। फिर उपन्यास तो हमारे मानवीय जीवन के प्रतिबिम्ब होते हैं। हम जो जीवन जीते हैं वह उपन्यासों के जीवन से कुछ विशेष भिन्न नहीं होता। हम जिस वातावरण में सांस लेते हैं, आगे बढ़ते हैं वही उपन्यासों का भी वातावरण होता है और इस जीवन तथा वातावरण में जितना भाग पुरुषों का है, उतना ही नारियों का। इसीलिए जब उपन्यास की पात्र योजना निश्चित की जाती है, तो उसमें नारी पात्रों को भी समान भाग दिया जाता है, बल्कि अनेक अवसरों पर केवल नारी पात्रों को ही प्रमुख रूप से लेकर उपन्यास की रचना की गई है। अतः पात्र योजना में नारी पात्रों का महत्वपूर्ण स्थान होता है, क्योंकि नारियाँ हमारे वास्तविक जीवन में भी पुरुष की पूर्णता सिद्ध कर जीवन को पूर्ण बनाती हैं। यह बात भिन्न है कि कथावस्तु इस प्रकार निर्वाचित की गई हो कि उसमें नारी पात्रों की अधिक संख्या न सम्भव हो, पर नारी पात्रों की सम्भावना पूर्णतया अस्वीकृत करना अविवेकपूर्ण दुराग्रह के अतिरिक्त कुछ और न होगा। उदाहरण के लिए यदि उपन्यास का कथानक केवल किसी युद्धस्थल से सम्बन्धित होता है, और लेखक आंचलिक पृष्ठभूमि पर केवल युद्धस्थल की भयंकर विभीषिका, युद्ध के खतरों, उनके परिणाम आदि का वर्णन मात्र ही अपना उद्देश्य निर्धारित करता है, तो इस प्रकार के कथानक में अधिक नारी पात्रों को स्थान देना सम्भव न होगा, फिर भी कुशल उपन्यासकार जीवन की पूर्णता के समान ही उपन्यास की पूर्णता के लिए नर्सों आदि के रूप में नारी पात्रों की अवतारणा कर उपन्यास के आकर्षण को किसी भी रूप में न्यून अथवा नष्ट न होने देगा। नारी पात्रों की संख्या समाज की अवस्था पर भी निर्भर करती है। यदि समाज में नारियों की स्थिति सम्मानपूर्ण हुई, उन्हें सामाजिक और राजनीतिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो, तथा उनमें निरन्तर प्रगतिशीलता हो, तो स्वभावतः नारियाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उस समाज में पुरुषों से कन्धे से कन्धा

मिला कर चलेंगी, क्योंकि उन्हें अपने अधिकारों की रक्षा का बरावर ध्यान वना रहेगा। ऐसे समाज में उपन्यासकार कोई भी विपय अपने उपन्यास के कथानक के लिए चुनेगा, नारियों को समान महत्व प्राप्त होगा। पर यदि दुर्भाग्य से नारियाँ प्रगतिशील न हुई, समाज में उनकी स्थिति हेय और अपमानजनक हुई, उन्हें उनके वास्तविक अधिकार न प्राप्त हुए और राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में उनका कोई भाग न हुआ, तो ऐसी स्थिति में उपन्यासकार नारी पात्रों को उतना प्रमुख स्थान न दे सकेगा, जितना वह देना चाहेगा। वह ऐसे पुरुष पात्रों की कल्पना भले ही करेगा, जो नारियों की स्थिति सुधारने के लिए और उन्हें विकासोन्मुख कर उनमें नवोन्मेप जागृत करने का प्रयास करेगा। अतः उपन्यास में नारी-पात्रों की संख्या क्या हो, उनका पुरुप-पात्रों की तुलना में क्या अनुपात हो, यह प्रमुखतः उपन्यास की कथावस्तु पर निर्भर रहता है।

ऐसी भी सम्भावना उठाई जा सकती है कि उपन्यासों में नारी-पात्रों की नितान्त रूप से भी आवश्यकता नहीं है और विना नारी-पात्रों के भी उपन्यास लिखे जा सकते हैं। ऐसी सम्भावना प्रकट करने वाले अपने मत के समर्थन में यह तर्क उपस्थित कर सकते हैं कि युद्ध आदि की पृष्ठभूमि में लिखे जाने वाले उपन्यासों में नारी पात्रों को रखना बुद्धिमतापूर्ण नहीं होगा, क्योंकि नारियों का युद्ध आदि से कोई सम्वन्ध नहीं है, और नारियों की कोई सेना अभी तक तैयार नहीं हुई है, जो मोर्चे पर जाकर युद्ध में सम्मिलित हो सके और उन नारी सैनिकों एवं कमान्डरों आदि का चित्रण उपन्यासों में किया जा सके। पर यह तर्क हास्यास्पद है और इसे किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। युद्ध की पृष्ठभूमि में लिखे जाने वाले उपन्यासों में भी अस्पताल की नर्सों आदि के रूप में नारी पात्रों की अवतारणा कर उपन्यास की पूर्णता सिद्ध की जा सकती है। साहित्य तथा नारी के परस्पर सम्वन्धों की अटूट शृंखला है। साहित्य कभी भी नारियों की उपेक्षा नहीं कर सका। प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक साहित्य, और प्रत्येक प्रगतिशील कलाकार ने नारी की महत्ता स्वीकार की है। यद्यपि दृष्टिकोण में विभिन्नता हो सकती है, पर इस दृष्टिभेद के कारण ही नारियाँ कभी साहित्य में उपेक्षणीय नहीं रही है। साहित्य समाज का दर्पण होता है, और समाज की रचना नारी तथा पुरुषों के परस्पर योग से होती है। इसीलिए साहित्य में नारियों का भी समान चित्रण होता है। हम अपने मानव-सृष्टि के पूरे इतिहास को उठा कर अवलोकन करें, तो यह तथ्य स्पष्ट होगा कि नारियाँ हमारे साथ सदैव किन्हीं न किन्हीं रूपों में रहीं हैं। वे हमसे निकृष्ट नहीं रही हैं, क्योंकि पुरुपों की तुलना में नारियाँ भिन्न मनोवैज्ञानिक विशेषताओं से सम्पन्न हैं। नारी का व्यक्तित्व उतना ही महान्, महत्वपूर्ण होता

है, जितना पुरुषों का।[1] हमारे राजनीतिक तथा आर्थिक संघर्ष में नारियाँ किन्हीं न किन्हीं रूपों में बराबर भाग लेती रहती हैं। सामाजिक रचना में भी उनका बराबर भाग होता है। हमारे अपने ही स्वाधीनता-संग्राम में असंख्य नारियों ने बराबर महत्वपूर्ण भाग लिया है। महारानी लक्ष्मीबाई, श्रीमती ऐनी बेसेन्ट, श्रीमती सरोजिनी नायडू आदि नारियाँ हमारी स्वाधीनता की नींव की पत्थर हैं। इसके पूर्व भी राजपूती-शान और आन-बान में असंख्य नारियों के बलिदान की महान् प्रेरणादायक कहानियाँ सहज ही भुलाई नहीं जा सकती। यही नहीं पौराणिक आख्यानों में भी इस प्रकार के प्रसंग भरे पड़े हैं, जब हमारे सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष में नारियाँ अपने उत्तरदायित्व को हृदयंगम कर महत्वपूर्ण भाग लेती रही हैं। सीता, उर्मिला अहिल्या, सावित्री, राधा आदि ऐसी ही महिलाएं थीं, जिन्होंने अपने अनुपम त्याग, सद्विचारों, और पवित्रता से समाज के सम्मुख एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया, और उसे एक नवीन दिशा प्रदान की। यह कहने का तात्पर्य इतना ही है कि हमारे जीवन संघर्ष में नारियाँ कभी पीछे नहीं रही हैं। दृष्टिकोण की विषमता के कारण कोई भले ही उन्हें घर की चार-दिवारी में बन्द रहने वाली निर्जीव गठरियाँ मात्र ही क्यों न समझ ले, इससे उनकी महत्ता न्यून नहीं हो जाती। मानवीय-सृष्टि के आरम्भ से ही नारी और पुरुष के परस्पर सम्बन्ध की अटूट शृंखला चली आ रही है। फिर उपन्यासों की पात्र-योजना में उनकी सम्भावना किस प्रकार अस्वीकृत की जा सकती है?

वस्तुतः यथार्थ जीवन में नारियों के जितने रूप होते हैं, उपन्यासों की पात्र-योजना में कथावस्तु के स्वरूप एवं आवश्यकतानुसार स्थान प्रदान किया जाता है, और उनका चित्रण होता है। इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि पात्र-योजना में नारी पात्रों की अवतारणा एक अनिवार्य आवश्यकता होती है। जिस प्रकार की कथावस्तु होगी, उसी प्रकार उनका रूप भी होगा, और उसी अनुपात में उनकी संख्या भी होगी। उदाहरणार्थ वृन्दावन लाल वर्मा के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास "झाँसी की रानी" के नाम से ही स्पष्ट है कि उसमें लक्ष्मीबाई के शौर्य, उनकी वीरता और उनके अनुपम त्याग की कथा होगी। इसीलिए स्वाभाविक था कि उसमें यथेष्ट मात्रा में नारी-पात्रों की अवतारणा हो और सभी प्रमुख रूप से इस प्रकार से चित्रित की जाएं, जिसमे लक्ष्मीबाई के चरित्र को गौरव एवं प्रतिष्ठा प्राप्त हो। सुन्दर, मुन्दर, काशीबाई, मोतीबाई, जूही, झलकारी आदि नारी पात्रों की सृष्टि इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए की गई हैं। इसके विपरीत प्रेमचन्द का उपन्यास "प्रेमाश्रम" एक

१. But there is no question of women's inferiority to man, because she passes different psychological qualities. Her personality is as great, supreme and important as man's.

आई० एम० रीग : व्हीदर वुमन ? (१९३८), बम्बई, पृष्ठ २७४।

सामाजिक उपन्यास है। इसमें जमींदारी प्रथा की कुरीतियाँ, शोषक और शोषित वर्ग के संघर्ष तथा एक पुरुष पात्र की महत्वाकांक्षाओं के चित्रण के साथ ही शोषित वर्ग की अनेक समस्याओं का आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत करने का उद्देश्य रखा गया था। इस प्रकार की कथावस्तु की पात्र-योजना में अधिक नारी-पात्रों की अवतारणा संभव नहीं हो सकती थी, और उसमें तीन-चार नारी-पात्रों के अतिरिक्त अन्य नारी पात्र नहीं हैं। फिर भी नारी-पात्रों की अवतारणा पूर्णरूप से अस्वीकृत नहीं की गई है।

नारी पात्रों का वर्गीकरण प्रायः दो वर्गों में किया जाता है, नायिका, अथवा सहनायिका, तथा गौण पात्र। नायिका का कथानक में प्रमुख स्थान होता है। गौण पात्र नायिका के चरित्र को स्पष्ट करने अथवा वातावरण को नवीन दिशा प्रदान के लिए अथवा नवीन वातावरण की सृष्टि करने के लिए रखे जाते है।

नारी-पात्रों में नायिका

नारी पात्रों में नायिका का प्रमुख स्थान होता हैं। वह सर्वप्रमुख नारी पात्र होती है। सामान्यतः उपन्यास के नायक की प्रेयसी अथवा पत्नी ही नायिका कहलाती है। पर यह प्रत्येक अवस्था में आवश्यक नहीं है, और न कोई अनिवार्य नियम ही। नायिका की भिन्न सत्ता हो सकती है, और वह इस रूप में भी चित्रित की जा सकती है कि नायक से उसका कोई विशेष सम्बन्ध ही न हो। उपन्यास में नायक और नायिका दोनों का होना भी अनिवार्य नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि उपन्यास-कार उपन्यास में नायिका को महत्व प्रदान करे और अनिवार्य रूप से उसकी सृष्टि करे। प्रेमचन्द के "रंगभूमि", "प्रेमाश्रम" आदि उपन्यासों में जन-जीवन के चित्रण और घटनाओं को जितना महत्व दिया गया है, उतना नायिका को नहीं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क" के "गिरती दीवारें", वृन्दावनलाल वर्मा के "संगम", "प्रत्यागत", "कुण्डली चक्र", प्रताप नारायण श्रीवास्तव के "विकास", भगवतीचरण वर्मा के "तीन वर्ष", तथा राहुल सांस्कृत्यायन कृत "जीने के लिये" ऐसे ही कुछ उपन्यास हैं जिनमें नायि-काओं को विशेष महत्व नहीं प्रदान किया गया है। इनमें या तो पुरुष पात्रों को प्रधानता देते हुए प्रसंगवश ही नारी पात्रों को स्पर्श भर कर लिया गया है, या केवल घटना-वैविध्य को ही महत्व प्रदान किया गया हैं। पर नारी पात्र पूर्णतया उपेक्षित नहीं रहे हैं।

अधिकांश रूप में प्रत्येक उपन्यास में पुरुष पात्रों की भाँति नारी पात्रों की सृष्टि भी होती है। यह कोई आवश्यक नहीं कि नारी पात्रों की कोई विशेष संख्या होती है या वे किसी विशेष अनुपात में होती हैं। वे कथानक की आवश्यकतानुसार किसी भी संख्या में हो सकती है। यहाँ प्रश्न स्वभावतः उठता है कि नारी पात्रों में नायिका का स्थान किसे प्रदान किया जाय? अर्थात् नायिका की परिभाषा क्या हो? उपन्यास के नारी पात्रों में कोई-न-कोई नारी ऐसी होती है जो कथानक का नेतृत्व करती हुई उसे अन्तिम उद्देश्य तक ले जाती प्रतीत होती है। उसका व्यक्तित्व उन

सभी नारी पात्रों में अत्यधिक निखरा हुआ, प्रबल एवं आकर्षक होता है। वह पाठकों का ध्यान बरबस अपनी ओर आकर्षित करती चलती है और यह पाठकों को अनुभव होता है कि उपन्यासकार किसी विशेष दृष्टिकोण से उस नारी पात्र को प्रस्तुत कर रहा है। साथ ही वह उसके चरित्र चित्रण की ओर उसके व्यक्तित्व को निखारने, संवारने में विशेष रूप से प्रयत्नशील रहता है। जिस प्रकार किसी कमरे के गहन अन्धकार में हीरे की चमक समाप्त नहीं हो जाती और उसका प्रकाश अपनी पूर्णता के साथ जगमगाता रहता है, उसी भांति नारी पात्रों के समूह में वह नारी अपना विशेष स्थान रखती है और उन सबसे भिन्न दिखाई पड़ती है। इसी प्रमुख नारी-पात्र के इर्द-गिर्द कथानक का चक्र निर्मित होता है और कथानक में घटनाएं इस प्रकार संगुफित की जाती हैं कि वह प्रमुख नारी पात्र उसका नेतृत्व करती प्रतीत होती है। वह कथानक के प्रत्येक मोड़ पर उपस्थित रहती है, और पुरुष पात्रों में जो प्रधान पात्र होता है, उसी के समान वह भी घटनाओं के घटित होने में प्रमुख भाग लेती है। कभी-कभी वह प्रधान पुरुष पात्र से भी अधिक महत्वपूर्ण भाग घटना क्रम में लेती है और अनेक दृष्टांत तो ऐसे हैं जिनमें बिना किसी प्रधान पुरुष पात्र के इसी एक प्रमुख नारी पात्र को लेकर उपन्यास के कथानक का ताना बाना बुना गया है। उपन्यास के कथानक का कोई न कोई उद्देश्य होता है। वस्तुतः भाषा की प्रकृति ही ऐसी है कि जब भी किसी परिस्थिति के अर्थ को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है, उसमें इसके पहले कि वस्तु विशेष स्पष्ट हो, यह ध्वनि सन्निहित रहती है कि वह वस्तु किस प्रकार की है[1]। उद्देश्यहीन उपन्यासों का कोई महत्व नहीं होता। उपन्यास का जो भी उद्देश्य होता है, उसका अन्त इसी प्रमुख नारी पात्र से संबन्धित होता है और फलागम की स्थिति इसी प्रमुख नारी पात्र को होती है। अर्थात् उपन्यास का अन्त इसी प्रमुख नारी पात्र के आधार पर होता है। वह सुखद भी हो सकता है, दुखद भी, पर इस प्रमुख नारी पात्र का प्रभाव उस अन्त पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित किया जा सकता है। इसी प्रमुख नारी पात्र को नायिका कहते हैं, और उसकी परिभाषा संक्षिप्त में इस प्रकार दी जा सकती है—नायिका का उपन्यास के कथानक के विकास-क्रम में सर्वप्रमुख स्थान होता है, और उपन्यास के फलागम की स्थिति उसे ही प्राप्त होती है।

यद्यपि अनेक दृष्टियों से यह परिभाषा अपूर्ण हो सकती है, और सत्य तो यह है कि उपन्यासकार का दृष्टिकोण इतना व्यापक होता है, जीवन अत्यन्त विस्तृत होता है, और साहित्य के क्षेत्र में नित्य होने वाले नवीन प्रयोगों की स्थिति में साहित्य के सर्वाधिक महत्वपूर्ण गद्य विधा उपन्यास की नायिका को परिभाषा की सीमा में नहीं बांधा जा सकता। सारी उन्नसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी में

---

१. डेविड डैचेज : द नॉविल एण्ड द मोडर्न वर्ल्ड, (शिकागो), पृ० ६५।

अब तक इतना अधिक संघर्ष मानव जीवन में व्याप्त रहा है[1] कि जीवन का स्वरूप नित्य परिवर्तित हो रहा है। आज हमारी यह स्थिति है, कल इसका रूप-विज्ञान किस प्रकार होगा, इससे हम पूर्णतया अनभिज्ञ ही हैं । नायिका कोई भी होगी, उसका हमारे मानवीय जीवन से सम्बन्ध होगा, अतएव उसका स्वरूप किसी परिभाषा की सीमा से निश्चित नहीं किया जा सकता फिर भी ऊपर दी गई परिभाषा के अनुसार नायिका की विशेषताएं इस प्रकार निर्धारित की जा सकती हैं । सभी नारी पात्रों में उसका प्रमुख स्थान होता है । ऐसा भी संभव हो सकता है कि उपन्यास में नायिका के अतिरिक्त कोई अन्य नारी पात्र ही न हो, पर ऐसा प्रायः नहीं होता । कम से कम हिन्दी में अभी तक ऐसा कोई प्रमुख उपन्यास नहीं प्रकाशित हुआ जिसमें नायिका के अतिरिक्त कोई अन्या नारी पात्र न हो। पर केवल नायिका को लेकर उपन्यासों की रचना की संभावना को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता, विशेष रूप से जबकि आज उपन्यासकारों में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण प्रमुख हो रहा है, और व्यक्ति की सतत अधिक निर्धारित की जा रही है। अन्य नारी पात्रों की अपेक्षा नायिका का व्यक्तित्व अधिक सबल, निखरा हुआ और आकर्षक होगा । ऐसा भी हो सकता है कि कुछ उपन्यासों में हमें ऐसी नायिकाएं दृष्टिगोचर हों, जिनका व्यक्तित्व अत्यन्त ही दुर्बल हो, वह अधिक निखरा हुआ न हो और वह आकर्षक होने के बजाय हमारी घृणा ही उसके प्रति जागृत हो। "गबन" की जालपा प्रारम्भ में अत्यन्त दुर्बल प्रवृत्ति की नारी है। "सेवासदन" की "सुमन भी लगभग उसी प्रकार की हैं । आधुनिक मनोविश्लेषण और मनोविज्ञान के बहाने नारी पात्रों की परीक्षा करने वाले अनेक उपन्यासकार इसी प्रकार के पात्रों की कल्पना या सृष्टि किया करते हैं । पर प्रायः होता यही है कि नारी के प्रति जो सहज आकर्षण और सहानुभूति होती है, वह हमें उनके प्रति पूर्ण रूप से घृणा करने से रोकती है। यशपाल के "दादा कामरेड" की शैला नायक हरीश के सम्मुख थोथी भावुकता पर पूर्ण रूप से नग्न होकर भी हम उससे एकदम घृणा नहीं कर पाते, उल्टे उपन्यासकार पर ही हम अपना आक्रोश प्रकट करते हैं। इसी प्रकार जैनेन्द्र की 'सुनीता" में सुनीता द्वारा हरिप्रसन्न के सम्मुख नग्न होकर यह कहने के बावजूद भी "हरी, मुझे लो, मुझे पाओ। इस एक आवरण को भी हटाये देती हूँ, वही मुझको ढ़क रहा है । मुझे चाहते हो न ? मैं भी इंकार नहीं करती। यह लो......' हम उससे किंचित-मात्र भी घृणा नहीं कर पाते, यह जानते हुये भी कि वह विवाहित स्त्री है, पति-परायण है ?, और एक पर-पुरुष के सम्मुख आधी रात को जंगल में इस तरह की बातें कर रही है । अज्ञेय के "शेखर" एक जीवनी की शशि भी जैसे इसी प्रकार हमें विवश कर हमारी सहानुभूति ले जाती है। उपन्यास के फलागम की स्थिति नायिका को प्राप्त होती है, किसी अन्य नारी पात्र को नहीं। "सुनीता" में हरिप्रसन्न की मनःस्थिति परिवर्तित कर

१. एच० जी० वेल्स : आउट लाइन्स ऑव हिस्ट्री, (१६२०), लन्दन, पृ० ५०५ ।

सुनीता उनके मन में बंधी हुई गांठ खोलती है, साथ ही प्रारम्भ में वह अपने पति से जो खिंची-खिंची सी रहती है, वैवाहिक जीवन सुखमय नहीं रहता, वह भी अन्त में समाप्त हो जाता है, और सुनीता सुखी हो जाती है। "दादा कामरेड" में शैला अपने गर्भ में नये हरीश को लिए जैसे कभी न समाप्त होने वाले जीवन संघर्ष की ओर संकेत करती है। "त्यागपत्र" में मृणाल की मृत्यु के साथ ही सब कुछ समाप्त हो जाता है। वह अपनी मृत्यु के साथ ही हमारी चेतना पर जैसे हथौड़े से चोट कर जाती है और हमें इस बात के लिए विवश कर जाती है कि हम नारी की समस्याओं के हर पहलू पर सोचकर यह निष्कर्ष निकालें कि नारी की मुक्ति किसमें है? उपन्यास का कथानक इस नायिका के ही इर्द-गिर्द घूमता रहता है, अर्थात् कथानक के संगठन में नायिका का प्रमुख स्थान होता है। कथानक की गतिशीलता में नायिका महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करती है। कथा-संगठन में यदि उसका स्थान अधिक महत्वपूर्ण नहीं भी होता है, तो भी कथानक को साथ ही ले चलती दृष्टिगोचर होती है।

नायिकाओं की अनेक श्रेणियां होती हैं। प्रत्येक उपन्यासकार नारी को विभिन्न दृष्टिकोण से परखता है। कोई उन्हें वीरांगना के रूप में, कोई जासूस के रूप में, कोई केवल माँ के रूप में, कोई केवल भोग की सामग्री के रूप में और कोई केवल उन्हें प्रेम की विरहाग्नि में जलती हुई नायिका के रूप में देखता है और चित्रित करता है। नायिका के निर्वाचन में तत्कालीन युग की परिस्थितियों, सामाजिक मर्यादाओं, नैतिक आदर्शों और लेखक की अपनी मान्यताओं तथा धारणाओं का अधिक प्रभाव पड़ता है। उसका स्वरूप एक प्रकार से इन्हीं रेखा बिन्दुओं के मध्य ही निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए, कल हमारी परिस्थितियां आज से पूर्णतया भिन्न थीं। आज हम निरंतर एक उत्कम्प की स्थिति में जी रहे हैं। आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ता लाने और राष्ट्र के नव निर्माण की प्रमुख समस्या हमारे सम्मुख है। इस परिस्थिति में आवश्यक है कि नारियाँ भी इस सामाजिक संघर्ष में हमारे साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलें, और हमें अपने निश्चित लक्ष्य तक पहुंचने में बराबर सहयोग दें। आज नारी परिवर्तित परिस्थितियों में केवल भोग या विलास की सामग्री ही नहीं रह गई है। वह उस सीमा से आगे आ चुकी है। धीरे-धीरे वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बनता चला जा रहा है, अर्थात् वह शरत् युग की नारी की तरह भावुकता के फेर में पड़कर अहंमवादी पुरुष की इच्छा के बहाव में अपने को पूर्णतया बहाना और मिटाना पसन्द नहीं करती, बल्कि स्थिति की वास्तविकता को समझकर व्यक्ति और समाज के अत्याचारों का सामना पूर्ण शक्ति से करने के योग्य अपने को बनाने की चेष्टा में जुट रही है[1]। घर का सीमित वातावरण अब उसके विकास की राह में समस्या नहीं है। वह जिस सीमा तक गृह-

---

१. इलाचंद्र जोशी : विवेचना, (१९४६), इलाहबाद, पृ० १२४।

लक्ष्मी है, उसी सीमा तक हमारे संघर्षों में हमारी सहयोगिनी भी है । इसका मार्ग प्रेमचंद ने सुझाया था और आगे चलकर जैनेन्द्र, भगवती प्रसाद वाजपेयी, यशपाल, उपेन्द्रनाथ "अश्क", अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी आदि ने उसे और भी पुष्ट किया। परिणामस्वरूप जहाँ जैनेन्द्र की मृणाल को लेकर हम एक गम्भीर समस्या सोचते हैं कि अंततः नारी की मुक्ति किसमे है ? क्या वह केवल इसलिये संकट झेले, इसलिये यंत्रणाएं सहन करे, क्योंकि वह पुरुष के सहारे आश्रित है ? वही इलाचंद्र जोशी की मंजरी जैसे इसका समाधान प्रस्तुत करती है कि नारियाँ अपने पैरों पर खड़ी होकर गन्दगी और सामाजिक विषमताओं से ऊपर उठ स्वावलम्बी बन अपना जीवन व्यतीत कर सकती है । इसके अतिरिक्त हिन्दी उपन्यासों में हमें अधिकांश नायिकाएं इस रूप में दृष्टिगोचर होती हैं, जो जाने-अनजाने में पुरुष का निर्माण करती चलती हैं । पुरुष की प्रत्येक दुर्बलता अपने आँचल में समेट वे उन्हें नया विश्वास, संघर्षों का साहसपूर्वक सामना कर अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ते रहने को अनुप्रमाणित करती हैं । जैनेन्द्र की सुनीता के कथन में बहुत कुछ सच्चाई है, कि······हमारा यह काम है कि हम पुरुषों को सामने चलावें । जब तक वह सामने बढ़ता है, हम पीछे-पीछे हैं । जब वह पीठ की ओर भागना चाहे, तब हम सामने हो आती हैं । हमसे पार होकर वह नहीं जा सकेगा । स्त्री यह न सहेगी कि पुरुष उसके आगे मार्ग न स्पष्ट करता जाये । पुरुष इस दायित्व से भागना चाहेगा तो पीछे स्त्री में गिरफ्तार होकर फिर उसे आगे-आगे चलना होगा । पुरुषों के इस अधिकार के आगे स्त्री कृतज्ञ है । किन्तु स्त्री का भी यही अधिकार है कि पुरुष को पदच्युत न होने दे । "जैनेन्द्र की अधिकांश नायिकाएं किन्हीं-किन्हीं रूपों में पुरुष निर्माण के सम्बल के रूप में आती हैं । उसके अतिरिक्त अन्य आधुनिक उपन्यासकारों ने भी कुछ इसी प्रकार की धारणा को प्रश्रय दिया है । इस प्रकार नायिकाओं की विभिन्न श्रेणियाँ बनाई जा सकती हैं । वस्तुतः कथानक की घटना प्रक्रिया की माँग के अनुसार ही उनका निर्वाचन होता है[1] । सच तो यह है कि जिस प्रकार मानवीय जीवन में विविधता है,उसी भाँति उपन्यास की नायिकाओं में भी विविधता है नारी जीवन के जितने भी रूप हो सकते हैं, उपन्यास की नायिकाएं उन्हीं का प्रतिनिधित्व कर उपन्यास संसार से यथार्थ जीवन की नारियों की स्थिति की अभिव्यक्ति करती हैं, क्योंकि उपन्यास का मानव जीवन के साथ निकट सम्बन्ध होता है, और वह मानवीय जीवन का कल्पित लेखा-जोखा होता है । नायिकाओं की परिकल्पना के अनेक उद्देश्य होते हैं—

नारी के मर्मस्पर्शी चित्रण से करुणा एवं आकर्षण की उत्पत्ति

नारी के प्रति पुरुष का आकर्षण आदिकाल से ही चला आ रहा है । इस आकर्षण के विभिन्न स्तर हो सकते हैं । कोई नारी को केवल प्रेमिका रूप में ही

१. एडविन म्योर : द स्ट्रक्चर ऑव द नॉवल, (१९४६), लंदन, पृ० २०-२१ ।

देखना चाहता है, कोई नारी को माँ रूप में, कोई पत्नी या भगिनी रूप में देखना चाहता है, पर एक बात निश्चित है कि दृष्टिभेद के जो भी रूप हों, नारी के प्रति पुरुष का स्वाभाविक आकर्षण होता है। आज जबकि नैतिकता का अत्यंत पतन हो गया है, और सभी देशों से सभ्यता एवं संस्कृति खंडित होकर मर्यादाएं बिखर रही हैं वासना का प्रचंड उद्याम तीव्रता से वृद्धि प्राप्त कर रहा है, और लोगों की मनोवृत्तियां कुंठित होकर नारी के रूप, सौन्दर्य, उसके नेत्र, भृकुटियों, केशों तथा हाव-भाव पर अधिक सीमित होते जा रहे हैं, प्रश्न उठता है, नैतिकता है क्या ? एक के लिए जो नैतिक है, दूसरे के लिए अनैतिक हो सकता है। एक व्यक्ति का अपने एकमात्र पुत्र की उपेक्षा करके अपनी सारी सम्पत्ति समाज के किसी कल्याणकारी कार्य में दान दे दिए जाने का समाज तो स्वागत करेगा, तथा उसे नैतिकता का सही मूल्यांकन करने वाला व्यक्ति समझेगा, पर उस पुत्र की दृष्टि में यह कृत्य उस व्यक्ति का बहुत बड़ा नैतिक अपराध होगा। वास्तव में धर्म के अनुमोदन से समाज की प्रचलित परम्पराएं ही नैतिकता के नियमों का रूप धारण कर लेती हैं, और जब हम नैतिकता की बात करते हैं, तो यह निर्विवाद है, कि वह वासनात्मक नैतिकता से सम्बन्धित होती है।[१] वासनात्मक नैतिकता स्वाभाविक मानवीय भावों को महत्व नहीं देती।[२] वासनात्मक अनैतिकता को नियंत्रित करने के लिए ही विवाह को अत्यन्त आवश्यक माना गया है, तथा विवाह के अतिरिक्त वासनात्मक सम्बन्ध अमान्य समझा जाता है। पर अमान्य होने के बावजूद भी उसका प्रचार निरन्तर बढ़ता गया, और यह धारणा दृढ़ता प्राप्त करने लगी कि एक नारी को पुरुष के प्रति हर प्रकार से आत्म-समर्पण कर देना चाहिए। इस वासनात्मक नैतिकता के अन्तर्गत पुरुष जिस प्रकार के भी बच्चे नारी को देता है, उसे स्वीकृत करना पड़ता है। इसमें नारी की पसन्द का कोई प्रश्न नहीं उठता। इस प्रचलित वासनात्मक नैतिकता को नारियों ने एक-पक्षीय तथा अपनी दृष्टि से पूर्णतया

---

१. "When we speak of morality, we are understood, nine hundred and ninety nine times out of a thousand to refer...to sexual morality."

—आर० ब्रिफाल्ट : द मदर्स, तीसरी पोथी, (१९२८), पृष्ठ २५२।

२. "Our sexual morality has disregarded natural human emotions and is incapable of understanding those who declare that to retain unduly traditional that are opposed to the vital needs of human society is not a morality but an immorality."

हैवलाक एलिस : स्टडीज इन द साइकोलोजी ऑव सेक्स, छठी पोथी (१९३८), लन्दन, पृष्ठ ३७२।

अनुपयोगी बताया।[1] आगे चल कर वासनात्मक सम्बन्धों में अधिक सामाजिक स्वच्छन्दता की अपेक्षा की जाने लगी तथा पश्चिमी देशों में तो यह एक साधारण सी बात हो गई, साथ ही भारत में भी धीरे-धीरे यह भावना प्रचलित होने लगी। इससे समाज में एक विचित्र सी अव्यवस्था व्याप्त हो गई। आगस्त फोरेल ने अपनी पुस्तक में एक करुण प्रसंग का चित्रण करते हुए लिखा है,[2] कि फ्रीदा केलर नामक एक उन्नीस-वर्षीया युवती एक होटल में नौकरी करती थी। उसके मालिक ने उसके साथ अनुचित सम्बन्ध स्थापित कर लिया तथा एक बच्चे का जन्म भी हुआ। सामाजिक अपराध और लज्जा का भाव फ्रीदा पर इतना पड़ा कि उसने बच्चे की हत्या कर दी। उस पर मुकदमा चला और अपराध प्रमाणित हुआ, किन्तु जजों ने मृत्युदण्ड के स्थान पर उसे आजन्म कारावास का दण्ड दिया। इस प्रकार की घटनाओं का दार्शनिक पक्ष आखिर है क्या, जिसे हम अपने नित्यप्रति के जीवन में देखते हैं? यह अपरिग्राह्य मान्यताओं को नैतिकता के परिवेश में समेट कर आगे बढ़ने वाला हमारा समाज है, जो इस प्रकार अनेक फ्रीदा केलरों को अपने बच्चों की हत्या करने पर विवश करती है। समाज की भद्दी नैतिकता के कारण ही वे अपने बच्चों को पाप की जीती जागती तस्वीर समझती हैं[3] तथा अपने रक्त के एक टुकड़े को चाह कर भी वह अपना बच्चा नहीं कह सकती, क्योंकि समाज उसे उस निर्दोष से घृणा करने पर विवश करता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समाज में काम-वासना की भावनाएं अनियंत्रित होकर प्रसारित हो रही हैं, तथा नारी-पुरुष के स्वतंत्र और मनचाहे शारीरिक सम्बन्ध की भावनाएँ अन्दर ही अन्दर सुलग रही हैं, एक उबाल आ रहा है और ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे समाज का यह सारा रूप-विधान ही नष्ट हो जायगा। ऐसे अनेक उपन्यास लिखे गये हैं या लिखे जा रहे हैं, जिनमें नारी-पुरुष के इसी आकर्षण को ध्यान में रखकर नायिकाओं की कल्पना की गई है,[4] जिससे उपन्यास के आकर्षण में वृद्धि हो सके।

---

१. "Sex morals for women have been one-sided, they have been purely negative, inhibitory and repressive. They have been fixed by agencies which have sought to keep women enslaved, which have been determined, even as they are now, to use women solely as an asset to church, the state and the man."
मार्गरेट सैन्गर : वुमन ऐन्ड द न्यू रेस (१९२०), लन्दन, पृष्ठ १७६।

२. आगस्त फोरेल: द सेक्सुअल क्वेश्चन, (१९३१), लन्दन, पृष्ठ ४१३-४१६।

३. वाई० एम० रीग : व्होदर वुमन ?, (१९३८) बम्बई, पृष्ठ ११६-१५३।

४. यशपाल के "दादा कामरेड", अज्ञेय के "शेखर" : एक जीवनी", उपेन्द्रनाथ "अश्क" के "गर्मराख" आदि ऐसे ही उपन्यास है।

नारी-चित्रण से जीवन की भाँति उपन्यास के अधूरेपन की पूर्णता

मानव समाज की मूल पृष्ठभूमि में नारी विद्यमान है। मानव सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास वस्तुतः नारी की स्थिति के विकास से ही प्रतिबिम्बित होता है। समाज प्रेरणा, शक्ति, प्रेम एवं विश्वास आदि सभी कुछ नारी से ही प्राप्त करता है। जीवनगत स्थिरता को समाप्त कर मानव समाज की परिवर्तित परिस्थितियों तथा सामाजिक मानव मूल्यांकन के साधनों में नारी सर्वप्रमुख है। समाज में नारी और पुरुष का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। वह समाज में पुरुष से कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखती।[1] प्रायः सृष्टि के प्रारम्भ से ही हम देखते आ रहे हैं कि मानव जब भी जीवन संघर्ष में असफल हुआ है, जब भी वह सभ्यता की दौड़ से पिछड़ा है, जब भी मानसिक अशांति से वह आक्रान्त हुआ है, और जब वह पीड़ा तथा अवसाद की लहरों पर डूबता उतराता रहा है, नारियों ने सदैव पुरुषों को सहायता प्रदान कर परिस्थिति परिवर्तित करने का प्रयत्न किया है। पुरुष ने अकेले ही निर्माण की प्रक्रिया पूरी नहीं की है। सत्य स्थिति तो यह है कि पुरुष अराजकता उत्पन्न कर सभ्यता की लम्बी दौड़ में वास्तविक संस्कृति को जन्म देने में सदैव असफल रहा है।[2] इसके विपरीत नारियों ने पुरुषों के बराबर आगे बढ़ने रहने की प्रेरणा दी है। पुरुषों को अपना ममत्व, अपना आत्म-विश्वास तथा अपनी जीवन-संवेदना प्रदान कर वे सभ्यता के विकास का प्रयत्न करती हैं, । क्योंकि पुरुष केवल अपने जीवन की व्यक्तिगत बातों के सम्बन्ध में ही सोचता है और वास्तविक मूल्यों की जीवन में अवहेलना करता है।[3] पुरुषों का जीवन निर्दोष तथा श्रेष्ठ कभी नहीं स्वीकृत किया गया है। वास्तव में पुरुषों में थोड़ी पशुता होती है, जिसका निराकरण वह पूर्ण निश्चय करके भी नहीं कर पाता। वही पशुता ही उसे पुरुष का रूप प्रदान करती है। विकास क्रम में वह नारी से कहीं पीछे है। जिस दिन वह विकास के चरमोत्कर्ष को स्पर्श कर लेगा, वह भी पूर्णतया नारी रूप हो जायगा। वात्सल्य, स्नेह, कोमलता, दया इन्हीं आधारों पर यह सृष्टि थमी हुई है, और यह नारियों के सर्वप्रधान गुण हैं।[4] यही नहीं नारी वफा और त्याग का सजीव प्रतिबिम्ब

---

१. डा० मैरिक बूथ: वोमन ऐन्ड सोसायटी, (१९२८), लन्दन, पृष्ठ ७२।

२. Woman must realise that man has utterly failed in the long process of civilisation to produce true culture. Anarchy, chaos and discontent are the achievements of the man, because he has not understood the true importance and value of human being."

वाई०एम०रीग : व्हीदर वुमन? (१९३८), लन्दन, पृष्ठ २७४।

३. सिगमण्ड फ्रायड : सिविलिजेशन एन्ड इट्स डिसकटेंट्स, (१९३०), लन्दन, पृष्ठ ७।

४. प्रेमचन्द : कर्मभूमि, बनारस, पृष्ठ २००।

हैं, जो अपने मूक त्याग से अपने अस्तित्व को पूर्णतया मिटाकर अपने पति की आत्मा का एक अंश बन जाती है। तन पुरुष का रहता है, पर आत्मा वस्तुतः नारी की ही होती है। पुरुष अपना अस्तित्व इसलिए नहीं मिटाता कि उसमें इसकी सामर्थ्य ही नहीं है। यदि वह अपने को मिटायेगा तो वह शून्यता की स्थिति को पहुंच जाएगा। वह किसी खोह में जा बैठेगा और सर्वात्मा में मिल जाने का स्वप्न देखेगा। वह तेज प्रधान जीव है और अहंकार में यह समझ कर कि वह ज्ञान का पुतला है, सीधा ईश्वर में लीन होने की कल्पना किया करता है स्त्री पृथ्वी की भांति धैर्यवान है, शक्ति सम्पन्न है, सहिष्णु है।[1] नारी की स्थिति पुरुषों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान हैं, और वह सत्य अर्थों में पुरुष को पूर्णता प्रदान करती है। अतः यह स्पष्ट है कि मानव जीवन की पूर्णता नारी को लेकर ही है। नारी के अभाव में समाज अपूर्ण है, मानव जीवन अपूर्ण है, यह सृष्टि मूल्य हीन है।

हिन्दी उपन्यास में साहित्य का वास्तविक रूप प्रेमचन्द के आगमन के पश्चात् ही निखरा, अतः मानव जीवन के साथ उपन्यास का निकटतम सम्बन्ध तभी स्थापित हो पाया था, और तभी उपन्यासों में मानव जीवन का प्रतिबिंब सत्य अर्थों में प्रस्तुत किए जाने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ था। अतः प्रेमचन्द्र के आगमन के साथ ही हिन्दी उपन्यासों में एक नये युग का सूत्रपात हुआ, और उपन्यास तथा मानव जीवन के बीच की दूरी प्रायः समाप्त हो गई थी, यही कारण है कि तभी हमें उपन्यास अपने व्यक्तिगत जीवन से अधिक निकट लगे, और इसका एक प्रमुख कारण यह भी था कि उनमें नारी चित्रण को अत्यंत संतुलित रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई थी, जिससे वे जीवन की ही भाँति उपन्यास को भी पूर्णता प्रदान कर सकें। प्रेमचन्द के "गोदान" उपन्यास में से मालती, धनिया, सिलिया तथा गोविन्दी को निकाल देने के पश्चात् कुछ भी विशेष शेष नहीं रह जाता। इन चारों पात्रों ने "गोदान" में कथानक को ऐसी दिशाएं प्रदान की हैं, जिनके अभाव में उपन्यास प्रायः अपूर्ण सा ही होता। इन नारी पात्रों ने क्रमशः मेहता, होरी, गोबर तथा खन्ना को पग-पग पर जीवन संघर्ष की ओर उन्मुख करने तथा उनके जीवन को पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। जैनेन्द्र के "सुनीता" में भी सुनीता के कारण ही कथानक की पूर्णता का आभास होता है। नारी को लेकर ही परिवार होता है, वही परिवार की सूत्र संचालिका होती है। वास्तव में बिना नारी के परिवार कैसा? परिवार में केवल दो व्यक्ति हैं सुनीता और श्रीकान्त। दोनों एक दूसरे के बिना अपूर्ण हैं। बीच में हरिप्रसन्न आ जाती है। परिणामस्वरूप संघर्ष उत्पन्न होता है, फिर भी परिवार टूटता नहीं, श्रीकान्त और सुनीता बने ही रहते हैं।

नारी समस्या को प्रस्तुत करना

भारत में ही नहीं विश्व के प्रायः प्रत्येक भाग में नारियों के सम्मुख उन्नीसवीं

---

१. प्रेमचन्द : गोदान, (१९३६), बनारस, पृष्ठ १५४।

शताब्दी में अपनी हीनावस्था से बाहर निकलने की समस्या सर्वप्रथम थी। यद्यपि यह समस्या आज भी किसी न किसी रूप में नारियों के सम्मुख उपस्थित है तो भी उसका पूर्ण समाधान नहीं हो पाया है। इस काल में नारियों में चेतना उत्पन्न करने, उनकी शिक्षा, प्रगति, आर्थिक स्वतन्त्रता, राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकार की प्राप्ति आदि कुछ ऐसी ही समस्याएं थीं जिनकी ओर समाज का ध्यान या तो गया ही नहीं था, और गया भी था तो, उसे क्रियात्मक रूप प्राप्त करने में अनेक कठिनाइयाँ थीं। समाज की हिचक थी, परम्पराओं के प्रति मोह था रूढ़ियों से उसका मार्ग पूर्णतया अवरुद्ध था तथा दृढ़भावनाओं का पूर्ण अभाव था। यही नहीं स्वयं नारियों में भी अधिकांश में अपनी स्थिति में परिवर्तन के प्रति कोई उत्साह न था, और न विशेष उत्सुकता ही थी। जो समाज सुधार आन्दोलन प्रचलित भी थे, उन्हें इसी कारण उतने अंशों में सफलता नहीं प्राप्त हो रही थी, जितनी उन्हें प्राप्त होनी चाहिए थी। ऐसी अवस्था में साहित्य का उत्तरदायित्व गुरुतर हो गया था। क्योंकि साहित्य समाज की समस्याओं को प्रस्तुत कर उनका समाधान खोज निकालने में सहायता प्रदान करता है। वास्तव में "जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो; हमारा सौंदर्य प्रेम न जागृत हो जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है; वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं।[1]" साथ ही ऐसे साहित्य का न रचा जाना ही श्रेयस्कर होता है। साहित्य के इस उद्देश्य को पूर्ण करने का उपन्यास सर्वाधिक सशक्त माध्यम अपने प्रारम्भिक काल से ही बन गया था, क्योंकि कथा-कहानी की ओर लोगों की विशेष रुचि होती है, और उपन्यासों में इसी कारण इस उद्देश्य की विशेष रूप से पूर्ति हो सकी।[2] उपन्यासकारों ने नारियों की हीनावस्था की ओर अपनी विशेष रुचि प्रदर्शित की, तथा नारी की इन कठिनाइयों को प्रमुखता देते हुए ऐसी नायिकाओं की कल्पना करने की चेष्टा की, जिससे वे नारियों की इन समस्याओं को यथार्थवादी ढंग पर उपन्यास के माध्यम से समाज के सम्मुख प्रस्तुत कर सकें तथा उसके बन्द नेत्र खोल उसे परिवर्तन की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दे सकें। उपन्यासकारों के इस प्रकार के नारी चित्रण का प्रमुख उद्देश्य नारी की हीनावस्था की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित कर नारियों के विकास के लिए एक ऐसी पृष्ठभूमि तैयार करना था, जिससे उनकी स्थिति में पर्याप्त मात्रा में सुधार हो सके। उपन्यासों के लिए यह पूर्णतया स्वाभाविक भी था, क्योंकि जैसा कि स्वयं प्रेमचन्द ने स्वीकार किया है कि, "मनुष्य स्वभाव से देवतुल्य है। जमाने के छल, प्रपंच या परिस्थितियों के वशीभूत हो वह

---

१. प्रेमचन्द : कुछ विचार, (१९४०), बनारस, पृष्ठ ७, "साहित्य का उद्देश्य" नामक निबन्ध।

२. रिचर्ड चर्च : द ग्रोथ ऑव द नॉवेल, (१९५१), लन्दन, पृष्ठ १७।

अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है—उपदेशों से नहीं, नसीहतों से नहीं, भावों को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगा कर, प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न करके। हमारी सभ्यता साहित्य पर ही आधारित है। हम जो कुछ हैं, साहित्य के ही बनाये हैं। विश्व की आत्मा के अन्तर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है, इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है साहित्य।[1] "उपन्यासकार साहित्य के इसी महान् उद्देश्य को अपने सम्मुख रख कर अपनी कृति के कथानक का संगुफन करता है, और वह संगुफन जब मानवीय जीवन की विभिन्न दिशाओं को एकत्रित करके किया जाता है तो उसमें नारी की समस्याओं को भी समान स्थान प्राप्त होता है, और उन्हीं का समाधान उपन्यासकार अपनी नायिकाओं अथवा अन्य नारी पात्रों की सहायता से करता है। वह थोड़ी-सी कुशलता अपनाकर नारी से सम्बन्धित समस्याओं को उपस्थित कर नारियों को निश्चित दिशा सरलता से प्रदान कर सकता है।[2] निम्नलिखित समस्याओं को नारी-चित्रण के माध्यम से प्रस्तुत कर उनका समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न प्रायः सभी उपन्यासकार करते हैं—

१. अनमेल-विवाह
२. वेश्या-वृत्ति
३. विधवा-विवाह
४. नारी की आर्थिक स्वतंत्रता
५. पारिवारिक-जीवन
६. प्रेम

भारत में नारियों को विवाह सम्बन्धी वह स्वतंत्रता नहीं थी, जो विदेशों में अत्यंत साधारण बात थी। नारियों पर अनेक पारिवारिक नियंत्रण थे, जिसके कारण उन्हें अपने पतियों को चुनने का स्वयं कोई अधिकार न था। बाल-विवाह के कारण अल्पावस्था में हीं लड़कियों का विवाह कर दिया जाता था, जिससे बड़ी होने पर उन लड़कियों का जीवन असंतोष एवं आत्म-पीड़न का विचित्र सामंजस्य बन जाता था। अनेमल-विवाह का एक और कारण भारत की शोचनीय आर्थिक अवस्था, तथा भारतीय समाज में विवाह सम्बन्धी दोष-पूर्ण रूढ़ परम्पराएं थीं। विवाह में दहेज की समस्या इतनी भीषण रूप में उपस्थित हो गई थी कि विवाह वस्तुतः दो अनजाने व्यक्तियों का वैवाहिक बंधनों में बंधने का नहीं, अपितु एक व्यापारिक प्रक्रिया का रूप धारण कर चुका था। प्रायः लोग अपनी लड़कियों के लिए योग्य वर इसलिए

---

१. प्रेमचंद : कुछ विचार, (१९४०), बनारस, पृष्ठ ८९—"जीवन में साहित्य का स्थान' नामक निबन्ध।
२. वागला फ्लीन : द फेमिनिन कैरेक्टर, (१९४६), लन्दन, पृष्ठ १८३।

शताब्दी में अपनी हीनावस्था से बाहर निकलने की समस्या सर्वप्रथम थी। यद्यपि यह समस्या आज भी किसी न किसी रूप में नारियों के सम्मुख उपस्थित है तो भी उसका पूर्ण समाधान नहीं हो पाया है। इस काल में नारियों में चेतना उत्पन्न करने, उनकी शिक्षा, प्रगति, आर्थिक स्वतन्त्रता, राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकार की प्राप्ति आदि कुछ ऐसी ही समस्याएं थीं जिनकी ओर समाज का ध्यान या तो गया ही नहीं था, और गया भी था तो, उसे क्रियात्मक रूप प्राप्त करने में अनेक कठिनाइयां थीं। समाज को झिझक थी, परम्पराओं के प्रति मोह था रूढ़ियों ने उसका मार्ग पूर्णतया अवरुद्ध था तथा दृढ़भावनाओं का पूर्ण अभाव था। यही नहीं स्वयं नारियों में भी अधिकांश में अपनी स्थिति में परिवर्तन के प्रति कोई उत्साह न था, और न विशेष उत्सुकता ही थी। जो समाज सुधार आन्दोलन प्रचलित भी थे, उन्हें इसी कारण उतने अंशों में सफलता नहीं प्राप्त हो रही थी, जितनी उन्हें प्राप्त होनी चाहिए थी। ऐसी अवस्था में साहित्य का उत्तरदायित्व गुरुतर हो गया था। क्योंकि साहित्य समाज की समस्याओं को प्रस्तुत कर उनका समाधान खोज निकालने में सहायता प्रदान करता है। वास्तव में "जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौंदर्य प्रेम न जागृत हो जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं।"[1] साथ ही ऐसे साहित्य का न रचा जाना ही श्रेयस्कर होता है। साहित्य के इस उद्देश्य को पूर्ण करने का उपन्यास सर्वाधिक सशक्त माध्यम अपने प्रारम्भिक काल से ही बन गया था, क्योंकि कथा-कहानी की ओर लोगों की विशेष रुचि होती है, और उपन्यासों में इसी कारण इस उद्देश्य की विशेष रूप से पूर्ति हो सकी।[2] उपन्यासकारों ने नारियों की हीनावस्था की ओर अपनी विशेष रुचि प्रदर्शित की, तथा नारी की इन कठिनाइयों को प्रमुखता देते हुए ऐसी नायिकाओं की कल्पना करने की चेष्टा की, जिससे वे नारियों की इन समस्याओं को यथार्थवादी ढंग पर उपन्यास के माध्यम से समाज के सम्मुख प्रस्तुत कर सकें तथा उसके बन्द नेत्र खोल उसे परिवर्तन की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दे सकें। उपन्यासकारों के इस प्रकार के नारी चित्रण का प्रमुख उद्देश्य नारी की हीनावस्था की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित कर नारियों के विकास के लिए एक ऐसी पृष्ठभूमि तैयार करना था, जिससे उनकी स्थिति में पर्याप्त मात्रा में सुधार हो सके। उपन्यासों के लिए यह पूर्णतया स्वाभाविक भी था, क्योंकि जैसा कि स्वयं प्रेमचन्द ने स्वीकार किया है कि, "मनुष्य स्वभाव से देवतुल्य है। जमाने के छल, प्रपंच या परिस्थितियों के वशीभूत हो वह

---

१. प्रेमचन्द : कुछ विचार, (१९४०), बनारस, पृष्ठ ७, "साहित्य का उद्देश्य" नामक निबन्ध।

२. रिचर्ड चर्च : द ग्रोथ ऑव द नॉवेल, (१९५१), लन्दन, पृष्ठ १७।

अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है—उपदेशों से नहीं, नसीहतों से नहीं, भावों को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगा कर, प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न करके। हमारी सभ्यता साहित्य पर ही आधारित है। हम जो कुछ हैं, साहित्य के ही बनाये हैं। विश्व की आत्मा के अन्तर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है, इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है साहित्य।[1] "उपन्यासकार साहित्य के इसी महान् उद्देश्य को अपने सम्मुख रख कर अपनी कृति के कथानक का संगुफन करता है, और वह संगुफन जब मानवीय जीवन की विभिन्न दिशाओं को एकत्रित करके किया जाता है तो उसमें नारी की समस्याओं को भी समान स्थान प्राप्त होता है, और उन्हीं का समाधान उपन्यासकार अपनी नायिकाओं अथवा अन्य नारी पात्रों की सहायता से करता है। वह थोड़ी-सी कुशलता अपनाकर नारी से सम्बन्धित समस्याओं को उपस्थित कर नारियों को निश्चित दिशा सरलता से प्रदान कर सकता है।[2] निम्नलिखित समस्याओं को नारी-चित्रण के माध्यम से प्रस्तुत कर उनका समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न प्रायः सभी उपन्यासकार करते हैं—

१. अनमेल-विवाह
२. वेश्या-वृत्ति
३. विधवा-विवाह
४. नारी की आर्थिक स्वतंत्रता
५. पारिवारिक-जीवन
६. प्रेम

भारत में नारियों को विवाह सम्बन्धी वह स्वतंत्रता नहीं थी, जो विदेशों में अत्यंत साधारण बात थी। नारियों पर अनेक पारिवारिक नियंत्रण थे, जिसके कारण उन्हें अपने पतियों को चुनने का स्वयं कोई अधिकार न था। बाल-विवाह के कारण अल्पावस्था में हीं लड़कियों का विवाह कर दिया जाता था, जिससे बड़ी होने पर उन लड़कियों का जीवन असंतोष एवं आत्म-पीड़न का विचित्र सामंजस्य बन जाता था। अनमेल-विवाह का एक और कारण भारत की शोचनीय आर्थिक अवस्था, तथा भारतीय समाज में विवाह सम्बन्धी दोष-पूर्ण रूढ़ परम्पराएं थीं। विवाह में दहेज की समस्या इतनी भीषण रूप में उपस्थित हो गई थी कि विवाह वस्तुतः दो अनजाने व्यक्तियों का वैवाहिक बंधनों में बंधने का नहीं, अपितु एक व्यापारिक प्रक्रिया का रूप धारण कर चुका था। प्रायः लोग अपनी लड़कियों के लिए योग्य वर इसलिए

---

१. प्रेमचंद : कुछ विचार, (१९४०), बनारस, पृष्ठ ८६—"जीवन में साहित्य का स्थान" नामक निबन्ध।
२. वायला क्लीन : द फेमिनिन कैरेक्टर, (१९४६), लन्दन, पृष्ठ १८३।

नहीं खोज पाते थे, क्योंकि मुंहमांगी दहेज देने की उनमें सामर्थ्य न होती थी। अनमेल-विवाह की इस भीषण समस्या से उपन्यास अछूते न रह सके और उपन्यासकारों ने इसी उद्देश्य से ऐसी नायिकाओं की परिकल्पना की, जो अनमेल विवाह का शिकार होतीं थीं, और जिनका जीवन पूर्णतया असंतोषपूर्ण होता था। प्रेमचन्द का "निर्मला" उपन्यास इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। "सेवासदन" में अनमेल विवाह के कारण ही सुमन वेश्या बनती है। जैनेन्द्र कुमार के "त्यागपत्र" में भी मृणाल की परिकल्पना जिन उद्देश्यों से की गई थी, उनमें यह उद्देश्य भी सर्व-प्रमुख था, और मृणाल इसी अनमेल विवाह के दोषों का संकेत देती है।

अनमेल विवाह की समस्या के साथ हीं नारी जीवन में विधवा की समस्या भी प्रमुख रूप में सदैव उपस्थित रही है। विधवा नारियों की समाज में बराबर ही दुर्गति हुई है। प्रारम्भ में उन्हें अपने पति के शव के साथ ही सती हो जाना पड़ता था, क्योंकि पति की मृत्यु के पश्चात् उन्हें बड़ा अपमानजनक जीवन व्यतीत करना पड़ता था, विधवा से विवाह करने की तो कोई कल्पना भी नहीं करता था। एक पुरुष दो तीन चाहे जितने विवाह कर सकता था, पर नारियों का दूसरा विवाह करना जैसे स्वयं में ही एक विडम्बना मात्र थी। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो विधवा की समस्या केवल आर्थिक ही नहीं है। यदि इस समस्या के मूल में केवल आर्थिक प्रश्न ही होता तो, समाज में दो चार ऐसे धनी अवश्य निकल आते जो अपनी उदारता से इतना धन दान स्वरूप दे डालते, जिससे एक कोष स्थापित करके उनकी समस्या हल की जा सकती। सत्य स्थिति तो यह है कि विधवा समस्या मात्र आर्थिक ही नहीं वैयक्तिक भी है। यदि कोई उदार व्यक्ति किसी विधवा नारी की शोचनीय स्थिति से द्रवित होकर उसके प्रति अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रदान करता है तथा वह उसे अपने यहाँ शरण देकर उसके खान-पान की व्यवस्था कर देता है तो स्वाभाविक है कि वह नारी अपनी विवशता को ध्यान में रखकर उस व्यक्ति के कृतज्ञता के भार से दब जायगी। इस स्थिति का लाभ उठाकर वही 'उदार व्यक्ति" जब अपनी कुत्सित भावना को शान्त करना चाहता है, तो समस्या का एक भिन्न रूप हो जाता है। यदि उस व्यक्ति में निस्स्वार्थता की भावना हो, तब तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। पर प्रमुख प्रश्न तो यह कि समाज के निस्स्वार्थ भाव से इस प्रकार की सेवा करने वाले व्यक्तियों की संख्या कितनी है? अधिकांश तो अपनी सहृदयता का बदला चाहते है, और परवश वह विधवा नारी उसी उदारता का ऋण चुकाने के लिए बाध्य होती है। अतः विधवाश्रमों की स्थापना से अधिक श्रेयस्कर समाधान पुनर्विवाह ही हो सकता है। यद्यपि विधवा विवाह का समर्थन वैदिक काल में प्राप्त होता है[1] अथर्ववेद में भी एक विधवा नारी के पुनर्विवाह का प्रसंग प्राप्त होता

---

१. उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसंबभूथ॥ —ऋग्वेद, १८,८

है,[1] पर आगे इस व्यवस्था को समर्थन नहीं प्राप्त हुआ और वह प्रायः समाप्त सी हो गई। उपन्यासकारों का ध्यान इस गम्भीर समस्या की ओर भी गया, और अपने उत्तरदायित्व को समझ कर उन्होंने ऐसी नायिकाओं की कल्पना की, जिससे विधवा समस्या को सत्यार्थों में वे समाज के सम्मुख उपस्थित कर सके तथा उसका समाधान खोज निकालने के लिए लोगों को प्रवृत्त कर सके। उपन्यासकारों का प्रमुख उद्देश्य ऐसी नायिकाओं की कल्पना कर केवल समाज को ही आकर्षित करना नहीं था, वरन् स्वयं विधवा नारियों को भी अपनी गहराई से सोचने के लिए तथा आत्महत्या आदि कायरतापूर्ण मार्ग न अपना कर अपनी उस हीनावस्था में भी जीवनगत गरिमा स्थापित करने की प्रेरणा देने का था। प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यास 'प्रतिज्ञा" में पूर्णा की परिकल्पना इसी उद्देश्य से की गई थी, जिससे समाज के सम्मुख विधवा समस्या का एक पूर्ण चित्र उपस्थित हो सके।

नारी जीवन में वेश्या समस्या भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। आर्थिक विषमताओं तथा समाज की रूढ़ परम्पराओं के कारण नारियों के लिए वेश्यावृत्ति अपनाना एक प्रकार से आवश्यक सा हो जाता था। इसके निराकरण का एकमात्र उपाय था कि वे आत्महत्या कर लें। वेश्यावृत्ति के अनेक कारण समाज में प्रचलित थे। प्राचीन काल में प्रेम-सम्बन्धी स्वतंत्रता न प्राप्त थी। जब दो व्यक्तियों में प्रेम-सम्बंध स्थापित हो जाता था, और समाज में वह रहस्य न रह कर चर्चा का विषय बन जाता था तो समाज पुरुष को तो क्षमा कर देता था, पर नारी को वह अधिकार न प्राप्त था। अतः मृत्यु अथवा वेश्यावृत्ति के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग उसके सम्मुख नहीं रह जाता था। उपन्यासकारों ने इस सम्बन्ध में अपना उत्तरदायित्व समझ ऐसी नायिकाओं की कल्पना केवल इसी उद्देश्य से की, जिससे वे वेश्या-समस्या का सर्वांग चित्र समाज के सम्मुख उपस्थित कर सकें। इन उपन्यासकारों का ऐसी नायिकाओं की कल्पना के पीछे एक उद्देश्य यह भी था, कि वे समाज के युवकों में साहस तथा उत्साह की भावना उत्पन्न कर इन वेश्याओं के प्रति करुणा उत्पन्न करना चाहते थे, जिससे वे वेश्याओं से विवाह कर सकें और यह विवाह समस्या किसी न किसी रूप में सुलझ सके। "सेवासदन" में यद्यपि सुमन की कल्पना मात्र इसी उद्देश्य से नहीं की गई है, पर अन्य नारी-विषयक समस्याओं के साथ उसकी कल्पना के मूल में यह समस्या भी प्रमुख थी। यह बात स्पष्ट है कि वेश्यावृत्ति की समस्या का मूल समाज में नहीं, वरन् व्यक्ति में निहित है। यह मूलतः

---

१. या पूर्वं पतिं वित्वा अथान्यं विन्दते पतिम्।
पंचौदनं च तौ अजं ददतो न वियोजतः॥
समानलोको भवति पुनर्भुवा अपरः पतिः।
योऽजं पंचौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ —अथर्ववेद, ५—, २७—८

वैयक्तिक है, तथा व्यक्ति के मन की कुवासना और संस्कार ही नारियों को इस दलदल में खींच लाते हैं।

पारिवारिक जीवन तथा नारी पुरुष के प्रेम को सफलतापूर्वक चित्रित करने के लिए भी नायिकाओं की कल्पना की जाती है। पर इन सब समस्याओं के मूल में नारी की आर्थिक-समस्या ही सर्वप्रमुख है। यदि समाज के रूप-विधान में इस प्रकार का परिवर्तन हो जाए, जिसमें नारी केवल पुरुष के ही आश्रित न हो स्वयं भी स्वावलम्बी हो सके, तथा अपना स्वतंत्र जीविकोपार्जन करने की स्थिति में आ जाए तो अनेक नारी समस्याओं का सरलतापूर्वक समाधान हो सकता है। यदि नारियां आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो जाएं तो वेश्यावृत्ति की ओर स्वभावतः वह अपना कदम न बढ़ाना चाहेंगी। अतः नारियों की आर्थिक समस्या भी अत्यन्त चिन्ताजनक रूप में समाज के सम्मुख उपस्थित रही है, जिससे अन्य लोगों के अतिरिक्त उपन्यासकारों का ध्यान भी अपनी ओर आकर्षित किया। उपन्यासकारों ने इस समस्या का समाधान अपने ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कुछ नायिकाओं की कल्पना इसी उद्देश्य से की है, जिससे वे नारियों की आर्थिक समस्या का चित्रण कर सकें और उन्हें कोई निश्चित मार्ग प्रस्तुत कर सकें। जैनेन्द्र कुमार के "त्यागपत्र" में मृणाल की परिकल्पना इसी उद्देश्य से की गई है। पति का घर अनमेल विवाह के कारण त्यागने पर यदि उसके जीविकोपार्जन का कोई साधन होता तो वह कदाचित् कोयले वाली की दुकान पर न बैठती। "कल्याणी" में डा० असरानी के सम्मुख भी यही समस्या है। अपनी आर्थिक आवश्यकताओं (साथ पति की भी) की पूर्ति के लिए वह डाक्टरी करती है, अन्यथा उसमें उनकी रुचि नहीं थी, उन्हें मानसिक शान्ति भी प्राप्त होती थी।

नारी चित्रण से मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति में सहायता

आधुनिक युग में उपन्यासकारों को मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति ने विशेष रूप से प्रभावित किया। प्रेमचन्द काल तक तो उपन्यासकार विशेष रूप जीवनगत बाह्य परिस्थितियों के चित्रण तक सीमित रहे, तथा जीवन की व्यापकतम सीमाओं को उपन्यासों में समेट युग का विशद चित्र उपस्थित करना चाहते थे, पर प्रेमचन्दोत्तर-कालीन उपन्यासकारों को प्रथम बार जैनेन्द्रकुमार ने "परख" की रचना से एक नवीन दृष्टि प्रदान की तथा उपन्यासों में पहली बार व्यक्ति की प्रतिष्ठा की गई और उसके अन्तरमन की भावनाओं की व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया। वास्तव में सामाजिक नियंत्रण के कारण यौन भावनाएं या इच्छाएं अन्तर्मुखी होकर अवचेतन मन में दब जाती हैं। इन दमित और अतृप्त यौन सम्बन्धी कामनाओं से परिपूर्ण अवचेतन मन के समक्ष हमारा चेतन मन दुर्बल होता है। ये अवचेतन की कार्य प्रक्रियाएं वस्तुतः हैं क्या? इन्हीं के अध्ययन को मनोविश्लेषण के माध्यम से प्रकट करने का प्रयत्न उपन्यासकारों ने किया है। मनोविश्लेषण की इस प्रवृत्ति में उन्हें नारी पात्रों से विशेष

सहायता प्राप्त होती है, इसलिए ये अनेक ऐसी ही नायिकाओं का चित्रण करते हैं। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि नारी पुरुष में सर्वाधिक प्रधान समस्या कामवासना (Sex) की है। नारी पुरुष की ओर, पुरुष नारी की ओर जो आकर्षित होता है, उसके मूल में यह कामवासना ही है। पर समाज यौन वासना की स्वतन्त्रता की अनुमति नहीं देता, तथा नारी और पुरुष दोनों को अपनी काम वासना संबंधी भावनाओं का दमन करना पड़ता है। पर क्या सच ही वे इन भावनाओं का दमन कर सकने में सफल होते हैं? इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। ये भावनाएं दमित नहीं होती, अपितु उसी अवचेतन मन में एकत्रित होती रहती हैं, तथा यह आभास सा होता है कि हमने उनका दमन कर दिया है। हम अपनी तर्क बुद्धि से उसकी सार्थकता भी सिद्ध कर देते हैं क्योंकि तर्क मस्तिष्क द्वारा निर्मित निर्माण प्रक्रिया को नियंत्रित करता है,[1] तथा तर्क की अनुपयोगिता स्वयं द्वारा प्रतिपादित नहीं की जा सकती।

अवचेतन मन की दमित-शमित इन्हीं भावनाओं के विश्लेषण के लिए उपन्यासकार पुरुष पात्रों के साथ नारी पात्रों की कल्पना करता है तथा नारी-पुरुष के स्वाभाविक आकर्षण के माध्यम से वह अपना अध्ययन प्रस्तुत करता है। दोनों पर समाज का कठोर नियंत्रण होता है। पश्चिमी समाज में नारी-पुरुष सम्बन्धों में भले ही इधर समाज ने कुछ समाजवादी दृष्टिकोण अपनाया हो, और थोड़ी स्वच्छन्दता व्याप्त हो गई हो, पर कम से कम भारतीय समाज में ये नियंत्रण अधिक कठोर हैं। परिणामस्वरूप नारी पुरुष दोनों में घुटन उत्पन्न हो जाती है, तथा आत्मपीड़न में ही वे अपने जीवन में अग्रसर होने लगते हैं। जैनेन्द्रकुमार ने अपने उपन्यासों में इसी उद्देश्य से अनेक नायिकाओं की परिकल्पना की है। कल्याणी असरानी का विवाहित जीवन सफल नहीं है, उनकी वासनात्मक भावनाएं अतृप्त हैं, कोई भी इच्छापूर्ण नहीं हो सकी हैं। उनके जीवन की सारी असंगतियां इसी कारण हैं। जैनेन्द्र ने इसे आत्मपीड़न के रूप में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया हैं, क्योंकि उसका स्वच्छन्द विकास समाज की मान्यताओं के अनुरूप नहीं होता। मृणाल की समस्या भी यही है। वह समाज को तोड़ता-फोड़ना नहीं चाहतीं, बल्कि पीड़ा को आत्मसात कर उसे

---

१. "Intellectual construction meets similar inexorable condition in the written and unwritten law of logic, likewise determined by the building material of thought—Logic governs the constructions that minds built in first-aid and further support of the thinking enterprise. Logic inspects the result, closly examining the criteria of evidence and the warrent of conclusions. Logic is blind to dramatic appeal, deaf to aesthetic satisfactions."

—फ्रायड : हिज़ ड्रीम ऐन्ड सेक्स थ्यूरीज, (मार्च, १९५९), न्यूयार्क, पृष्ठ १३९।

ही अपने जीवन की अनुपम निधि समझती है, क्योंकि पीड़ा में ही ईश्वर का वास है। उसके-अन्तरमन की सारी भावनाओं को मनोविश्लेषण के माध्यम से प्रकट किया गया है, और उसी के अनुसार समाज से नारी की दयनीय स्थिति, उसकी आर्थिक परतन्त्रता आदि को प्रकट करने का प्रयास किया गया है। आखिर मृणाल कोयले वाले के यहां कैसे पहुंची ? इसका स्पष्टीकरण मनो विश्लेषण द्वारा ही किया गया है कि मृणाल के माता-पिता उसकी बाल्यावस्था में ही चल बसे थे, तथा उनका वास्तविक स्नेह उसे प्राप्त नहीं हो सका था। भाई का प्रेम उस कमी को पूर्ण नहीं कर सका। शीला के भाई के प्रति उसका प्रेम भी एक विश्वासघात ही निकला। विवाहित जीवन ने रही सही उसकी आस्था तोड़ दी और इन सारी प्रक्रियाओं को पार कर वह उस गन्दी बस्ती में पहुंचती है। अज्ञेय के "शेखर : एक जीवनी" में भी मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति को पूर्ण करने के लिए ही शशि की कल्पना की गई है। वह शेखर के व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया में स्वयं टूट कर बिखर जाती है, उसे मनोविश्लेषण के आधार पर ही परखा गया है। इस प्रकार नायिकाओं की कल्पना का एक उद्देश्य यह भी होता है कि उनसे मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति में सहायता प्राप्त होती है।

नारी के माध्यम से अपनी व्यक्तिगत कुंठाओं तथा वर्जनाओं का प्रदर्शन

फ्रायड के अनुसार हमारे जीवन की अतृप्त वासनाएं, कामनाएं तथा अपूर्ण इच्छाएं अवचेतन मन में एकत्रित होती रहती हैं हम उनका पूर्ण रूप से दमन कर सकने में सफल नहीं हो पाते हैं। यह अवचेतन मन हमारे चेतन मन से अधिक शक्तिशाली होता है, तथा हमारे जीवन की गति को नियंत्रित करता है। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जिसके जीवन में कोई इच्छा न हो, उसके कोई सपने न हों, और उसने अपनी इंद्रियों पर पूर्ण रूप से निग्रह कर लिया हो। हर व्यक्ति इच्छाओं का दास होता है, पर उसका अन्तरमन जो चाहता है, वह सभी का सभी पूर्ण नहीं हो जाता। कुछ तो उसे सामाजिक लज्जा एवं नैतिकता के भय से नियन्त्रित करना पड़ता है, कुछ को अपनी विवशताओं के कारण दमित करना पड़ता है। यद्यपि व्यक्ति समझता है कि वह इन इच्छाओं का दमन कर देता है, पर वास्तव में यह सत्य नहीं है। वस्तुस्थिति तो यह है कि अवचेतन मन में इन दमित शमित भावनाओं को स्थान मिलता रहता है। उपन्यासकार भी वही जीवन जीता है, जो दूसरा व्यक्ति जीता है। उसकी भी लगभग वही इच्छाएं होती हैं, जो उसी स्तर पर दूसरे व्यक्तियों की होती हैं। उसके मन में भी वासना का भाव होता है जिसका पूर्ण नियन्त्रण वह नहीं कर पाता। चूंकि वह बुद्धिजीवी होता है, प्रखर चेतना सम्पन्न होता है, इसलिये साधारण व्यक्तियों की भांति उसका व्यक्तित्व खण्डित नहीं होने पाता। और अधिकांश अपने को नैतिकता की निम्नतम सीमा तक नहीं जाने देते और पूर्ण नैतिकता, संस्कृति तथा सभ्यता के विकास का चोला पहनकर अपने अवचेतन मन की शक्ति से नियन्त्रित हो अपनी सारी प्रवृत्तियों को उपन्यास में नायिका के

माध्यम से प्रकट करते हैं, जिससे उनकी आत्मा, साथ ही उनके अवचेतन मन को भी तुष्टि प्राप्त होती है। इन उपन्यासकारों का नायिका की परिकल्पना का एकमात्र उद्देश्य यही होता है कि अपने अवचेतन मन की सारी दमित-शमित भावनाओं, मन की वासना, कुण्ठाग्रस्त वर्जनाओं आदि को प्रकट कर सके। यही कारण है कि आज उपन्यासों में हमें पत्नी अपने पति को दूसरी नारियों से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने में सहायता देती है, यहाँ तक कि पुरुष अपनी बहन से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करता है। और यह सब महज़ मनोविज्ञान के नाम पर होता है, क्योंकि "मन में वासना को दबाये रहने से व्यक्तित्व खण्डित होता है, उससे बढ़कर और कोई पाप नहीं होता।" उपन्यासकार यहीं नहीं रुकता, वह यहाँ तक कह डालता है कि, "इसीलिए कहा जाता है कि नारियाँ द्वितीय संभोग पसंद करती हैं" ! ऐसे प्रसंग में नायिका की परिकल्पना उसी उद्देश्य की पूर्ति करता है, जिससे उपन्यासकार अपनी व्यक्तिगत कुंठाओं तथा वर्जनाओं का चित्रण कर पाता है। उपन्यासकार इन नायिकाओं को ऐसे प्रसंगों में रखता है, जिससे कि विलासिता का पूर्ण वातावरण निर्मित हो सके, कभी नायिकाएं वस्त्रहीन होकर उपन्यास के नायकों (या निर्माता ?) को संतुष्ट करती हैं, कभी वे दार्जिलिंग की एक महकती ठंडी शाम को कम्बल के अन्दर नायकों (?) से लिपटती जूझती, फिर—शैथिल्य की बाहों में डूब जाती हैं, या फिर कभी पानी बरसने लगता है, नायिका नायक के यहाँ शरण लेती है, वह पूर्ण रूप से भीग गई है, नायक के पास मलमल के झीने कुर्ते के अलावा कोई वस्त्र नहीं है। नायिका वही पहन लेती है, पर नायक ग्लेशियर-सी पिंडरियों पर से अपनी दृष्टि नहीं हटा पाता और फिर ? फिर नायिका वही करती है, यानी कि आत्म समर्पण कर देती है, जिससे नायक की वासनात्मक प्रवृत्तियाँ शांत हो सकें, उसके अवचेतन मन का विद्रोह समाप्त हो सके।

उपन्यासों में नारी चित्रण राजनीतिक उद्देश्य से भी किया जाता है। प्रायः उपन्यासकार किसी विशेष दर्शन या सिद्धांत में विश्वास करते हैं, तथा उन्हीं मतों का प्रचार अपने उपन्यासों के माध्यम से करने का प्रयत्न करते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति में नारी पात्र उतने ही सहायक होते हैं. जितने पुरुष पात्र, इसीलिये प्रायः उपन्यासों में नायिकाओं को प्रचलित मान्यताओं से भिन्न किसी विशेष दिशा का पालन करते देखा जाता है। यशपाल के ऐतिहासिक कल्पना पर आधारित उपन्यास "दिव्या" में चार्वाक दर्शन की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया गया है। इसकी कहानी भारतीय इतिहास के उस युग से सम्बन्धित है, जब बौद्ध धर्म के तेज का प्रखर सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा था, और देश के छोटे-छोटे गणतन्त्र राज्य अपनी अभिजातीयता के अहं में चूर होकर नष्ट हो रहे थे, और वैश्य समाज की समृद्धि पर खड़े होने वाले साम्राज्य उनका स्थान ले रहे थे। इस उपन्यास का अंत दिव्या के माध्यम से मार्क्सवाद दर्शन की प्रतिष्ठा करके ही किया गया है। इस देश

के जिस कुलवधू पद की लालसा स्वर्ग की अप्सरायें भी करती हैं, उसका तिरस्कार करके, जिस निर्वाण पद के लिये उस समय सारा एशिया पागल हो रहा था, उस मोक्ष का त्याग कर दिव्या का साधारण दाम्पत्य जीवन को महत्व देना सचमुच ही भारतीय विचारधारा के अनुकूल नहीं है। यह विचार आज के भौतिकवादी मार्क्स-वाद के ही अधिक निकट है। यशपाल ने मार्क्सवादी दर्शन के प्रचार के लिए "दादा कामरेड" की शैला की कल्पना की है, जो अनैतिक सम्बन्ध स्थापित किये जाने के फलस्वरूप गर्भ में आये शिशु को लज्जाजनक नहीं, सम्मानजनक मानती है।

अध्याय ३

नायिका संबंधी कल्पना के मुख्य स्रोत

स्त्री पुरुष का आदिकाल से ही सम्बन्ध रहा है। पश्चिमी देशों में आदम और हौवा तथा भारत में अर्द्धनारीश्वर की कल्पना आदिकाल से ही की जाती रही है। चूंकि स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध सृष्टि-क्रम का साधन है, अतः इस सम्बन्ध में वासना का प्रमुख स्थान हो जाता है। इस दृष्टि से नारी के दो रूपों की कल्पना की जा सकती है—वासनात्मक और अवासनात्मक। वासनात्मक रूप के अन्तर्गत नारी का पत्नी, प्रेमिका और वेश्या रूप आता है। पत्नी रूप के भी पारिवारिक और वैयक्तिक दो रूप हो सकते हैं। पारिवारिक के अन्तर्गत विधवा एवं सधवा रूप होते हैं, जिनमें नारी का परिवार के अन्य सदस्यों यथा सास-ससुर, ननद, देवर आदि से सम्बन्ध तथा गृह-कार्यों में कुशलता आदि का महत्व होता है। वैयक्तिक में नारी का अपना व्यक्तिगत जीवन होता है। अवासनात्मक रूप के अन्तर्गत माँ, बहन, साध आदि परम्परागत रूप और आधुनिक रूप, जैसे अध्यापिका, डाक्टर, वकील, सज-दूरिन आदि रूप रखे जा सकते हैं। आज उपन्यासों में केवल उच्चवर्ग का ही चित्रण नहीं होता, निम्न वर्ग को भी प्रधानता दी जाती है। उपन्यासकार सामान्यतः अपने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं पारिवारिक स्थिति और अपने चारों तरफ के वातावरण से अत्यधिक प्रभावित होता है तथा उनसे प्रेरणा ग्रहण करता है। वह उन परिस्थितियों और ज्वलन्त समस्याओं में अपनी कल्पना के रंग भरता है। और उन्हें यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत कर उनका समाधान अपने ढंग से, अपनी विचारधारा एवं दर्शन के अनुरूप उपस्थित करता है। वह समाज के विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों में कुछ विशेष व्यक्तियों को चुन लेता है, जो एक प्रकार से विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व कर उस समाज की रचना, प्रक्रिया को पूर्ण करते हैं। उपन्यास-कार अपनी कथावस्तु को उद्देश्य तक ले जाने का उत्तरदायित्व उन्हीं को सौंप देता है और अपने लक्ष्य को स्पर्श करने का प्रयास करता है। इन्हीं पात्रों में से नायिका भी होती है। नायिका की परिकल्पना के सम्बन्ध में उपन्यासकारों को अनेक स्रोतों से प्रेरणा प्राप्त होती रही है। नारी के आदर्श पत्नी रूप, भगिनी रूप, माता, वीरांगना तथा विदुषी रूप आदि जिन रूपों की ऊपर चर्चा की गई है, उपन्यासकार उनसे आकर्षित होते रहे हैं, और उन्हीं के अनुरूप उन्होंने नायिका की परिकल्पना

कर नारी चरित्र के मूल्यांकन करने का प्रयास किया है । इस परिकल्पना की पृष्ठ-भूमि में नारी की सामाजिक, राजनीतिक, एवं पारिवारिक स्थिति का महत्वपूर्ण स्थान होता है, और उपन्यासकार ऐसी नायिका की परिकल्पना करता है, जिसमें नारी की तत्कालीन स्थिति का पूर्ण चित्रण संभव हो पाता है । अतः नायिका की कल्पना के विभिन्न स्रोत होते हैं, जिन्हें प्रमुख रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

क—परम्परागत

ख—आधुनिक

परम्परागत वर्ग के अन्तर्गत नारी का आदर्श पत्नी रूप, मातृ रूप, अन्यरूप तथा भगिनी आदि रूप, आदि रखा जा सकता है । राष्ट्रीय जागरण के लिए प्रसिद्ध पौराणिक एवं ऐतिहासिक पात्रों से प्रेरणा ग्रहण कर जिन नारी पात्रों की कल्पना की जाती है, तथा राष्ट्रीय उत्थान के लिए आदर्श चरित्रों की आवश्यकता ध्यान में रख कर जिन नारी पात्रों की कल्पना की जाती है, उन्हें भी इसी वर्ग में रखा जा सकता है । आधुनिक वर्ग के अन्तर्गत नारी की नवीन चेतना और उस नवीन चेतना का परिणाम, नारी प्रेम तथा नवीन नारी मनोविज्ञान का अध्ययन किया जा सकता है ।

मातृरूप

परम्परागत रूपों में नारी का मातृरूप प्राचीन काल से ही अत्यन्त महत्व-पूर्ण रहा है । हिन्दू विवाह का लक्ष्य पति-पत्नी का पूर्ण विकास तो है ही, साथ ही समाज की प्रगति एवं संरक्षण तथा सभ्यता एवं संस्कृति का विकास भी है । पत्नी बच्चों को जन्म देकर उन्हें शिक्षा देती है, उचित ढंग से उनके व्यक्तित्व के विकास का प्रयत्न करती है, और बच्चों को माँ के रूप में जीवन का समस्त वैभव और स्वर्ग प्राप्त होता है । प्रत्येक नारी की स्वाभाविक इच्छा माँ बनने की होती है । विवाहोपरान्त पुत्र-जन्म समाज में तथा परिवार में उसकी मान मर्यादा में वृद्धि करता है । किसा गौतमी जब तक माँ नहीं बन गई, उसके साथ परिवार में दुर्व्यवहार होता रहा, पर पुत्र जन्म के पश्चात् ही स्थिति में परिवर्तन हो गया और वह पूर्ण सम्मान की अधिकारिणी बन गई । पुत्र जन्म के लिए अनेक प्रार्थनाएं होती हैं, तथा मनौतियाँ मानी जाती हैं, क्योंकि संतानहीना नारी अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण समझी जाती है ।[1] भारत में माँ का महत्व अधिक महत्वपूर्ण है । वह चाहे सामाजिक या धार्मिक रूप से बहिष्कृत क्यों न हो, पुत्र उसका साथ कभी नहीं छोड़ता था ।[2] वह अपने

---

१. या वाडपुत्रा पत्नी सा परिवृत्ती । सा निर्ऋतिगृहीता ।
तद्यदेवास्या नैर्ऋतं रूपं तदेवैतच्छमयति । शतपथ ब्राह्मण—३, १, १३ ।

२. डा० ए० एस० अल्टेकर, : द पोजीशन ऑव वीमेन इन हिन्दू सिविलीजेशन, (१९५६), बनारस, पृ० १०१ ।

पिता से भी अधिक माँ का सम्मान करता था। अपनी संतानों से दूर रह कर माँ कभी प्रसन्न नहीं रह सकती। कुन्ती के पुत्रों को जब तेरह वर्ष का वनवास दिया गया, तो उसने अत्यन्त मार्मिक संदेश में भगवान कृष्ण से कहा था कि न तो उसकी निर्धनता और न उसका वैधव्य उसके लिए इतना कष्ट-प्रद था, जितना पुत्रों का इतना दीर्घावधि के लिए विछोह। वास्तव में प्राचीन काल से ही नारी जीवन की सफलता एवं सार्थकता उसके मातृत्व रूप में सिद्ध होती है। भारत में जब समाज निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था में था, तो उर्वरता की उपासना करते हुए नारी को क्षेत्र की संज्ञा दी गई थी।[१] नारी को 'सीता" (पृथ्वी) तथा पुत्र को नरक से तारने वाली भी कहा गया था।[२] बाद में परिवर्तित परिस्थितियों में पुत्र जन्म देना अथवा माँ बन जाना ही नारी की प्रमुख विशेषता नहीं रह गई। नारी के स्वभाव में ममता का अथाह सागर निहित रहता है। उसके अन्तरमन में जो ममता का भाव रहता है, उसे वह निर्दोष पुष्पों की भाँति सारी मानवता पर बिखेर कर अपने मातृत्व का विकास करती है। पालन पोषण, स्नेह वात्सल्य तथा सेवाभाव आदि मातृरूपा नारी की सर्वप्रमुख विशेषताएं होती हैं, जिनसे वह संसार में सुख, संतोष एवं उल्लासपूर्ण वातावरण का निर्माण करती है और मानवता उसके बन्धन में सुख प्राप्त करती है, विकसित होती है और अपनी सार्थकता सिद्ध करती है। मातृत्व में नारी का चरमोत्कर्ष है, तथा वात्सल्य में पूर्णता है। यशोदा, देवकी, कुन्ती, सुमित्रा, कौशल्या, सीता आदि के आदर्श इस कथन की पुष्टि करते हैं। वास्तव में माँ स्वयं कर्तव्य-पालन, उत्तरदायित्व को समझने की शक्ति और उसके सफल निर्वाह की भावना का विकास अपने आप में करती है, तथा अपनी संतान में भी उन्हीं भावनाओं का विकास कर प्रगतिशील समाज की रचना प्रक्रिया में सहयोग प्रदान करती है। कुन्ती में इसी कर्त्तव्य-पालन और उत्तरदायित्व का चरमोत्कर्ष है। सत्कारक ब्राह्मण के पुत्र की रक्षा हेतु वह अपने पुत्र का बलिदान करने को सहज ही प्रस्तुत हो जाती है। परिवार में पिता की अनुपस्थिति में माता उसकी प्रतिनिधि होती है, और धैर्य एवं विश्वास से परिवार का पालन पोषण एवं संचालन करती है। वह अपनी संतानों को अभाव का आभास नहीं होने देती, तथा उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने का प्रयत्न करती है। गर्भावस्था में वह पीड़ा सहन करती है, अपना रक्त देती है, पर अपने पुत्रों से उसका कुछ भी प्रतिदान नहीं माँगती। अपनी सारी प्रसन्नता, वैभव, उल्लास, सुख एवं संतोष वह अपनी संतानों के जीवन निर्माण के हेतु निछावर कर देती है हंसते-हंसते, पर कभी भूले से भी उसके मन में यह भावना नहीं पनपती कि वह इसका मूल्य भी कभी पायेगी। वह तो इसे मात्र अपना कर्त्तव्य समझ कर पूर्ण करती है। त्याग ही उसका जीवन होता है और अन्त तक वह

---

१. स्त्रीक्षेत्रबीपिनो नरा : नारदस्मृति, १२, १६।

२. पुन्नाम नरकात् त्रायत इति पुत्रः।

अपनी उसी पवित्र त्याग भावना का प्रदर्शन करती जाती है। स्नेह की अमित भावना का प्रसाद रूप में वितरित करती रहती है, तथा अपने अन्तरमन की सारी पवित्र भावनाओं को अपने परिवार, अपने पुत्रों के लिए संचित करती जाती है, इसी से वह अत्यन्त गरिमामयी हो जाती है, और समाज में उसका पद अत्यन्त गौरवपूर्ण हो जाता है। हिन्दी उपन्यासकारों को भारतीय समाज में नारियों के इस महत्वपूर्ण स्थान ने सदैव ही आकर्षित किया है और उन्होंने अपनी नायिकाओं की परिकल्पना का स्रोत इस गौरवशाली परम्परा में निहित पाया है। प्रायः जब भी उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों के कथानक की पृष्ठभूमि भारतीय समाज एवं परिवार की आधार-शिला पर निर्मित की है, मातृत्व की इन्हीं भावनाओं को अपनी नायिकाओं में प्रतिबिम्बित किया है।

प्रेमचन्द के प्रसिद्ध उपन्यास "गोदान" में मातृत्व के ऊपर जो विचार प्रकट किये हैं, उसी से मिलते-जुलते विचार उनके तत्कालीन सभी उपन्यासकारों ने नारी के मातृ-रूप के सम्बन्ध में अपनाए हैं। प्रेमचन्द के पूर्व और उनके बाद भी कुछ वर्षों तक, जब तक फ्रायड, एडलर, युंग तथा हैवलाक आदि द्वारा प्रतिपादित मनोवैज्ञानिक धारणाओं के अन्तर्गत नवीन नारी मनोविज्ञान का हिन्दी उपन्यास साहित्य में पूर्ण विकास नहीं हो गया, नारी की मर्यादा, उसका गौरव तथा उसकी महत्ता, सभी कुछ उसके स्नेह वात्सल्य एवं मातृत्व के पवित्र गुणों से आँकी जाती थी। गोदान में ही मालती प्रारम्भ में विलासिनी, फैशन परस्त प्रेमिका के रूप में दृष्टिगोचर होती है। पर धीरे-धीरे उसके चरित्र में क्रमशः परिवर्तन होता जाता है, और अन्त में वह पूर्णतया भिन्न प्रकार की मालती बन जाती है। भारतीय परम्परा के अनुसार मालती के लिए यह अत्यन्त स्वाभाविक भी था; क्योंकि, नारी केवल माँ है, और उसके उपरान्त वह जो कुछ है, वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है। मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान् विजय है। एक शब्द में उसे कहूँगा जीवन का, व्यक्तित्व का और नारीत्व का भी।[1] यह दूसरी बात है कि कहीं माँ पर लांछन लगे, उसे अपमानित किया जाय, उसकी निन्दा हो, पर यह कटु सत्य है कि, "मातृत्व महान् गौरव का पद है—और गौरव के पद में कहाँ अपमान और धिक्कार और तिरस्कार नहीं मिला? माता का काम जीवनदान देना है। जिसके हाथों में इतनी अतुल शक्ति है, उसे इसकी क्या परवाह कि कौन उससे रूठता है, कौन बिगड़ता है। प्राण के बिना जैसे देह नहीं रह सकती, उसी तरह प्राण को भी देह ही सबसे उपयुक्त स्थान है।"[2] नारी का यही गौरवपूर्ण मातृ-रूप उपन्यासों के लिए सदैव ही प्रेरणा का स्रोत रहा है।

---

१. प्रेमचन्द : गोदान, (१९३६), बनारस, पृ० २१०।
२. वही, पृ० २०९।

जैनेन्द्र कुमार के "त्यागपत्र" में मृणाल का जीवन वस्तुतः संघर्ष और पराजय की तीखी कहानी है। उसके जीवन में सदैव ही असंतोष रहा है, कभी उसे वास्तविक सुख नहीं प्राप्त हुआ, किसी का हार्दिक स्नेह नहीं प्राप्त हुआ, सभी मिल कर उसे सलाखों पर चढ़ाते गए आग के शोले हृदय के फफोलों के साथ भड़कते गए और परिस्थिति यहाँ तक आ पहुँचती है कि सभ्य एवं सुशिक्षित समाज की नारी अपने भाई के घर से पतिगृह के माध्यम से (!) कोयले वाले की दूकान पर आ बैठती है। बात यहीं नहीं समाप्त हो जाती, वह अभागिनी नारी गर्भवती भी हो जाती है। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते पारा इतना गर्म हो चुका था कि वह किसी भी क्षण टूट कर बिखर सकता था। मृणाल के मन में अनेक बार अपने जीवन को समाप्त करने का हीन और निन्दनीय भाव उत्पन्न भी हुआ, फिर भी उसने आत्म-हत्या नहीं की ? आखिर क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर यद्यपि जैनेन्द्र स्पष्ट रूप से देना नहीं चाहते थे,[1] पर यह सत्य है कि मृणाल के अन्तरमन में अंकुरित उसके मातृत्व के भाव ने उसे आत्महत्या करने से बराबर रोका। यद्यपि उपन्यासकार ने इसकी ओर संकेत नहीं किया है, फिर भी यह हो सकता है कि मृणाल ने अपने जीवन को समाप्त करने के लिए एकाध बार प्रयास किया भी हो, पर अन्तिम क्षण उसके मातृत्व ने उसे ऐसा निन्दनीय कार्य करने से विवश कर दिया होगा, और वह अपने पेट के बच्चे के लिए जीती रही, संघर्ष करती रही। सियाराम शरण गुप्त के 'नारी" की जमना में भी ममत्व का भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है। अपने पति की अनुपस्थिति में वह निराश नहीं होती, उसका पूर्ण प्रतिनिधित्व कर परिवार में उसकी कमी स्वयं पूर्ण करने का प्रयास करती हैं। अपने एकमात्र पुत्र हल्ली को वह जी जान से प्यार करती है, अच्छी शिक्षा देने का प्रयत्न करती है. तथा उसके चरित्र निर्माण पर बल देती है। भारत में नारियों में मातृत्व का इतना विकास हो गया था, और उसकी महत्ता इतनी वृद्धि प्राप्त कर गई थी, कि विश्व के अन्य भागों में भी नारियों में ममत्व के विकास पर बल दिया जाने लगा[2] तथा उसकी शिक्षा का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किए जाने का विचार प्रकट किया गया,

---

१. वास्तव में मनोवैज्ञानिक चरित्र चित्रण के आधार पर जैनेन्द्र नारी की उस समस्या को प्रस्तुत करना चाहते थे कि नारी की मुक्ति किसमें है ? क्या वह केवल इसीलिए दयनीय है कि वह आर्थिक रूप से परतन्त्र है, पर मृणाल का चरित्र इतना ऊंचा उठ गया था, कि मातृत्व का भाव पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुआ।

२. We cannot yield in our belief that woman's greatest function is motherhood, but recognition of this should increase, not diminish, strength of her position in the State.—पोप जो ऐन्ड जॉन्सन : ऐप्लाइड ईयोजेनिक्स, (लन्दन), पृ० ३६५।

जिससे वह इस महान् उत्तरदायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह कर सके।'[1]

नारी का पत्नी रूप

परम्परागत रूपों में नारी का आदर्श पत्नी रूप भी उपन्यासकारों की नायिका सम्बन्धी परिकल्पना का प्रमुख स्रोत रहा है। भारतीय परम्परा में पत्नी की स्थिति विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न रही है। वैदिक कालीन युग में परिवार में पत्नी को सम्माननीय स्थान प्राप्त था। इस युग में पत्नी युवावस्था में प्रायः शिक्षित होने के पश्चात् ही अपने पितृ-गृह को त्याग नए घर में प्रवेश करती थी, अतः विवाह के पश्चात् शीघ्र ही पति-गृह का सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर स्वीकार कर लेती थी, और गृह-व्यवस्था साधारणतया उसी की विचारधारा के अनुरूप निर्धारित होती थी। परिवार के अन्य वृद्धजन नई बहू से स्नेह और सम्मान पूर्ण ढंग से व्यवहार करते थे। बुद्ध के समय में भी विवाह के समय पत्नी की आयु लगभग १६ वर्ष रहती थी, पर कुछ उदाहरणों से अनेक प्रति होने वाले कटु व्यवहारों का संकेत प्राप्त होता है। यद्यपि उनके अपने नवीन परिवार में अब भी सम्मान और स्नेह प्राप्त होता था, और गृह-व्यवस्था का संचालन अब भी लगभग उन्हीं के हाथों था, फिर भी उनकी स्थिति की दयनीयता के प्रसंग प्राप्त होते हैं। आगे जब बाल विवाह की प्रथा को बल प्राप्त हुआ, और लड़कियों में शिक्षा की न्यूनता आने लगी, तब पत्नी की यह सम्मानपूर्ण स्थिति परिवर्तित हो गई, और गृह-व्यवस्था के संचालन का भार उसके हाथों से जाता रहा, और उसके प्रति वृद्धजनों तथा अन्य बड़ों के व्यवहार में भी अंतर आने लगा। उनका महत्व अब अपने पतियों के शिष्यों से कुछ अधिक न रह गया, जो विवाह के समय भी स्वयं मात्र शिष्य ही रहते थे। लड़कियों की अल्पायु, अशिक्षा और अनुभवहीनता के कारण गृह के कामकाज में यदा-कदा त्रुटियों की संभावना बराबर बनी रहती थी और ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर सासें उनके साथ अत्यन्त निर्दय एवं कठोर व्यवहार प्रदर्शित कर उन पर अपना अधिकार एवं नियंत्रण सिद्ध करती थीं। ऐसी विषम परिस्थिति में लड़कियों को अपने पति से सांत्वना का कोई शब्द भी नहीं प्राप्त होता था, क्योंकि अल्पायु के कारण यथेष्ठ समय तक पति-पत्नी एकांत में नहीं मिल सकते थे, और एक दूसरे की व्यथा में भागीदार नहीं बन सकते थे। वस्तुतः उनमें परस्पर आत्मीयता अथवा एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप से समझने का भाव न था। अवेस्ता के अनुसार अपने पति के प्रति आज्ञाकारिणी रहना ही पत्नी की सर्व-प्रमुख विशेषता होती है। पर वैदिक विवाह परम्परा में इसे समर्थन नहीं प्राप्त हुआ, और पति-पत्नी दोनों को एक दूसरे के प्रति उत्तरदायी रहने की शपथ ग्रहण करनी पड़ती थी यद्यपि परिवार में पति सर्वोपरि होता था। वे इस बात की प्रतिज्ञा करते थे कि दोनों एक दूसरे को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सहयोग प्रदान करेंगे और आत्मिक, आर्थिक विकास तथा जीवन के उद्देश्य की

---

१. एल्फ्रेड एडलर : प्रोब्लम्स ऑव न्यूरोसिस (लन्दन), पृ० ४२-४३।

पूर्ति में साधक सिद्ध होंगे। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में वैवाहिक निश्चयों का किसी दम्पत्ति द्वारा ईमानदारी से पालन करने पर उसे निरादर एवं अवहेलना की दृष्टि से देखा जाता था।

पति-पत्नी में परस्पर सहयोग और सद्भावना की स्थिति आगे चलकर सुधरी। बाद में यह कहा गया कि मनुष्य एक नारी से संसर्ग स्थापित कर जब तक एक संतान को जन्म नहीं देता, तब तक वह अधूरा है, उसका जीवन अपूर्ण है।[1] अतः स्वभावतः एक दूसरे का सुख-संतोष एक दूसरे पर आश्रित समझा गया। दोनों के परस्पर सहयोग एवं मतैक्य में गृह को स्वर्ग रूप में, तथा इसके अभाव में नरक-रूप में कल्पित किया जाने लगा। पति के सुख का मूलाधार पत्नी ही समझी जाने लगी। पति चाहे कितना ही अवसाद ग्रस्त क्यों न हो, चाहे कितना ही चिंताग्रस्त क्यों न हो, पत्नी के सहयोग से वह अपनी सारी कठिनाईयों का साहसपूर्वक सामना कर सकता था और उन पर विजय प्राप्त कर सकता था। पत्नी ही एकमात्र ऐसी सहयोगिनी अथवा मित्र समझी जाती थी, जो किन्हीं भी परिस्थितियों में पति को अकेला नहीं छोड़ती थी। वास्तव में पत्नी का महत्व अत्यधिक बढ़ गया था और बिना पत्नी के जीवन वन के सदृश समझा जाने लगा। अतः अपनी पत्नी को अपने सबसे निकटतम मित्र के रूप में समझने लगा और वह बिना उसके सहयोग के किसी भी व्यक्तिगत सुख संतोष की कल्पना नहीं कर पाता था। अपनी पत्नी का भरण पोषण करना, उसे सम्माननीय ढंग से रखना पति का प्रमुख कर्तव्य समझा जाता था, जिसके अभाव में उसे पति कहलाने का कोई अधिकार नहीं था। पत्नी इसके बदले अपने पति के प्रति हार्दिक रूप से कृतज्ञ होती थी, तथा अपने को पति की विश्वास-पात्री बनाकर वैवाहिक प्रतिज्ञाओं का पालन करते हुए पातिव्रत-जीवन की दिशा में अग्रसर होती थी। वह अपने पति के सुख की अधिकाधिक वृद्धि का प्रयास करती थी। स्वयं उसका वास्तविक सुख एवं संतोष पति में ही केन्द्रित माना जाता था। और अपने पति से सम्बन्ध विच्छेद होने की अवस्था में वह किसी सुख, प्रसन्नता या स्वर्ग की कामना न कर मृत्यु की ही कामना करती थी। अतः पति के सुख दुख में वह समान रूप से अपने पति के साथ ही रहती थी। गृह व्यवस्था का उत्तरदायित्व मुख्य रूप से पत्नी के ऊपर होता था, जिसे वह अपने पति के परामर्श से पूर्ण करती थी। जिससे परिवार में सुख समृद्धि और पूर्ण सन्तोष व्याप्त होता था, और आदर्श परिवार की कल्पना साकार होती थी। पति के खर्चीले होने पर उस पर आदर्श पूर्ण ढंग से नियंत्रण रखना उसका प्रमुख कर्तव्य होता था। वस्तुओं के मूल्य घटने पर वह उन्हें क्रय करती थी, और वर्ष भर प्रयोग के लिए सुरक्षित रखती थी। परिवार

---

१. अर्धो हं वैष आत्मनस्तस्माद्यावज्जायां न विन्दते अर्धो ह तावद्भवति अथ यदैव जायां विन्दते थ प्रजायते तर्हि सर्वो भवति।

—शतपथ ब्राह्मण १, ६, १०

में सभी खर्चों को वही चुकाती थी और नौकरों की अनिवार्य आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उन्हें पुराने वस्त्र और अन्य सामग्री भी वही देती थी। जानवरों और कृषि का निरीक्षण भी उसकी अधिकार सीमा के अंतर्गत था।[१] अपने अवकाश के क्षणों में वह सीने-पिरोने, तथा रस्सी बनाने का कार्य करती थी। कठिनाइयों के के समय में वह अपने पति की प्रमुख परामर्शदायत्री होती थी, और यदि पति सत्य और कर्तव्य-पथ का पालन करने से असमर्थ रहता था, या अपनी अनिच्छा प्रकट करता था तो पत्नी का प्रमुख कर्तव्य उसे उचित राह पर आदर्शपूर्ण ढंग से वापस लाने का होता था।[२] पत्नी की ये प्रमुख विशेषताएं थीं और इन्हें पूर्ण करने पर उसे पतिव्रता कहा जाता था। पतिव्रता से यह वसुन्धरा स्वर्ग बन जाती है। सारे तीर्थ, सारी धार्मिक भावनाएं पवित्रता आदर्श पत्नी के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं, और संसार में कोई ऐसा पाप नहीं है, जिसका निराकरण केवल नारी की उपस्थिति मात्र से न किया जा सके। यह भावना सशक्त रूप में विद्यमान थी। निष्कर्ष रूप में परिवार में पत्नी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान होता था। एक प्रकार से वह परिवार के सुख संतोष का केन्द्र बिन्दु होती थी और पति की प्रसन्नता और चिंतारहित मानसिक शांति का कारण होती थी। पत्नी में चिंतनशीलता, दूरदर्शिता, परिवार के व्यय को सामान्यतः संतुलित रूप से चलाने का गुण तथा स्वभाव की मृदुता, दया-शीलता, सहिष्णुता आदि अनेक गुण होते थे, और तभी पत्नी का श्रेष्ठ रूप समझा जाता था। पत्नी को लेकर मनुष्य की ही नहीं, परिवार की भी पूर्णता एक प्रकार से सम्भव हो पाती थी तथा मानव जीवन सुखी होता था।

इस प्रकार भारतीय परम्परा में नारी के पत्नी रूप का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। नारी ने इस रूप में सभ्यता के प्रारम्भ से ही गौरव एवं प्रतिष्ठा प्राप्त की है, और अपनी समस्त विशेषताओं का प्रदर्शन किया है। अतः नारी का यह प्रधान रूप उपन्यासकारों की दृष्टि से न बच सका और वे इससे विशेष रूप से अनुप्राणित हुए। उन्होंने नारी के इस रूप से प्रेरणा ग्रहण की और आदर्श पत्नी रूप में अनेक नायिकाओं की कल्पना की। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास "निर्मला" में निर्मला के रूप से आदर्श-पत्नी का एक गौरवशाली रूप चित्रित किया है। प्रेमचन्द के अन्य "कर्मभूमि" की प्रधान नारी पात्र सुखदा में भी इसी आदर्श पत्नी की परम्परा का निर्वाह हुआ है। जैनेन्द्र कुमार के उपन्यास "कल्याणी" की नायिका की कल्पना का स्रोत भी आदर्श पत्नी की इसी गौरवशाली परम्परा में निहित है। यद्यपि जैनेन्द्र

---

१. न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं तु गृहिणीहीनं कान्तारादति रिच्यते॥

—महाभारत १४४, ६

२. डा० ए० एस० अलटेकर : द पोजीशन ऑव वीमन इन हिन्दू सिविलीजेशन, (१९५६), बनारस, पृष्ठ ९९।

कुमार का उद्देश्य मुख्यतः कल्याणी की अंतरमन की वृत्तियों का उद्घाटन, उसकी विवशताओं, घुटन आदि का वर्णन ही रहा है, फिर भी कल्याणी का वैवाहिक जीवन इसी परम्परा से कुछ भिन्न नहीं है। वस्तुतः कल्याणी का आन्तरिक विद्रोह अन्दर ही दबा रहता है, उसका मुक्त प्रवाह नहीं होता, और आत्मपीड़न में ही उसकी मृत्यु होती है। यद्यपि उसका संघर्ष मनोवैज्ञानिक स्तर पर चित्रित किया गया है, फिर भी उसकी आत्मनिष्ठा, उसका गौरव, आदर्श पत्नीत्व का उसका गुण किंचित्-मात्र भी न्यून नहीं होता। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के कारण परम्परागत रूप से भिन्न उसमें प्रेमचन्द काल की आदर्शपत्नी नायिकाओं से थोड़ा अंतर है, पर यह नवीन दृष्टि ही है, कल्याणी के चरित्रगत दोष के कारण नहीं। जयशंकर प्रसाद कृत "तितली" की नायिका की कल्पना का स्रोत भी यही परम्परा है। तितली जिस प्रकार मधुवन के विषमतापूर्ण जीवन को सुखमय बनाने का और अपने कर्तव्य का पालन करने का यत्न करती है, वह आदर्श के अनुरूप ही है। सियारामशरण गुप्त कृत "नारी" में भी इसी परम्परा से प्रेरणा ग्रहण की गई है। इस प्रकार भारतीय नारी की गौरवशाली परम्परा में आदर्श-पत्नी का एकांत, स्थिर, त्याग एवं महत्व-पूर्ण तथा कर्तव्य एवं धर्मनिष्ठ तथा पवित्र-प्रेम का गुण उपन्यासकारों के लिए सदैव प्रेरणा का स्रोत रहा है।

अन्य रूप

नारी के आदर्श पत्नी रूप तथा मातृ रूप के अतिरिक्त अन्य परम्परागत रूपों में भी उपन्यासकार अपनी नायिकाओं की परिकल्पना का स्रोत प्राप्त करता रहा है। नारी का भगिनी रूप, अविवाहित बड़ी पुत्री का रूप भाभी, तथा अन्य पारिवारिक रूप भी उपन्यासकारों ने प्रेरणा के रूप में ग्रहण किया है। इसमें भगिनी रूप अधिक महत्वपूर्ण रहा है। भारतीय आदर्श में सभ्यता एवं संस्कृति के प्रारम्भ से ही बहनों को परिवार में महत्व प्राप्त रहा है। परिवार में बहन का स्थान अत्यन्त पवित्र होता है। वह अपने भाइयों के लिए प्रेरणा एवं शक्ति का केन्द्र रही है। संकट के समय भाई उनकी रक्षा के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाकर, अपने को पूर्ण संकट में डाल बहन की रक्षा करता था तथा बदले में बहन अपने भाइयों को प्रेरणा देती थीं, उत्साह देती थीं, उन्हें परिवार में सुख एवं संतोष देने का प्रयत्न करती थीं। भाइयों के लिये ही नहीं दो बहनें स्वयं एक दूसरे के लिए शक्ति और विश्वास का रूप होती थीं। जीवन में जिस सहयोग की भावना की नितान्त आवश्य-कता होती है, उसका जन्म वास्तव में परिवार में ही होता है, और भाई-बहन मिलकर उस सहयोग की भावना को पुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। नारी का यह भगिनी रूप भी उपन्यासकारों को प्रभावित करता है और अनेक उपन्यासकारों ने नारी के इस पवित्र रूप का अंकन अपने उपन्यास में करने का प्रयत्न किया है। बहनों में अनुपम त्याग, अमित स्नेह, भाई के विकास की कामना, अपनी बड़ी या छोटी बहन के लिए

भी उसी प्रकार की समान भावना आदि के प्रति उपन्यासकार विशेष रूप से आकृष्ट रहे हैं। जैनेन्द्र कुमार के "सुनीता" में उपन्यासकार का उद्देश्य भले ही भगिनी की समस्त विशेषताओं का चित्रण न होकर कुछ और ही रहा हो, पर सुनीता और सत्या के रूप में जाने-अनजाने ये विशेषताएं आकर्षक ढंग से चित्रित हुई हैं। भगवतीप्रसाद वाजपेयी के उपन्यास "दो बहनें" में भी इसी प्रकार की भावनाओं का परिचय प्राप्त होता है। इस प्रकार नारी के अनेक परम्परागत रूपों में उपन्यासकारों को अपनी नायिकाओं की परिकल्पना का स्रोत प्राप्त होता रहा।

राष्ट्रीय जागरण के लिए प्रसिद्ध पौराणिक एवं ऐतिहासिक पात्रों से प्रेरणा

जिस समय हिन्दी उपन्यास साहित्य का अविर्भाव हुआ, भारत दासता की शृंखलाओं में जकड़ा था। ब्रिटिश साम्राज्य की पूर्ण स्थापना हो चुकी थी, अंग्रेजों ने अपने स्वार्थ साधन की धुन में भारत के हितों को ठुकरा दिया था। परिणामस्वरूप भारत अधोगति की अवस्था को पहुंच रहा था। भारतीयों में चेतना और जागृति के प्रति विशेष उत्साह न था। अपनी शोचनीय अवस्था को अपना दुर्भाग्य तथा नियति का विधान मान वे चुपचाप अंग्रेजों के प्रति अपनी स्वामिभक्ति का परिचय दे रहे थे। नारियों की स्थिति तो और भी शोचनीय थी। उनमें नाममात्र को भी उत्साह न था, और न उन्हें विशेष राजनीतिक अथवा सामाजिक सम्मान ही प्राप्त थे। वे अपने जन्मजात अधिकारों के प्रति सचेत एवं सचेष्ट भी नहीं थीं। ऐसे प्रयत्न भी विशेष नहीं हो रहे थे जिससे उनमें अपने अतीत के गौरव से प्रेरणा प्राप्त हो सके। धार्मिक सुधार आन्दोलनों में अवश्य ही क्रियाशीलता थी, पर उन्हें पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त हो रही थी। आवश्यकता थी कि साहित्य के माध्यम से इतिहास के गौरवशाली पृष्ठों में से नारी के अनुकरणीय आदर्शों को पुनः एक नए सिरे से प्रस्तुत किया जाय, जिससे नारियों को एक दिशा प्राप्त हो सके, और वे अपने अधिकारों के प्रति सचेष्ट होकर राष्ट्र के नवनिर्माण के दायित्व में सामूहिक रूप से जुट जाएं। साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब तो होता ही है, उसकी आवश्यकताओं को भी साथ लेकर चलता है, जिससे समाज में गतिशीलता की भावना वर्तमान रहे, और उसके सदस्य अपने जीवन में नवीन प्रतिमाओं की स्थापना करते हुए चलें। हिन्दी में उपन्यास साहित्य एक प्रकार से इसी भावना को आत्मसात करके सुधारवादी भावना लेकर आया ही था। तत्कालीन समाज की आवश्यकताओं को प्रस्तुत करने एवं नवीन चेतना तथा जागरण के प्रसार की दिशा में उपन्यास एक शक्तिशाली माध्यम निसंदेह सिद्ध हो सकते हैं। वास्तव में उपन्यासकारों का दायित्व मात्र मनोरंजक कथा का वर्णन करना ही नहीं, निर्माण का भी होता है। व्यक्ति का, समाज का, राष्ट्र का निर्माण करना इनका प्रमुख उत्तरदायित्व होता है। इस काल में नारियां अपना अतीत का गौरव विस्मरण कर चुकी थीं और उनमें चेतना तथा जागृति की न्यूनता अत्यन्त शोचनीय अवस्था को स्पर्श कर चुकी थी। ऐसी अवस्था में उपन्यासकारों ने इतिहास के पृष्ठों

में ऐसे नारी पात्रों को खोज निकाल अपने उपन्यासों में स्थान देने का लक्ष्य बनाया, जिससे नारियों को प्रेरणा तो प्राप्त हो ही सके, अपने अतीत के गौरव के स्मरण से उनके उत्साह के साथ ऊंचे उठने का भाव भी जन्म ले सके। नारियों का सतीत्व, उनका शक्ति रूप, उनकी वीरता, धैर्य, साहस एवं सहिष्णुता आदि के भाव सभ्यता के प्रारम्भ से ही अत्यन्त प्रसिद्ध रहे हैं, और प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। सावित्री, अहिल्यावाई, सीता, उर्मिला आदि पौराणिक पात्र तथा बाद में राजपूती नारियों का अपने सतीत्व की रक्षा एवं अनुपम त्याग के उदाहरण सहज भुलाए नहीं जा सकते। इन इतिहास प्रसिद्ध नारियो का चरित्र वस्तुतः भारतीय नारियों की सशक्त गौरवशाली परम्परा का ही प्रतीक है, और प्राचीनकाल से ही नारियों की श्रेष्ठता और उनकी चरित्रगत महत्ता को प्रतिपादित करता है। सावित्री का अपने पति के प्रति दृढ़ आस्था, पातिव्रत-धर्म का पालन, सीता का राम के सुख-दुख में साथ देने की पवित्र भावना, महलों का सुख और ऐश्वर्य, त्याग जंगलों के दारूण दुख सहने के लिए निकल पड़ना, उर्मिला का विरहाग्नि में जलकर भी अपने कर्त्तव्य का पालन और पति के प्रति विश्वास की अभिव्यक्ति, पद्मिनी का जौहर, झाँसी की रानी लक्ष्मीवाई का शौर्य-प्रदर्शन आदि सभी कुछ ने इतिहास में इतने स्वर्णिम पृष्ठों की रचना की थी, कि उपन्यासकार उससे प्रभावित हुए विना नहीं रह सके। वंगाल में वंकिमचन्द्र चटर्जी (१८३८-१८९४) अपने उपन्यासों में ऐसे ही पात्रों की अवतारणा करके राष्ट्रीय जागृति के प्रसारण कार्य में सफल हो रहे थे।[1] हिन्दी उपन्यासकारों को उससे भी बहुत प्रेरणा मिली, साथ ही हिन्दी में स्वयं जयशंकर प्रसाद अपने नाटकों में इतिहास के गौरवशाली पृष्ठों को उलटकर इसी उद्देश्य की पूर्ति कर रहे थे। अतः अनेक उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों में नायिकाओं की परिकल्पना का स्रोत इसी गौरवशाली परम्परा में निहित पाया, क्योंकि नारियों में अतीत के गौरव का स्मरण कराने तथा राष्ट्रीय जागरण का अत्यन्त महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व उन पर था। अपने उपन्यासों में इन्हीं इतिहास प्रसिद्ध नारियों की समस्त विशेषताओं का अंकन कर ऐसी नायिकाओं की परिकल्पना की, जिनमें नारियों ने इतिहास प्रसिद्ध पात्रों से कम प्रवल आकर्षण नहीं प्राप्त किया, वरन् एक नये सिरे से उनके मन में उत्साह की लहर व्याप्त होने लगी।

हिन्दी उपन्यासों के प्रारम्भ में किशोरीलाल गोस्वामी ने "तारा" नामक ऐतिहासिक उपन्यास में कुछ ऐसे नारी पात्रों को उपस्थित करने का प्रयत्न किया था, जिनसे नारियों को प्रेरणा प्राप्त हो सके और अतीत के गौरव के प्रति उनमें जागरुकता का भाव उत्पन्न हो सके। बाद में मिश्रवन्धुओं ने "विक्रमादित्य" और "पुष्यमित्र" में भी यही उद्देश्य अपने सामने रखा था, पर चूंकि तब उपन्यास कला का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था, चरित्र-चित्रण की पद्धति में भी कुशलता

---

१. ए० युसुफ अली : ए कल्चुरल हिस्ट्री ऑव इंडिया, (१९४०), वम्वई, पृष्ठ २२०

उपन्यासकारों में नहीं थी, अतः वे पात्र विशेष प्रभाव डालने में असमर्थ ही रहे। जयशंकर प्रसाद ने अपने "इरावती" उपन्यास में शुंग संस्कृति को प्रस्तुत करने तथा इरावती के चरित्र में गरिमा की स्थापना से जागृति उत्पन्न करने की दिशा में प्रयास किया था। महारानी झाँसी की वीरता, उनका अदम्य साहस, शौर्य प्रदर्शन न केवल नारियों के लिए वरन् पुरुषों के लिए भी प्रेरणा का स्रोत रहा है। वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने "झाँसी की रानी" में लक्ष्मीबाई का अत्यन्त विशद चित्र अंकित करने में इसी गौरवशाली परम्परा से प्रेरणा प्राप्त की है। लक्ष्मीबाई में वीरता, आत्मगौरव, कठोरता के साथ दया, अपने कर्त्तव्यों को पूर्ण करने का उत्साह तथा उत्तरदायित्व के निर्वाह का संकल्प-सब कुछ उनके चरित्र को इतनी गरिमा प्रदान करता है, जो किसी के लिए भी प्रेरणा का अनुपम स्रोत हो सकता है। स्वाधीनता उनका लक्ष्य था पर वह जानती थीं कि इतने बड़े साम्राज्य का अन्त यों ही नहीं किया जा सकता। वे सोचती थीं कि हमको केवल कर्म करने का अधिकार है, उसके परिणाम पर अधिकार नहीं और कर्त्तव्य पालन करते हुये मरना ही वे जीवन का दूसरा नाम समझती थीं। उन्होंने अपने जीवन को इसी आदर्श में ढाल लिया था, और उनका सम्पूर्ण जीवन इसका साक्षी है। उनमें दूरदर्शिता की कमी नहीं थी। रोज की विशाल सेना को इतने दिनों तक अटकाए रखना और धैर्यपूर्वक सामना करना उनकी कुशल रण-नीति का परिचायक है। यदि पीर अली तथा दूल्हाजू दगाबाजी न करते तो परिणाम कुछ और ही होता। वे संघर्ष······निरन्तर संघर्ष चाहती थीं,और उसी में मृत्यु चाहती थीं। वे सम्मान और प्रतिष्ठा की भूखी न थीं। वे केवल रचनात्मक कार्य चाहती थीं, क्रियाशीलता चाहती थीं, सेना में अनुशासन और प्रेरणा चाहती थीं, और कर्त्तव्य-पथ पर मर मिटने की भावना चाहती थीं। इसका परिणाम क्या होगा, इसकी चिन्ता उन्हें न थी। क्योंकि वे जानती थीं कि स्वाधीनता प्राप्ति का संघर्ष एक तपस्या है, और तपस्या में क्षय पहले होता है, अक्षय पीछे। उनका युद्ध स्वराज्य की अन्तिम साधना नहीं थी, यह वह जानती थीं, और उन्हें यह भी ज्ञात था कि वे उसकी अन्तिम साधक नहीं हैं। वे तो केवल स्वराज्य की नींव में एक कंकड़ी बन जाना चाहती थीं, क्योंकि वे जानती थीं कि ऐसे ही प्रयासों से एक दिन महान् लक्ष्य पूर्ण होगा। रानी लक्ष्मीबाई आज मृत्यु के पश्चात् भी अमर हैं। वे भारतीय नारियों की गौरवशाली परम्परा की दृढ़ आधार-स्तम्भ हैं। वे प्रकाश के एक ऐसे देदीप्यमान पुंज की भाँति आज भी अमर हैं, जिनसे आगे आने वाली शताब्दियों में न केवल नारियों को ही वरन् पुरुष को भी अनुपम प्रेरणा प्राप्त होगी—राष्ट्र की रक्षा की, कर्त्तव्य पालन की और साहस एवं वीरता की। वृन्दावन लाल वर्मा के अन्य उपन्यास "अहिल्याबाई" की नायिका की परिकल्पना का स्रोत भी यही गौरवशाली ऐतिहासिक परम्परा रही है। अहिल्याबाई के रूप में सतीत्व, चारित्रिकनिष्ठा और दृढ़ता आदि का सजीव चित्रण नारियों में उत्साह जागरित करने के उद्देश्य को पूर्ण करता है। हिन्दी उपन्यासकारों के ये

प्रयत्न निष्फल नहीं गए। उन्होंने इन नायिकाओं की परिकल्पना का स्रोत जिस शक्तिशाली परम्परा में प्राप्त किया था, उसने अपने युग में भी सफलता प्राप्त की थी तथा तत्कालीन समाज और युग को एक नवीन मोड़ प्रदान कर नारियों को एक विशेष दिशा प्रदान की थी। उसी परम्परा को जब युग की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उपन्यासकारों ने पुनर्जीवित करने का प्रयास किया तो इतिहास प्रसिद्ध उन नारियों की विशेषताएं पुनः नवीन आवरण में इन उपन्यासों में उपस्थित हुई थीं, साथ ही आधुनिक काल में नारियों को अपने जीवन के नवनिर्माण तथा उन सभी विशेषताओं को आत्मसात करने की दिशा में प्रेरणा प्राप्त हुई। स्वाधीनता प्राप्ति के आन्दोलन में नारियों का गोलियों की बौछारों के सम्मुख निश्चल रूप में खड़ी रहना, अपूर्व साहस, धैर्य एवं असीम त्याग की भावना का परिचय देना आदि इसी गौरवशाली परम्परा के परिचायक थे, जिन्होंने नारियों की चेतना में नवीन प्रेरणा भर दी थी। उपन्यासकारों को अपनी नायिकाओं की परिकल्पना के सम्बन्ध में इससे अत्यन्त प्रेरणा प्राप्त हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही उपन्यासों में इन्हीं इतिहास प्रसिद्ध नारियों की समस्त विशेषताओं को आत्मसात किए हुए नायिकाओं की अवतारणा दृष्टिगोचर होने लगी। वृन्दावन लाल वर्मा ऐसे उपन्यासकारों में अग्रगण्य हैं, और उन्होंने अपने अनेक उपन्यासों की नायिकाओं की परिकल्पना का स्रोत इसी परम्परा में स्वीकार किया है।

राष्ट्रीय उत्थान के लिए आदर्श चरित्रों की आवश्यकता

किसी भी राष्ट्र के उत्थान के लिए वहाँ के निवासियों में तप और साधना, त्याग एवं संयम आवश्यक होता है। नारियों में तो यह और भी अनिवार्य हो जाता है क्योंकि उन पर परिवार का वास्तविक उत्तरदायित्व होता है, और वस्तुतः जीवन निर्माण की प्रक्रिया परिवार से ही प्रारम्भ होती है। प्रत्येक राष्ट्र अथवा समाज का विकास अन्य बातों के अतिरिक्त वहाँ के निवासियों की चरित्रगत निष्ठा, कर्मठता, तप एवं संयमशीलता से अंकित किया जाता है। यदि एक समाज या राष्ट्र में नैतिकता अपने निम्नतम सीमा तक पहुँच चुकी है, लोगों का चारित्रिक पतन हो गया है, उनमें कर्मठता या दृढ़ निश्चयात्मक स्वर समाप्त हो गया है, तथा उच्च लक्ष्यों को स्पर्श करने की प्रेरणा मर चुकी हो तो उस राष्ट्र के पूर्णरूपेण नष्ट होने में कोई सन्देह नहीं होना चाहिए। स्वयं भारत में ही दासता की शृंखलाएं इसीलिए मजबूत हो पाई थीं कि मुसलमान शासकों में पूर्णतया चारित्रिक पतन हो गया था, उनकी सयंमशीलता समाप्त हो गई थी, पद-लालसा, भोग-लिप्सा एवं स्वार्थ-भावना के साथ मदान्धता ने उनके सम्मुख गहनतम का ऐसा आवरण बुन दिया था, जिसे चीरकर नव-प्रकाश की ओर अग्रसर होने में वे पूर्णतया असमर्थ थे, और अन्त में विवश होकर मुसलमानों ने इस गौरवशाली देश को ब्रिटिश अधिकारियों के हाथ बेच दिया। इसके विपरीत यदि लोगों में निरन्तर चारित्रिक विकास होता रहता है,

कर्मठ भावनाएं, दृढ़ निश्चय एवं संयमशीलता के भाव पलते रहते हैं, तो वह राष्ट्र या समाज निरन्तर प्रगति की दिशा में गतिशील होता रहता है। जापान जैसे छोटे से राष्ट्र को रुस पर विजय, अमेरिका की स्वाधीनता प्राप्ति, बाद में रुस और चीन द्वारा थोड़े ही समय में अपना नव निर्माण कर एक सर्वथा नवीन प्रतिमान, राजनीतिक एवं ऐतिहासिक दोनों ही दृष्टियों से स्थापित किए जाने से इस भावना को यथेष्ट बल प्राप्त हुआ, और दृढ़ चारित्रिक गठन की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। भारत में ही अत्यन्त प्राचीन काल से सभ्यता एवं संस्कृति का विकास मात्र इसीलिए होता रहा कि प्रारम्भ में यहाँ लोगों का जीवन बड़ा संयमशील था। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपनी पुस्तक "मध्य देश" में प्राचीन आर्य जीवन का एक सांस्कृतिक सिंहावलोकन करते हुए बताया है कि आर्य सभ्यता के प्रारम्भ से ही भारत में लोगों का जीवन अत्यन्त सीधा सादा था, तप एवं संयम का प्राधान्य था, लोगों में कर्मठता थी, तथा दृढ़ निश्चय एवं कर्त्तव्य-पालन के साथ अपने उत्तरदायित्व के सफल निर्वाह की भावना थी। नारियों में यह भावना प्रमुख थी, और अपने परिवार को स्वर्ग सदृश बनाने का वह पूर्ण प्रयत्न करती थीं। यदि अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के प्रारम्भिक पृष्ठों पर दृष्टि डाली जाय तो नारियों के उच्च जीवनगत दृष्टिकोण तथा उनके द्वारा सामाजिक नव-निर्माण की दिशा में अनुकरणीय योगदान का परिचय प्राप्त होता है। यही कारण है कि प्राचीन आर्य जीवन इतना सुख संतोषपूर्ण तथा गौरवपूर्ण था। उसके पश्चात् भी काफी अवधि तक यही स्थिति बनी रही, जब तक यवनों का प्रवेश भारत में नहीं हो पाया और मुसलमानों का पूर्ण प्रभुत्व भारत पर स्थापित हो गया।

जब हिन्दी में उपन्यास साहित्य का जन्म हुआ तो भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की पूर्ण स्थापना हो चुकी थी, और समाज गत चारित्रिक पतन और परिणामस्वरूप चतुर्दिक अवनति की जो परम्परा मुस्लिम शासकों ने पाली पोसी थी, उसका पूर्ण विकास हो गया था। प्रत्येक दिशा में अन्धकार छाया हुआ था, नारियों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी और उनमें नवीन चेतना का पूर्ण अभाव था। आवश्यकता इस बात की थी कि नारियों में जागरुकता का भाव उत्पन्न हो, उनमें चारित्रिक दृढ़ता उत्पन्न हो, संयमशीलता का भाव दृढ़ हो और उनमें दृढ़ निश्चय की भावना जन्म ले सके, जिससे वे विकास के चरम लक्ष्य की ओर प्रगतिशील हो सकें। यह आवश्यकता समाज को बराबर प्रत्येक काल और परिस्थिति में होती है। उपन्यासकार यह कार्य सहज ही सम्भव कर दिखा सकते थे[1]। इन्होंने अपने उपन्यास में ऐसी

---

१. ...."The novel can be used as a social document only with certain qualifications. It is obviously useless if one wishes to ascertain facts, but it may be of great value if the task is to reconstruct the "Mental climate" of an age with the prevailing attitudes and valuations. The author often reproduces impre-

नायिकाओं की परिकल्पना का स्रोत इन्हीं परिस्थितियों के मूल में प्राप्त किया, जिनके माध्यम से वे नारियों के सम्मुख जीवन की उच्चता एवं महती भावना का महान् आदर्श उपस्थित कर सकें। अपने उपन्यास की नायिकाओं में चारित्रिक दृढ़ता, संयम का भाव, धैर्यशील आदि अनेक विशेषताएं कल्पित कर उपन्यासकार तत्कालीन समाज की नारियों को प्रेरणा प्रदान कर सकता है।

हिन्दी में ऐसे अनेक उपन्यासों की रचना हुई है, जिनमें नारी की इन्हीं विशेपताओं के अंकन का प्रयत्न किया गया है, जिससे आदर्श चरित्रों की अवतारणा हो सके। प्रेमचन्द के उपन्यास "कर्मभूमि" की प्रधान नारीपात्र सुखदा में इन्हीं भावनाओं का प्रतिविम्ब प्राप्त होता है। इसी प्रकार के अनेक उपन्यासों में नायिकाओं की परिकल्पना का स्रोत यही परिस्थितियाँ रही हैं, जिनके मूल में कर्मठ चरित्रों को प्रस्तुत कर नारियों को विकास के चरम-लक्ष्य की ओर अग्रसर करने की भावना वर्तमान रही है।

नारी की नवीन चेतना

प्रेमचन्दोत्तर कालीन में उपन्यास साहित्य की परिस्थितियाँ क्रमशः परिवर्तित हो गई थीं। उपन्यासों का सुधारवादी दृष्टिकोण के साथ ही व्यक्ति की महत्ता वृद्धि प्राप्त कर रही थी। शताब्दियों से पराधीन रहने के कारण भारत ने एक प्रकार से भिन्न राह का अनुगमन करना प्रारम्भ कर दिया था। वह राह प्रगति से भिन्न घोर अवनति का था। मुगल शासकों की परम्परा की अंतिम शक्तिपूर्ण कड़ी अकबर के रूप में १७०७ में उसकी मृत्यु के साथ ही टूट चुकी थी। उसके पश्चात् दुर्बल उत्तराधिकारियों के कारण मुगल साम्राज्य पूर्णतया नष्ट ही गया और उसके स्थान पर उससे भी शक्तिशाली अधिक संतुलित तथा सुदृढ़ ब्रिटिश शासन १७५७ प्लासी के युद्ध और १७६४ में बक्सर के युद्ध के साथ स्थापित हो गया था। किन्तु पराधीनता का यह प्रारम्भ न था। सत्य स्थिति तो यह है कि यहाँ की हिन्दू मुस्लिम संस्कृति की शक्ति ही एक प्रकार से समाप्त हो गई थी। धार्मिक आडम्बर, रूढ़िगत विचार, परम्परागत सामाजिक संस्कार, सभी ने मिलकर अंधकार का ऐसा परिवेश भारतीय जीवन के चारों तरफ निर्मित कर दिया था कि उसे तोड़ सकना सहज सम्भव न रह गया था। रही सही स्थिति भी घोरतम निराशा के कारण और भी शोचनीय हो गई थी। वास्तव में संकटकालीन कट्टरता के फलस्वरूप जीवन की

---

ssions which he has gathered either as a "participant observer" or as a student of life documents. The advantages of this combination is that he provides us with data of an intimate character which otherwise would be inaccessible, and the method of his presentation has the additional virtue of condensation i.e he gives us in a few examples the essentials of a process."

—वायला क्लीन : दि फैमिनिन कैरेक्टर, (१९४६), लन्दन, पृष्ठ १८३।

कार्यक्षेत्र से भी अधिक विस्तृत एवं व्यापक कार्यक्षेत्र में जब उन्हें कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ, तो वे प्राचीन विरासतें स्वतः ही धराशायी हो गईं जिन पर नारी का प्राचीन आदर्श स्थित था इससे नारियों की आर्थिक स्वतन्त्रता की माँग भी कुछ सीमा तक पूर्ण होने लगी। वास्तव में नारियों ने अपने को विलास की साधन सामग्री के रूप से निकाल कर जिस दोराहे पर ला खड़ा कर दिया था, उसमें परतन्त्रता जैसी किसी भी भाव के लिए स्थान न था। नारियाँ किसी भी रूप में पुरुषों के आधीन न रहना चाहती थीं। भारत की स्थिति ऐसी थी जिसमें नारियों ने अन्य क्षेत्रों में तो सफलता अनेक सीमाओं तक प्राप्त कर ली थी, पर आर्थिक रूप से अभी भी उन्हें स्वतन्त्रता प्राप्त करने अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था, जिसमें प्रमुख तो था कार्य की गुरुता एवं लघुता के सम्बन्ध में नारी पुरुष गत भेद के दृष्टिकोण की प्रमुखता। अनेक कार्य ऐसे थे, जिनके सम्बन्ध में यह धारणा निश्चित कर ली गई थी कि यह नारियाँ नहीं कर सकतीं, बल्कि पुरुषों के योग्य ही ये कार्य हैं। पर नारियों ने इस क्षेत्र में भी सफलता प्राप्त करने और अपने को आर्थिक रूप से पूर्ण स्वतन्त्र बनाने का प्रयत्न शिथिल नहीं होने दिया। आर्थिक स्वतन्त्रता ही नहीं, वे विवाह सम्बन्धी स्वतन्त्रता की माँग करने लगी थीं। वे अपने जीवन के उस भाग को अत्यन्त गौरवपूर्ण समझती थीं, जिसमें उन पर किसी प्रकार का अंकुश न हो, और उनका स्वतन्त्र अस्तित्व पूर्ण रूप से विकसित हो सके।[1] पर यदि यह निष्कर्ष निकाला जाय कि इन उपलब्धियों में नारी जीवन का पूर्ण विकास हुआ है, और वह सुख सन्तोष की अधिकाधिक उपलब्धि कर सकी है, तो यह नितान्त भ्रमपूर्ण होगा। ईदा वार्वेल ने अपनी पुस्तक "दि बिज़नेस ऑव बिइंग ए वोमन" (१९१२) में इसकी पुष्टि करते हुए कहा है कि जिस काल में नारी अत्यधिक स्वतन्त्र हो जाती है, तभी वह सबसे अधिक अवसाद ग्रस्त भी रहती है। आज नारियाँ प्रत्येक बात में पुरुषों के समान ही बनना चाहती हैं।[2] उनकी बातचीत उनके

---

१. The most satisfying relationships in life, are those which, entered upon with complete freedom of choice, thereafter absorb the personality to the full, employing our mental as well as our physical faculties...We have to evolve a system of laws and custom that will produce men and women capable of clear and definite choice, passionate sincereity and honesty in love, yet equally capable of giving and exercising freedom without becoming trivial and socially irresponsible."

—डोरा रसेल : सेक्सुअल रिफॉर्म कांग्रेस प्रोसिडिंग, (१९२९), में मैरेज एण्ड फ्रीडम (निबन्ध) पृष्ठ २०।

२. वाई० एम० रीग : व्हॉटर वुमन ? (१९३८), बम्बई, पृष्ठ १०५।

रहन-सहन का ढंग, उनके वस्त्र, व्यवहार सभी कुछ पुरुष रूप धारण करते जा रहे हैं, और वे पुरुषों को पीछे छोड़ उनमें आगे निकल जाना चाहती है।

अतः नारी आन्दोलनों के फलस्वरूप उनकी स्थिति में जो परिवर्तन उपस्थित हुआ था, और उसके परिणामरूप नारी का जो नवीन रूप निर्मित हो रहा था, उसने हिन्दी उपन्यासकारों को परम्परागत रूपों से सर्वथा भिन्न नए प्रकार की नायिकाओं की कल्पना की प्रेरणा दी। आदर्श पत्नी, माँ या भगिनी आदि रूपों को नायिका में प्रतिविंवित करने के वजाय उपन्यासकार इस नवीन रूप से अत्यधिक प्रभावित हुए और इसी के सन्दर्भ में उन्होंने नायिकाओं की परिकल्पना की। प्रेमचन्द के उपन्यास 'कर्मभूमि' की प्रधान नारी पात्र सुखदा में इन्हीं नवीन भावनाओं की उद्भावना हुई है। सुखदा का चित्रित रूप लगभग वही है, जिसके लिए नारी आन्दोलन हो रहे थे। अतः यह स्पष्ट था कि नारी अव केवल भोग या विलास की सामग्री न रहना चाहती थी, वरन् सार्वजनिक क्षेत्र में आकर पुरुषों से कन्धे से कन्धा मिला कर संघर्ष करते आगे वढ़ना चाहती थीं। 'ग़वन' भी नारियों की इन्हीं परिवर्तित परिस्थितियों का प्रतीक है। नारियाँ, जो पुरुषों का रूप धारण करती जा रही थीं, और अपने भारतीय आदर्श को त्याग पश्चिम की नारियों की भाँति वनना चाहती थीं, प्रेमचन्द उसके विरोधी थे और नारियों को अपने भारतीय आदर्श को न त्यागने के पक्षपाती थे।

नारियों के आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने की भावना का चित्रण इलाचन्द्र जोशी ने अपने उपन्यास 'प्रेत और छाया' की नायिका मंजरी के रूप में किया है। नारियाँ यपने पैरों पर स्वयं खड़ी हो सकती हैं, तथा वास्तविक लगन एवं परिश्रम से आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकती है, पुरुष चाहे जितना ही उनके मार्ग में वाधाएं उपस्थित करे। मंजरी पारसनाथ से कहती है,—"...तुम उसी सनातन पुरुष समाज के नवीन प्रतिनिधि हो जिसने युगों से नारी को छल से ठग कर, वल से दवाकर, विनय से वहका कर और करुणा से गलाकर उसे हाड-माँस की वनी निर्जीव पुतली का रूप देने में कोई वात उठा नहीं रखी है। पर याद रखो, विश्वव्यापी क्रांति के इस युग में आततायी और नामाचारी पुरुष जाति की सत्ता अव निश्चित रूप से मूलतः ढहने को है और युगों से दलित नारी जाति आज तक अपनी छायात्मकता के भीतर भी शक्ति का जो महावीज सुरक्षित रखे हुए थी, उसके विस्फोट को दवाने की समर्थता अव ब्रह्मा में भी नहीं रह गई है।"[1] इस प्रकार नारी आन्दोलनों के कारण नारी की स्थिति में जो परिवर्तन हो रहा था, उससे अनुप्राणित होकर उपन्यासकारों ने अपनी नायिकाओं की भिन्न-भिन्न रूपों में कल्पना की। नारी आन्दोलन की अच्छाई बुराइयों को भी उन्होंने साथ ही साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया, पर अन्त में अधिकांश का निष्कर्ष किसी न किसी प्रकार से भारतीय आदर्श

---

१. इलाचन्द जोशी : प्रेत और छाया, (१९४६), इलाहावाद, पृ० २०८।

गति एक प्रकार से समाप्त हो गई थी । विज्ञान, प्रगति और नवीनता भी कोई चीज है, इससे भारतीय पूर्णतया अनभिज्ञ थे । उनके जीवन में विचित्र सी स्थिरता आ गई थी । इसके विपरीत यूरोप में नित नवीन परिवर्तन हो रहे थे । औद्योगिक क्रान्ति ने वहाँ के रूप विधान में पूर्णतया उलटफेर उपस्थित कर दिया था । धीरे-धीरे भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से, यूरोपीय ज्ञान से भारतीय परिचित होने लगे, और अपनी स्थिति में परिवर्तन के महत्व को समझने लगे । परिवर्तन की इसी प्रक्रिया में नारी आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ और नारियों की स्थिति में सुधार लाने के प्रयत्न प्रारम्भ हुए । भारत में अभी तक नारियों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी । उन्हें अपने जन्मजात अधिकार न थे । उनमें शिक्षा तथा नवीन चेतना का पूर्ण अभाव था । राजनीतिक जीवन तथा सामाजिक जीवन से उनका सम्बन्ध टूट चुका था । वे घर की चार-दीवारी में बन्द रहने वाली गठरियों की भाँति समझी जाने लगी थी । धार्मिक रूप से भी उनका स्थान निम्नकोटि का हो गया था । उन्हें मोक्ष में बाधा स्वरूप समझा जाता था । इसके अनेक दुष्परिणाम हुए । नारियों में केवल प्राण स्पन्दन शेष था, जीवन गति अवरुद्ध हो गई थी । इसके विपरीत यूरोप में नारियों की स्थिति में परिवर्तन हो रहे थे, उनके प्राचीन प्रतिमान टूटते जा रहे थे, तथा नवीन भावनाओं का उदय हो रहा था ।[1] भारत इससे अप्रभावित न रह सका और यहाँ नारियों ने अपनी स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए आवाज उठाई । वे अब घर की चारदीवारी में बन्द रहने वाली गठरियाँ न रहना चाहती थीं । अभी तक की भारतीय परम्परा में नारी का अपना स्वतंत्र अस्तित्व न था । वह आर्थिक तथा सामाजिक दोनों रूपों में पुरुषों पर ही आश्रित थी । उनका एकमात्र कार्य जीवन के प्रत्येक कार्य में अपने पति को सहयोग प्रदान कर उन्हें सुख एवं सन्तोष की उपलब्धि प्रदान करना था । बाल-विवाह पर नियन्त्रण होने के पश्चात् भी वह पूर्णरूप से बन्द नहीं हो पाया था । साधारण रूप में अभिभावक व्यापारिक लाभ के हेतु अपनी पुत्रियों का विवाह

---

१. 'Even more of them felt humiliated by the fact that their sex was their only means of getting a livelihood and thought it a degradation of marriage that it should first of all, have to be considered a business arrangement securing their income and social status. Love and marriage being the main concern of women it was only natural that their revolt should not have sprung from thirst for knowledge or a desire for freedom or adventures, but that, first of all, it should have been, expressed as a protest against the humiliation of having to barter their love for support."

—वायला क्लीन : फैमिनिन कैरेक्टर, (१९४६), लन्दन, पृष्ठ २० ।

उस समय ही कर देते थे, जब वे अधिक नहीं केवल अबोध बच्चियां रहती थीं। विवाहोपरान्त उन्हें केवल अपने पति की आज्ञा का पालन करना होता था, और पति का उन पर अधिकार होता था। वे अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए उन्हें बाध्य कर सकते थे। नारियों की शिक्षा बस पत्र पढ़ लिख लेने तक ही पर्याप्त समझी जाती थी, इसके आगे शिक्षा की उपयोगिता तत्कालीन विचारधारा में व्यर्थ थी। वस्तुस्थिति तो यह थी कि नारी केवल पुरुष के लिए ही निर्मित समझी जाती थी। नारी का अपना व्यक्तित्व चाहे जितना आकर्षक हो, उसकी तर्क बुद्धि चाहे जितनी कुशाग्र हो, और उसके गुण चाहे जिस स्तर तक उच्च हों, पुरुषों के समक्ष नकारात्मक थे, मूल्यहीन थे। एक प्रकार से उनकी स्थिति पुरुषों को प्रसन्न करने, उन्हें संतुष्ट करने तथा उनके भोग विलास के साधन मात्र के रूप में ही रह गई। केवल उनके रूप और अप्रतिम सौन्दर्य का ही महत्व समझा जाता था।

पर नवीन चेतना के अंतर्गत नारियाँ अब केवल विलास की सामग्री ही न रहना चाहती थीं। प्राचीन मान्यताओं एवं धारणाओं में परिवर्तन कर उन्होंने आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने की मांग समाज के सम्मुख उपस्थित की। उन्होंने अपनी निर्धनता, दासता और मानसिक रूग्णता के प्रति जो संघर्ष प्रारम्भ किया, उसमें उनकी स्थिति में आमूल चूल परिवर्तन लाने का भाव भी सन्निहित था। अधिकांश नारियों ने इसी विचार को प्रश्रय दिया कि नारी जीवन से नए विचार एवं भाव उत्पन्न कर नारियों की स्थिति में परिवर्तन लाया जा सकता है, और उन्होंने संगठन कार्य के माध्यम से राजनीतिक और पत्रकारिता से सम्बन्धित कार्य-प्रणाली को प्राथमिकता प्रदान की। सामाजिक सेवा, पत्र-कारिता और साहित्य के माध्यम से "सामाजिक व्यापार" में नारियों के प्रवेश से एक सर्वथा नवीन सत्य प्रतिपादित हुआ, वह यह कि नारियों को सामाजिक स्तर पर मान्यता प्राप्त होने लगी। विश्व के प्रायः प्रत्येक भागों में १९१४-१८ के महायुद्ध से नारियों की स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। युद्धकाल में प्रायः सभी महत्वपूर्ण सेवाओं में नारियों की आवश्यकता का अनुभव किया गया, और नारियों ने अनेक पदों पर अत्यन्त सफलतापूर्वक कार्य कर महत्वपूर्ण एवं उत्तरदायी कार्यों के लिए अपने आपको सिद्ध किया। अच्छे एवं प्रगतिशील परिवारों की लड़कियों द्वारा बाहर कार्य करने और "सकुशल" लौट आने को शान्तिपूर्वक बिना किसी वाद-विवाद के स्वीकृत कर लिया गया।[1] वास्तव में बाहर कार्य करने से परिवार में यह आशंका प्रकट की जाती थी कि बाहर लड़कियों की पवित्रता की रक्षा सम्भव न हो सकेगी, और एक प्रकार की अज्ञात आशंका सबके मन में समाई हुई थी। पर धीरे-धीरे यह धारणा भ्रांति सिद्ध हुई और प्रगतिशीलता की दिशा में नारियों को इससे उचित प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। घर के बाहर आकर कार्य करने से इन्हें एक सर्वथा नवीन दृष्टि प्राप्त हुई। घर के सीमित संसार के

---

१. वायला क्लीन : दि फैमिनिन कैरेक्टर, (१९४६), लन्दन, पृष्ठ २७।

की रक्षा था। वे नारियों की स्थिति में परिवर्तन तो चाहते थे, पर वे पाश्चात्य प्रभावित रूप नहीं, भारतीय परम्परागत रूप ही चाहते थे. हां, उसकी रूढ़िता समाप्त कर उसमें नवीनता का रंग अवश्य भरना चाहते थे। नारी आन्दोलन वस्तुतः नारियों की स्थिति में नवीन प्रतिमान स्थापित करने के प्रयत्न कर रहे थे और उसमें उन्हें अधिकांश रूप में सफलता भी प्राप्त हुई। अल्पता के कारण सेनाओं तक में नारियों का समावेश हो गया है।[1] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस नवीन आर्थिक चेतना के विकास के बावजूद भी वह परम्परा अभी तक समाप्त नहीं हो पाई थी जिसमें श्रम संगठनों में नारियों को पुरुषों की तुलना में कम वेतन प्राप्त होता था। इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति से दो महायुद्धों के मध्य आर्थिक संकट के समय नारियाँ श्रम के क्षेत्र में पुरुषों की प्रबल प्रतिद्वन्द्वी बन गई। दूसरी ओर यद्यपि आर्थिक क्षेत्र में नारियों का अधिकाधिक प्रवेश होता जा रहा था, नारियों में पुरुषों से कम वेतन पाने के कारण अपना जीवन स्तर विकसित कर पुरुषों से अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने की भावना का भी उदय होने लगा। इससे भावनात्मक संतोष की भी वृद्धि हुई।[2] राजनीतिक चेतना के कारण भी नारियों की स्थिति में आशातीत परिवर्तन हुआ और उनकी माँगों को राजनीतिक मान्यताएं प्राप्त होने लगी, जिससे उनकी स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ। "धीरे-धीरे वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बनता चला जा रहा है, अर्थात् वह शरत युग की नारी की तरह भावुकता के फेर में पड़कर अहंवादी पुरुष की इच्छा के बहाव में अपने को पूर्णतया बहाना और मिटाना पसन्द नहीं करती, बल्कि स्थिति की वास्तविकता को समझ कर व्यक्ति और समाज के अत्याचारों का सामना पूरी शक्ति से करने के योग्य अपने को बनाने की चेष्टा में जुट रही है।[3] और इस प्रकार सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक चेतना के परिणामस्वरूप नारियों की स्थिति में पूर्णतया परिवर्तन हो रहा है।

इस परिवर्तन ने उपन्यासकारों को अनेक नवीन स्तर की नायिकाओं की परिकल्पना की प्रेरणा दी और उपन्यासों में ऐसी नायिकाएं आने लगीं, जो किसी भी स्थल पर पुरुषों के समक्ष झुकना नहीं चाहती थीं। वे न पुरुष की यंत्रणाएं अथवा उसका कठोर शासन ही सहना चाहती थीं और न आर्थिक रूप से परतंत्र रहकर अवसाद-ग्रस्त जीवन ही व्यतीत करना चाहती थीं। इलाचन्द्र जोशी के प्रथम उपन्यास 'लज्जा' की नायिका समाज की उस क्रान्तिकारी अवस्था का चित्रण प्रस्तुत करती है, जिसमें वैवाहिक स्वतंत्रता की माँग नारियों द्वारा की जा रही थी। 'प्रेत और छाया' के मंजरी तथा नन्दिनी दोनों ही पारसनाथ के प्रति विद्रोह भाव

---

१. वायला क्लीन : द फैमिनिन कैरेक्टर, (१९४६), लन्दन, पृ० २७।
२. जोजफ किर्क फोल्सम : द फ़ैमिली, इट्स सोसियोलोजी एन सोशल सिकिएट्री, (१९३४), लन्दन, पृ० ७।
३. इलाचन्द्र जोशी : विवेचना, (१९४६), इलाहाबाद पृ० १२४।

को धारण करती हैं और जीवन पर्यन्त पुरुष (पारसनाथ) के अत्याचार, दमन एवं दुर्व्यवहार के कारण उसे क्षमा नहीं करतीं। 'सन्यासी' की शान्ति भी इसी प्रकार की नारी है, जो पुरुषों के अत्याचार के सम्मुख झुकने को तत्पर नहीं रहती। जैनेन्द्रकुमार के 'मृणाल' के रूप में भी संक्रान्ति काल की उसी नारी की परिकल्पना की गई है। यशपाल के 'दादा कामरेड' में शैला भी नारी की स्वतन्त्रता की भावना व्यक्त करती है। वह विवाह से घृणा करती है और स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना चाहती है। विवाह कर एक सीमित दायरे में नहीं रहना चाहती। इसी उपन्यास में यह भी सिद्ध किया गया है कि स्त्री पुरुष के विकास में ज़रा भी बाधक नहीं है। क्योंकि, "यदि पुरुष के जीवन विकास में स्त्री का आकर्षण विनाशकारी होता, तो प्रकृति यह आकर्षण पैदा ही क्यों करती ? जिन वस्तुओं से मनुष्य के जीवन को भय है, उनसे वह डरता है दूर भागता है, परन्तु पुरुष-स्त्री की ओर दौड़ता है, मानों उसके जीवन में कोई कमी है जिसे वह पूर्ण करना चाहता है।...." अतः इस युग में ऐसी नायिकाओं की कल्पना अधिकांश रूप में की गई जो अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का विकास चाहती थीं, आर्थिक स्वतन्त्रता चाहती थीं, सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकार चाहती थीं। इन नायिकाओं में यह प्रवृत्ति अत्यन्त प्रमुख होती थीं, कि नारी पुरुष के स्वाभाविक आकर्षण के कारण वे पुरुष की ओर आकर्षित तो होती हैं और उनसे प्रेम-सम्बन्ध भी स्थापित करती हैं। पर जब पुरुष उन पर अपना अधिकार जताना चाहता है, तभी नारियों में विद्रोह भाव उत्पन्न होता है और वे पुरुषों का पूर्ण तिरस्कार कर स्वयं स्वावलम्बी बनने और अपना जीवन निर्माण करने को प्रस्तुत हो जाती हैं। यह नारीगत नवीन चेतना का ही परिणाम था, जिसने उपन्यासकारों को प्रभावित किया था।

नवीन चेतना का परिणाम

नारी सुधार आन्दोलनों के परिणाम-स्वरूप नारियों में नवीन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक चेतना का उदय हुआ। अभी तक राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में उन्हें विशेष अधिकार न प्राप्त थे, और न इसके प्रति वे सचेत ही थीं। पीछे इसका वर्णन हो चुका है कि इसके लिए प्रयास प्रारम्भ हो गया था और अनेक सामाजिक तथा धार्मिक संगठनों के साथ स्वयं नारी संगठन ही नारियों की स्थिति में सुधार लाने का प्रयत्न कर रहे थे। धीरे-धीरे पश्चिम में नारियों की परिवर्तित परिस्थिति के सम्पर्क में आने पर नारियों ने इस समाज की नवीन रचना की माँग उठाई। वे समाज की ऐसी व्यवस्था चाहती थीं, जिसमें उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सके, वे उपेक्षणीय न रह सकें। अभी तक यह धारणा बनाई जा चुकी थी कि पुरुषों की तुलना में नारी की विशेषताएं कम हैं, और उसे समाज में पुरुषों के बाद द्वितीय स्थान प्राप्त होना चाहिए। पर नवीन सामाजिक चेतना के अन्तर्गत नारियाँ इसे किसी भी अवस्था में स्वीकृत करने को तत्पर नहीं थीं। उनके

अनुसार केवल इस मान्यता के आधार पर नारी और पुरुषगत भेद के कारण ही अन्तर न होना चाहिए, वरन् एक समता का दृष्टिकोण निश्चित हो, उसमें जो भी अधिक विशेषता सम्पन्न हो, उसे ही स्थान प्राप्त होना चाहिए, चाहे वह पुरुष हो, या नारी। वास्तव में समाज के विकास, उसकी रचना प्रक्रिया तथा उसके कार्य व्यापार में नारियाँ अपना समान अधिकार समझती थीं, और उसे वह पूर्ण भी करना चाहती थीं। केवल पुरुषों का नियंत्रण, या पग-पग पर उनका मार्ग निर्देशन अब उन्हें स्वीकार न था, वे तो स्वयं अपनी योग्यता से अपना मार्ग आप निर्धारित कर गतिशील होना चाहती थीं। उन्होंने विवाह सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन की ओर भी ध्यान दिया तथा विवाह में अपने जीवन साथी के निर्वाचन में अपनी रुचि को सर्वोपरि प्रधानता देने की माँग की, क्योंकि उनके तर्कों के अनुसार सारा विवाहित जीवन पति के साथ उन्हें व्यतीत करना है, न कि माता-पिता को, अतः विवाह सम्बन्धी प्राचीन मान्यताओं के स्थान पर नवीन विचारों की स्थापना का प्रयत्न किया।[1] मध्यम वर्ग के परिवारों में यह कुछ अंशों तक सफल भी हुआ, और पति के निर्वाचन में लड़कियों की रुचि को प्राथमिकता दी जाने लगी, पर वह पूर्ण रूप में सफल हुआ हो, ऐसी बात नहीं। आर्थिक चेतना के अन्तर्गत भी नारियों की स्थिति में परिवर्तन हुआ। औद्योगिक युग के आगमन के फलस्वरूप संयुक्त परिवार आर्थिक विपन्नताओं के कारण टूटने लगे थे, और पुरुषों को जीवन निर्वाह के अच्छे साधन खोजने के लिए इधर-उधर जाना पड़ा। उनकी अनुपस्थिति में नारियाँ ही अपने परिवार का संचालन करती थी, इसके साथ ही मशीनों के विकास हो जाने के कारण कठोर श्रम की आवश्यकता पड़ने लगी। मूल्यों की वृद्धि और आय की कमी के कारण नारियाँ स्वयं इन कार्यों को करने लगीं, इससे पुरुषों का एकमात्र नियंत्रण स्वतः ही समाप्त होने लगा। इनका नारियों की स्थिति पर भी प्रभाव पड़ा और नारी पुरुष का अन्तर न्यून होने लगा। परन्तु वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रथा मूलतः समाप्त नहीं हो पाई और नारी का एक पुरुष से सम्बन्ध स्थापित रहना भी आवश्यक बना रहा। हाँ अब वह पुरुष की दासी नहीं, सहयोगिनी कहलाती थी।

पर इसमें वह रूढ़ता अथवा कठोरता न रह गई थी, जो प्राचीन काल में पुरुष शासन की प्रमुख विशेषता बन गई थी। नारियों के सम्मुख स्वभावतः ही यह प्रश्न उठने लगा कि क्या वे यन्त्रणाएं, अथवा ठोकरें इसीलिए सहन करें, कि वह पुरुषों पर आश्रित हैं, आर्थिक रूप से परतन्त्र हैं? अनमेल विवाह, बाल-विवाह, विधवा की दयनीय स्थिति, परिवार में नारी की अत्यधिक उपेक्षणीय स्थिति का दोषारोपण नारियों ने पुरुषों पर लगाया, साथ ही अपनी आर्थिक परतन्त्रता की शृंखलाओं को तोड़ने की इच्छा भी जाग्रत होने लगी। आर्थिक स्वतन्त्रता के वातावरण में न तो पुरुषों का कठोर शासन ही उन्हें सहना होगा, न उनकी हार्दिक इच्छाएं तथा भावनाएं ही कुंठित होंगी, और समाज उन्हें अवहेलना अथवा निरादर की दृष्टि से देखेगा, यह भावना नारियों में व्याप्त हो गई थी, तथा इसे प्राप्त करने के प्रयत्न भी प्रारम्भ हो गए थे। इसके परिणाम-स्वरूप इच्छित या अनिच्छित रूप से नारियाँ अधिक संख्या में अनेक कार्यों में प्रवेश पाने लगीं तथा श्रम के विभाजन में नारी तथा पुरुषगत भेद की दृष्टि क्षीण पड़ने लगी। आज कदाचित् कोई ऐसा कार्य नहीं है, जिसमें केवल सिद्धान्त रूप से नारियाँ बहिष्कृत हों।

नारी प्रेम

नर और नारी का आकर्षण साहित्य सृजन की मूल प्रेरणा है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही नर और नारी का प्रेम रहा है। आदम और हौवा के प्रेम से लेकर आज तक के जीवन में यह बात सामान्य रूप से प्राप्त होती है कि नर और नारी में परस्पर आकर्षण होता है। प्रेम होता है, जिससे कभी जीवन को गति प्राप्त होती है, कभी अवरुद्धता आती है। प्रारम्भ में प्रेम में पवित्रता की रक्षा सर्वोपरि होती थी। पौराणिक आख्यानों में राधा कृष्ण का प्रेम अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। राधा का त्याग, पवित्रता एवं आदर्श ने कृष्ण के प्रति प्रेम को उच्चता प्रदान की थी। उस प्रेम ने बराबर ही साहित्य में विभिन्न रूपों में स्थान प्राप्त किया है, और साहित्यकारों के लिए एक विशेष आकर्षण की वस्तु रही है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने जानकी को पुष्प वाटिका में प्रथम बार देखा था, साथ ही जानकी ने भी, दोनों नहीं जानते थे एक दूसरे के सम्बन्ध में, और दोनों के अन्तरमन में पवित्र प्रेम का एक भाव उमड़ पड़ा था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में प्रेम का रूप आज के प्रेम से भिन्न था। तब प्रेम में अत्यन्त पवित्रता का भाव होता था। नर और नारी दोनों में त्याग की प्रवृत्ति होती थी, और प्रेम में मात्र प्राप्य ही सब कुछ नहीं समझा जाता था। प्रेम की श्रेष्ठता ही प्रेम की वास्तविक सार्थकता समझी जाती थी। नारी से इस बात की माँग की जाती थी कि वह पुरुष की अपेक्षा अधिक त्याग की भावना प्रदर्शित करेगी, और एक आदर्श का निर्माण करेगी। प्रेम कभी कर्त्तव्य-पथ में बाधा-स्वरूप नहीं उपस्थित होगा, और उससे जीवन को गति ही प्राप्त होगी, नवीन दिशाएं प्राप्त होंगी। अतः प्रेम को नारी जीवन में अधिक

महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। वह प्रेम अपने प्रेमी के प्रति ही नहीं, परिवार के अन्य व्यक्तियों, समाज और राष्ट्र के व्यापक सन्दर्भ में भी ग्रहण किया जाता था। वस्तुतः प्रेम के ही माध्यम से नारी अपने जीवन में सुख एवं संतोष की उपलब्धि करती थी तथा अपने जीवन की वास्तविक निर्माण प्रक्रिया में संलग्न होती थी। पर नारी जीवन में प्रेम के इतने अधिक महत्व के बावजूद भी प्राचीन काल में प्रेम को स्वतन्त्रता न प्राप्त थी। तब आज के युग की भांति प्रेम, विरह, वासना का ज्वार और फिर निराश प्रेमियों द्वारा आत्म-हत्या (?) आदि विकृत रूप प्रचलित न थे, और एक प्रकार से स्वच्छन्द प्रेम पर प्रतिबन्ध था। पर आधुनिक युग में परिस्थितियाँ परिवर्तित हो गईं। पश्चिमी विचारों के प्रभाव से प्रेम के स्वरूप में परिवर्तन उपस्थित हुआ, और प्रेम सम्बन्धी मान्यताओं ने नवीन ताना-बाना ग्रहण किया। अब प्रेम में अधिक स्वच्छन्दता का भाव आने लगा, तथा सामाजिक प्रतिबन्धों में शिथिलता आने लगी। पाश्चात्य विचारकों ने नारी जीवन का एकमात्र उद्देश्य केवल वासना की पूर्ति ही बताया।[१] उनके अनुसार नारी में कोई चेतना नहीं होती है, उसकी निर्णय शक्ति क्षीण होती है, दूरदर्शिता का भाव न्यून होता है, और उसके जीवन की सारी कार्य-प्रक्रियाएं केवल एक ही स्थल पर केन्द्रित होती हैं, वह वासना पूर्ति है। अतः प्रेम के परिवर्तित प्रतिमानों के सन्दर्भ में इस बात की कल्पना की जाने लगी कि नारी केवल वासनात्मक उद्देश्य को ही प्रमुख रूप से ध्यान में रख कर पुरुष की ओर आकर्षित होती है। उससे प्रेम करती है। प्रेम में पवित्रता का जो भाव अभी तक प्रचलित था, त्याग की जो वृत्ति प्रेम को श्रेष्ठता प्रदान करती थी, पाश्चात्य विचारों की छाया में उनके अस्तित्व का लोप हो गया और उसके स्थान पर प्रेम का अत्यन्त वासनात्मक रूप सामने आया। इस नए प्रेम में प्राप्य ही सब कुछ था, और वह वासना पूर्ति पर आकर ही समाप्त हो जाता

१. "Woman has one purpose in life and only one essential interest; sexuality. Both in the type of mother and in that of courtesan she is either indirectly or directly concerned with matters of sex. She has no moral standards of her own, and the constant compliance with extraneous standards has produced in her mendacity, hypocrisy, and the disposition to hysteria. She has no capacity for clear thought, no memory other than the ability to repeat memorized matter. Her judgement is undertain and her sensibility poor except for tactile sensations. She is sentimental but incapable of deep emotions. She has no intellectual conscience, no relation to logic and she lacks individuality and an independant will."

था। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि वह मात्र वासनात्मक दृष्टिकोण से प्रारम्भ ही होता था। प्रेम में अभी तक नारी को जो श्रेष्ठता प्राप्त थी, प्रेम नारी जीवन का महत्वपूर्ण अंग समझा जाता था, उसकी छीछालेदर भी प्रारम्भ हुई, और नारी को विलास पूर्ण दृष्टि से भी परखा जाने लगा, उसका मूल्यांकन प्रारम्भ हुआ।

नारी प्रेम का यह रूप भी उपन्यासकारों के लिए सदैव ही प्रेरणा का स्रोत रहा है। उन्होंने अपनी नायिकाओं में बराबर ही प्रेम के विभिन्न स्वरूपों को चित्रित करने का प्रयास किया है, यही कारण है कि आज अधिकांश रूप से कोई भी ऐसा उपन्यास नहीं प्राप्त होता, जिसमें प्रेम का चित्रण न हो।[1] प्रेमचन्द ने प्रेम समस्या को अपने अन्य सामाजिक समस्याओं की भाँति महत्ता प्रदान की थी, पर उन्होंने प्रेम का आदर्श बनाए रखने का बराबर यत्न किया। उन्होंने अपनी नायिकाओं को प्रेम में सामाजिक विद्रोह नहीं करने दिया और न परम्परागत सीमाओं को तोड़ने ही दिया। जहाँ कहीं उनकी नायिकाएं प्रेम में सामाजिक विद्रोह की सीमा तक पहुँचती हैं, उन्हें अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता है।[2] वास्तव में प्रेमचन्द ने व्यक्ति को समाज की इकाई के रूप में ही लिया था, इसीलिए वे अधिकांश रूप में समाज और समाजगत समस्याओं का चित्रण करने की ओर ही प्रवृत्त रहे, वैयक्तिक भाव प्रतिक्रियाओं के विश्लेषण की ओर उन्होंने कम ध्यान दिया। पर इतना होते हुए भी उनकी नायिकाओं में प्रेम का जो स्वरूप प्राप्त होता है, उसका आन्तरिक विश्लेषण यत्र-तत्र प्राप्त होता है। पर प्रेम में वासना की जो महत्ता पाश्चात्य विचारकों ने सिद्ध की थी, स्वयं प्रेमचन्द भी उससे अप्रभावित नहीं रह पाए। सोफिया का विनय के प्रति प्रेम केवल प्रेम की उच्चता ही नहीं, मन की मलिनता भी है। वासना की झिलमिल छाया उस प्रेम को अपने में लपेटे हुए हैं। सकीना और अमरकान्त में जो आकर्षण है वह केवल मन की भूख ही नहीं, उसमें सेक्स की भूख भी मिश्रित है। गायत्री का ही ज्ञानशंकर के प्रति प्रेम पवित्रता का एक ढकोसला मात्र था, यदि उसी प्रेम को यशपाल को चित्रित करना होता तो काम-शास्त्र की अच्छी खासी व्याख्या भी हो गई होती। जैनेन्द्र के अधिकांश उपन्यास नारी और पुरुष की प्रेम समस्या पर ही आधारित है. उनकी अधिकांश नायिकाएं दो व्यक्तियों से प्रेम कर अपने कर्त्तव्य से संघर्ष करती हैं। जैनेन्द्र सामाजिक दृष्टि की क्षीणता के कारण सामाजिक समस्याओं एवं नैतिक वर्जनाओं से उतना प्रभावित नहीं हैं, जितना नर नारी की अतृप्त वासनाजनित कुंठाओं और मानसिक ग्रन्थियों की ओर। सुनीता अपने पति और प्रेमी हरिप्रसन्न दोनों से एक साथ प्रेम करती है। वह अपने वैवाहिक जीवन को भी सफल बनाए रखना चाहती है, साथ ही हरिप्रसन्न को दुनियादारी की तरफ मोड़ कर उसका जीवन निर्माण भी। सुनीता

---

१. ई० एम० फास्टर : एस्पेक्ट्स ऑव द नॉवेल, (लन्दन, १९४४), पृ० १८।

२. विशेष विवरण के लिए देखिए : अध्याय आठ।

पर मात्र पति का ही प्रभाव नहीं है कि वह उनके कथनानुसार हरि प्रसन्न को नवीन जीवन प्रदान करने की ओर प्रवृत्त हो जाती है, अपितु उससे भी अधिक गहराई में कुछ और है, जिसे उपन्यासकार के आदर्श ने स्पष्ट नहीं होने दिया है—वह है प्रेम में सुनीता की दमित शमित भावनाएं और उसकी कुंठाएं जो उसके वैवाहिक जीवन की असंतुष्टि के कारण ही निर्मित हुई थीं। जैनेन्द्र के एक नारीपात्र के अनुसार हमें (नारी पुरुष) एक दूसरे में अपना विलय खोजना होगा नहीं तो सफलता नहीं, परिपूर्णता नहीं है। पर अज्ञेय ने इसमें अपना विश्वास नहीं प्रकट किया। इसके विपरीत नारी के इस आत्मलय को वह नारीत्व की सबसे बड़ी विडम्बना स्वीकृत करते हैं। उनके अनुसार, कैसी विडम्बना है स्त्री की शक्ति की, कि उसका श्रेष्ठ-दान है—स्वयं अपना लय—अपना विनाश। शशि "शेखर एक जीवनी" में अपने पति को छोड़ कर शेखर के पास चली आती है, और उसे अतीव सुख संतोष प्रदान कर शेखर के जीवन निर्माण का प्रयत्न करती है, जिसमें वह एक प्रकार से स्वयं टूट जाती है। यशपाल ने अपनी अधिकांश नायिकाओं में प्रेम चित्रित किया है, और सभी वासना के तीव्र ज्वर से पीड़ित हैं। "दादा कामरेड" में शैला को यद्यपि लेखक ने इस रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया है, जैसे वह सामाजिक कार्यों और नैतिक दायित्वों के प्रति अपना कर्तव्य समझ कर ही सार्वजनिक कार्यों में भाग ले रही है। पर यह सत्य नहीं है। सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने का उसका एक-मात्र कारण उसका हरीश के प्रति आकर्षण और प्रेम है। वहाँ प्रेम में पूर्ण स्वच्छन्दता प्रदर्शित की गई है, और विवाह के पूर्व ही शैला अनेकों बार अपनी वासना की तृप्ति करती है, जिसे यशपाल का प्रगतिशील समाज श्रेयस्कर समझता है। वास्तव में मनोविज्ञान का साहित्य और समाज पर ऐसा प्रभाव पड़ा, जिसके कारण सामाजिक रूप विधान ही नहीं, मानव दृष्टिकोण में भी आमूल चूल परिवर्तन उपस्थित हुआ। प्रेम के नैतिक मूल्य भी इसी सन्दर्भ में परिवर्तित हुए। इसके परिणामस्वरूप उपन्यासकारों ने अपनी नायिकाओं में प्रेम का ऐसा वासना परक, घृणित स्वरूप चित्रित करने की प्रेरणा प्राप्त कर रहे हैं, जिसका आधार इन्द्रिय-लोलुप मनोवृत्ति की उत्तेजना तथा शारीरिक भूख की तृप्ति की कामना है। इस नवीन स्रोत में नारी अब मात्र विवाह बन्धन के भीतर रह कर अपनी प्रेममयी मूल प्रकृति को कुंठित करने को प्रस्तुत नहीं है, वरन् वह अब स्वच्छन्द रूप से समाज में आकर अपनी इस प्रवृत्ति का पूर्ण विकास चाहती है, अपनी वासना की तृप्ति चाहती है। अधिकांश उपन्यासकारों ने अपनी नायिकाओं की परिकल्पना इसी नवीन सन्दर्भ में की है, और जाने अनजाने सभी नायिकाओं में ये गुण समाए हुए हैं।

नवीन नारी मनोविज्ञान

हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रेमचन्द के आगमन के साथ ही मनोविज्ञान

का भी प्रवेश हुआ। प्रेमचन्द के पूर्व उपन्यास में पात्रों के वाह्य क्रिया कलापों पर ही अधिक बल दिया जाता था। मानव के अन्तरमन में भी एक अत्यन्त रोचक एवं रहस्यमय लोक है जिसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है और मनुष्य अपने अवचेतन मन से व्यक्तिगत जीवन में नियंत्रित होता है, इसका उपन्यास के प्रारम्भिक युग में विशेष महत्व न था, तब केवल घटना के वैचित्र्य, रोचकता, चरम कौतूहल और मनोरंजक कथानकों के निर्वाचन पर ही अधिक बल दिया जाता था। पर बाद में प्रेमचन्द के आगमन से इस स्थिति में परिवर्तन हुआ और मनोविज्ञान के माध्यम से व्यक्ति का नवीन अध्ययन प्रारम्भ हुआ। व्यक्ति के वाह्य क्रिया-कलाप मात्र ही नहीं, वरन् उसके अन्तरमन की प्रक्रियाओं का मनोविश्लेषण नवीन युग की प्रमुख विशेषता बन गई। फ्रायड, एडलर, युंग आदि पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय उपन्यासकारों के सम्मुख नवीन आदर्श उपस्थित किया, जिससे उनमें एक नवीन मनोविज्ञान का जन्म हुआ। उनमें प्रो० सिगमंड फ्रायड (१८५६-१६३६) का मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त अत्यधिक महत्वपूर्ण रहा, जिससे एक नवीन नारी मनोविज्ञान प्रतिफलित हुआ।

फ्रायड मन की सक्रियता में विश्वास प्रकट करते हैं। मन का वास्तविक कार्य बुद्धिपरक नहीं अपितु आवेगात्मक है तथा चेतन और अचेतन दोनों ही अवस्थाओं में मन प्रयत्नशील रहता है। फ्रायड ने अचेतन पर अधिक बल दिया है। उसके अनुसार मन एक गम्भीर और तरंगित सागर है, वह प्रत्यक्षों, बौद्धिक प्रक्रियाओं, विचारों और संवेदनाओं का ही समूह नहीं है और न विचार या संवेदना आदि से युक्त एक आध्यात्मिक पदार्थ ही है। फ्रायड ने चेतन (Conscious) पूर्व चेतन (Pre-conscious) और अचेतन (unconscious) की बात कही है। पूर्व चेतन तथा चेतन का निकटतम सम्बन्ध होता है। यह वह है जो तुरन्त चेतन बनाया जा सकता है, यद्यपि किसी एक क्षण में वस्तुतः चेतन नहीं होता। पूर्व चेतन अत्यधिक चेतन से लेकर न्यूनतम चेतन तक अथवा उससे लेकर जिसका जाग्रत अवस्था में पूरी तरह स्मरण हो सकता है। जिसका दमन होता है, वह अचेतन है। एक क्षण के लिए जो चेतन होता है और जिसका दमन नहीं होता है, वह पूर्व चेतन है। फ्रायड ने चेतन और अचेतन को एक अविच्छिन्न पैमाने की सीमाओं के रूप में नहीं अपितु परस्पर विरोधियों के रूप में स्वीकार किया है। दोनों के मध्य शत्रुभाव है। पूर्व चेतन से युक्त चेतन नियंत्रित इच्छाओं का स्तर नहीं है। अचेतन दबी हुई इच्छाओं ((Repressed Libido) का स्तर है। मन अथवा अहं (Ego) चेतनस्तर में वास्तविकता के नियमों का अनुगमन करता है तथा सामाजिक परिवेश में प्रचलित नैतिक नियमों का पालन करता है। मस्तिष्क का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश अचेतन होता है जिसमें जीवन के प्रारम्भ से प्राप्त हुई अनुभूतियों का संग्रह होता है। इनमें कुछ ऐसी होती हैं जिन्हें प्राप्त कर सकना सहज सम्भव नहीं होता। जाग्रतावस्था के समस्त विचार एवं प्रवृत्तियाँ सभी इसी मूल स्रोत से उत्पन्न होकर

अर्द्धचेतन से होते हुए चेतन तक पहुँच जाती हैं। ऐसे विचार, जिनसे व्यक्ति को यह आशंका होती है कि यह हास्यास्पद और लज्जाप्रद है, सामाजिक मान्यताएं उसे स्वीकृत नहीं करतीं अपितु निन्दनीय समझती हैं तथा इनके कारण समाज में इसकी स्थिति निन्दा योग्य समझी जाने लगेगी, सर्वदा नियंत्रित किये जाते हैं। चेतन और अचेतन के मध्य एक प्रहरी (Censor) होता है, जो ऐसे विचारों को बहिष्कृत करता है। दमन एवं नियंत्रण की यह प्रक्रिया अज्ञात अवस्था में क्रियाशील रहती है। हम अपने जीवन में कुछ निन्दनीय बातों पर ज्ञात रूप से जिस प्रकार नियंत्रण रखते हैं, यह उससे सर्वथा भिन्न है, और यह अज्ञात अवस्था में ही क्रियाशील रहता है। फ्रायड ने ज्ञात रूप वाले प्रतिबंध व्यापार को निरोध (Supression) और अज्ञात रूप वाले प्रतिबंध व्यापार को दमन (Repression) कहा है। सामाजिक नियम विधान मन को सुख-नियम का अनुसरण करने तथा अपनी इच्छाओं को तुरन्त तृप्त करने का प्रयत्न करने से नियंत्रित करती है। पर अहं (Ego) अचेतन स्तर में सुख के नियम (Pleasure Principle) का अनुसरण करता है। नियंत्रित इच्छाएं, जो अचेतन का रूप होती हैं, अपनी तृप्ति खोजती हैं और सुख नियम का अनुगमन करती हैं। पर भौतिक प्रकृति और सामाजिक परिवेश की विभिन्न विधाओं से उसका संघर्ष होता है।

मानवीय चेतना एवं मानव व्यक्तित्व को संचालित करने वाली शक्ति काम प्रत्यय (Libid6) है।[1] इसका अर्थ शारीरिक सुख के प्रत्येक अर्थ में निहित है। फ्रायड ने "काम" शब्द का प्रेम के लिए अत्यधिक व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है, तथा काम के नियंत्रण का प्रबल विरोध किया है। फ्रायड के अनुसार शिशु में आत्मरति (Auto-Eroticism) होती है, वह अपने शरीर से प्रेम करता है और स्वाभाविक प्रवृत्तियों की तृप्ति से सुख लाभ करता है। इस अवस्था को आत्मासक्ति (Narcissism) की अवस्था कहते हैं। ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता जाता है, त्यों-त्यों वह समलिंग कामुक (Homo-sexual) या समलिंगीय के साथ व्यभिचार करने लग जाता है, एक लड़का ज्यों-ज्यों प्रौढ़ होता जाता है त्यों-त्यों वह विषमलिंग कामुक (Hetero-sexual) होता जाता है, एक युवक युवती से प्रेम करता है। इस प्रकार आत्मरति समलिंगीय रति और विषमलिंगीय रति, ये काम के विकास के विभिन्न चरण हैं। काम की एक अन्य अभिव्यक्ति भी है जो मातृ ग्रंथि (OEDIPUS COMPLEX) और पितृ ग्रंथि (Electra Complex) का रूप लेती है। मातृ ग्रंथि पुरुष शिशु का अपनी माता के प्रति आकर्षण और अपने पिता

हो जाती हैं। जैसे-जैसे बालिका की आयु वृद्धि होती जाती है सामाजिक नियंत्रण के कारण पिता के प्रति उसकी कामना का दमन होता जाता है और वह एक अचेतन इच्छा का रूप धारण कर लेती है। यह दबी हुई अचेतन पितृ-ग्रंथि अनेक मानसिक विकृतियों को जन्म देती है। फ्रायड ने दो अन्य अभिव्यक्तियों की बात भी कही है जो स्वपीड़न जनित कामानन्द (Masochism) और परपीड़न जनित कामानन्द (Sadism) का रूप लेती हैं। पहली अपने को पीड़ित करने की प्रवृत्ति हैं, दूसरी प्रेम के विषय को पीड़ित करने की प्रवृत्ति है। फ्रायड निर्दयता और विनाशकता के सभी अन्य रूपों का समावेश परपीड़न-प्रियता (sadism) में करता है तथा काम-प्रवृत्ति में आत्मरक्षण की प्रवृत्तियों का समावेश करके काम-प्रत्यय को व्यापक बना देता है। इसे उसने जीवन प्रवृत्ति (Eros) कहा है, जिसकी विरोधिनी मृत्यु प्रवृत्ति है। कुछ व्यक्तियों में आत्मसात की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। शाश्वत शान्ति या निर्वाण की इच्छा मृत्यु प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति है। व्यक्ति के अन्दर कोई प्रवृत्ति ऐसी होती है, जिसका लक्ष्य मृत्यु होता है। वह आत्म-पीड़न और प्रेमी व्यक्ति के पीड़न तक को जीवन प्रवृत्ति और मृत्यु प्रवृत्ति का सम्मिलित फल मानता है और दोनों के विरोध को स्वीकार करता है।

प्रारम्भ में फ्रायड ने मन को अहं अचेतन में विभाजित किया था। उसका विचार था कि अहं चेतन होता है, और जो इच्छाएं (काम) उसे अस्वीकार्य हैं, उनका वह दमन करता है, और प्रतिरोध पूर्वक इन्हें अचेतन बनाए रखता है। किन्तु कई रोगियों में प्रतिरोध अचेतन माना गया। अतएव प्रारम्भ से दमन को भी अचेतन होना चाहिए। इस प्रकार, अहं को दमन और प्रतिरोध करने में अचेतन रूप से काम करता हुआ माना गया। फलतः अहं अंशतः चेतन और अंशतः अचेतन है। चेतन पहले में वह परिवेश के सम्पर्क में रहता है। मन का अचेतन अन्तःप्रदेश सक्रिय मूल प्रवृत्तियों तथा उन विशेष विघ्नकारी इच्छाओं और अनुभवों का निवास स्थान है, जिनका दमन कर दिया गया है। अहं परिवेश के संपर्क में रहता है, परन्तु उसका विकास ID से हुआ है जो आंतरिक भाग है। ID में व्यक्ति जीवन की मूल प्रवृत्तियों को प्रेरणा प्रदान करने वाली शक्तियों का, जीवन और मृत्यु दोनों प्रवृत्तियों का समावेश होता है जो विशेष इच्छाओं का रूप धारण करती हैं। जब भी अहं इन विशेष इच्छाओं का दमन करता है, वे ID में वापस चली जाती हैं। ID सदैव अचेतन और अव्यवस्थित रहता है। इसमें व्यक्ति जीवन की समस्त मूल प्रेरक शक्तियों का निवास रहता है। अहं और ID का द्वन्द्व उच्च अहं के कारण और भी जटिल बन जाता है। यह अहं का आदर्श है और अन्तःकरण के समान है। अहं दूरदर्शी है। ID असंस्कृत विद्रोही मूल प्रवृत्तियों का समुच्चय है। उच्च अहं केवल मनुष्य में पाया जाता है तथा इसका उद्‌भव शिशु की अतृप्त कामवासना (Libido) में होती है। वस्तुतः फ्रायड का मनोविश्लेषण सिद्धान्त कामुकता, दमन

और शैशवावस्था के तीन स्तम्भों पर आधारित है। शैशवावस्था में बालिका की अतृप्त कामुकता दबी हुई अचेतन इच्छा का रूप धारण कर लेती है। इससे स्थायी ग्रन्थि का निर्माण हो जाता है। ये ग्रन्थियाँ पीड़ा की अनुभूति से रंगे हुए विचारों के समुच्चय हैं। इस प्रकार फ्रायड के अनुसार अचेतन मन की सबसे प्रबल वासना काम वासना है। काम वासना सम्बन्धी भावनाओं पर सामाजिक नियंत्रण रहता है।

एडलर ने इससे भिन्न अपना विचार प्रकट किया। उनके अनुसार प्रभुत्व-कामना या आत्माभिव्यक्ति ही मनुष्य की प्रबल आकांक्षा होती है। मानव जन्म लेने के कुछ समय पश्चात् ही अपनी हीनता या असहायावस्था की अनुभूति से पीड़ित होने लगता है। वह अज्ञात रूप से अपनी हीनता और विवशता से मुक्ति पाने के लिए प्रयास करना प्रारम्भ कर देता है। जाने-अनजाने प्रत्येक व्यक्ति दूसरे पर विजय प्राप्त कर उस पर अपनी महत्ता प्रतिपादित करने का प्रयास करता है। उसमें महत्वाकांक्षाएं होती है, सबसे ऊंचा बनने का स्वप्न होता है, उसे ही साकारता प्रदान करने का वह प्रयत्न करता है। अपने व्यक्तित्व में न्यूनताओं को छिपाकर अपनी विशेषताओं को अधिकाधिक विकसित कर वह समाज में दूसरों की श्रद्धा का पात्र बनना चाहता है। प्रायः पढ़ने-लिखने में कमजोर विद्यार्थी सफल खिलाड़ी बन जाते हैं, इसका कारण यही है कि विद्यार्थी की मनःस्थिति में शिक्षा के प्रति कोई रुचि नहीं है, और अपनी असफलताओं से भी वह अनभिज्ञ नहीं रहता। अतः वह अपने खेलने की कला का अधिकाधिक विकास कर अपनी शिक्षा की कमी को पूर्ण कर मानसिक तुष्टि प्राप्त करता है। यही पौरुष विरोध (Masculine Protest) है, जिससे मानव जीवन संचालित होता है। वास्तव में मानव अपनी कमियों को छिपाकर अपनी विशेषताओं में वृद्धि कर दूसरों को प्रभावित करने का जो प्रयत्न करता रहता है, उसी में जीवन की गति भी सन्निहित होती है, और मानव जीवन के संचालन का सूत्र उन्हीं के हाथों रहता है। मनुष्य अपने अन्दर एक जीवन शैली का निर्माण कर लेता है, और उसी के अनुरूप जीवन को गतिशील करने का प्रयास करता है। फ्रायड ने मानसिक विकृतियों की पृष्ठभूमि में दमित-शमित काम-वासनाओं की क्रियाशीलता स्वीकृत की थी। उसके अनुसार मानसिक संतुलन इसलिए विनष्ट हो जाता है, क्योंकि दमित-शमित काम भावनाएं अचेतन से मुक्त हो चेतन के साम्राज्य में घोर-अराजकता और प्रबल अशान्ति की स्थिति उत्पन्न कर देती हैं। किन्तु एडलर ने, इसे स्वीकृत नहीं किया। मानसिक विकृतियों का कारण, उसके अनुसार यह है, कि अपने को अत्यन्त श्रेष्ठ और सबकी श्रद्धा का पात्र बनाने की जिस जीवन शैली का निर्माण मनुष्य के अन्दर हुआ है, उसमें सामाजिक और वैयक्तिक आदर्शों का सामंजस्य सम्भव नहीं हो सकता। इस जीवन शैली का निर्माण सभी में होता है, क्योंकि सभी हीनता की भावना (Inferiority Complex) से पीड़ित होते हैं।

युंग ने समाज-प्रेम की वासना पर अपना अधिक ध्यान केन्द्रित किया है। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में अपने प्रभुत्व, आकर्षक व्यक्तित्व, और दूसरों पर अपनी उच्चता का भाव जमाने की प्रबल आकांक्षा होती है, उसी भाँति समाज के साथ ऐक्य स्थापित करके समाज के साथ अपने आदर्श सम्बन्ध बनाने की इच्छा भी वर्तमान रहती है। युंग ने मानव को दो वर्गों में विभाजित किया है—बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। बहिर्मुखी व्यक्ति में सामाजिक वृत्तियां, दूसरों से निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने की भावना प्रबल रहती है। इसके विपरीत अन्तर्मुखी व्यक्ति में सामाजिक भावनाओं की न्यूनता होती है। वह अपने को अपने तक ही सीमित रखता है।

इसी समय गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान भी अधिक प्रचलित हुआ। उसके अनुसार अनुभव या व्यवहार का प्रत्येक रूप एक अपूर्व समष्टि (Unity) है, जिसका तत्वों में विश्लेषण नहीं हो सकता। इसने संगठित समष्टियों (Organized wholes) पर बल दिया। मानव तन एक गेस्टाल्ट है, वह भागों या अवयवों का योग मात्र ही नहीं है। हम किसी वस्तु को एक समष्टि या इकाई के रूप में ही देखते हैं, हम उसे भागों के समूह के रूप में नहीं देखते। प्रत्यक्ष का विषय सदैव एक समष्टि, एक गेस्टाल्ट होता है। प्रत्यक्ष में आकृति और पृष्ठभूमि में अन्तर है। पृष्ठभूमि में आकृति का प्रत्यक्ष होता है। जिस प्रकार शशि आकृति होता है, नभ पृष्ठभूमि। पृष्ठभूमि की सीमा अनन्त होती है, जो आकृति की अपेक्षा महत्वहीन होती है, क्योंकि आकृति अधिक ध्यान आकर्षित करती है।

मनोविज्ञान की इन नवीन विचारधाराओं ने हिन्दी उपन्यासकारों को एक नवीन दृष्टि दी, और उनमें एक नवीन नारी भावना का जन्म हुआ। अभी तक उनकी नायिकाओं की कल्पना का स्रोत परम्परागत रूपों में अथवा समाज की समस्याओं में निहित था, पर अब उपन्यासकारों ने इन पश्चिमी विचारकों को अपना आदर्श बनाया, और नायिका की परिकल्पना का सम्बन्ध मनोविज्ञान के इन नवीन सिद्धान्तों से सूत्रबद्ध किया। उन्होंने अब केवल नायिका के बाह्य क्रिया-कलापों अथवा मात्र गौरवपूर्ण परम्पराओं को ही चित्रण का उद्देश्य नहीं बनाया वरन् अब नायिकाओं की मनःस्थिति और उनके अन्तरमन की भावनाओं का अध्ययन कर उनके चरित्रों को स्पष्ट करने का प्रयास किया। फ्रायड ने नारियों में सेक्स ईर्ष्या के परिणामस्वरूप ईर्ष्या द्वेष तथा सामाजिक अन्याय की प्रवृत्ति पाई थी। उनमें पुरुषों से अधिक आत्मप्रेम होता है, तथा उनमें सांस्कृतिक कार्यों को करने के प्रति उत्साह नहीं होता, एवं उनके उदात्तीकरण में वे असमर्थ रहती हैं। नारी परिवार में लैंगिक जीवन से सम्बन्धित हितों का प्रतिनिधित्व करती है। सभ्यता के विकास का उत्तरदायित्व पुरुषों पर ही होता है। वह नारी की अधिकार सीमा के बाहर होता है। इसमें अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं, तथा नैसर्गिक प्रवृत्तियों के

उदात्तीकरण की नितान्त आवश्यकता होती है, जिसे कार्यान्वित करने में नारियाँ असमर्थ रहती हैं, और पुरुष प्रयास द्वारा उसे सम्भव कर दिखाता है। सभ्यता के विकास का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है, इसीलिए पुरुष उसे सम्पादित करता है, क्योंकि उसमें प्रखर चेतनाशक्ति होती है और सारे महत्वपूर्ण कार्य वही करता है, नारियाँ उसे नहीं कर सकतीं। अतः सभ्यता के विकास में पुरुषों की अपेक्षा अपने को उपेक्षणीय पाकर उसके प्रति उनमें ईर्ष्या और द्वेष की भावना व्युत्पन्न होती है।[1] वास्तव में मनोविश्लेषण की सहायता से मनुष्य अपने को और भी भली-भाँति समझने और स्वयं अपना अध्ययन करने की लालसा प्रकट करता है,[2] और इसी के आधार पर जब नारियों ने अपने मन में पुरुषों की अपेक्षा हीनता के भाव (Inferiority Complex) को जन्म लेते देखा, तो उनके मन में सभ्यता के अधिकारों के प्रति ईर्ष्या का भाव उत्पन्न होता है। नारी के आकर्षण का सर्वप्रमुख केन्द्र उसका परिवार और कामभावना ही है। फ्रायड ने यौन इच्छाओं को स्वाभाविक और अनिवार्य बताया था, और जीवन के विकास में उसकी सापेक्षता प्रमाणित की थी। उसके विचार से काम वासना के आधार पर निर्मित पाप-पुण्य, नीति-अनीति आदि की मान्यताएं असत्य एवं भ्रमोत्पादक हैं। काम भावना जीवन की अनिवार्यता है, जिससे मानव विशेषतया नारी विमुख नहीं रह सकती। अतः फ्रायड

---

१. "Women represent the interests of the family and sexual life; the work of civilization has become more and more men's business; it confronts them with ever harder tasks. compels them to sublimations of instincts which women are not easily to achieve. Since man has not an unlimited amount of mental energy at his disposal, he must accomplish his tasks by distributing his libido to the best advantage. What he employs for cultural purposes he withdraws to a great extent from women and his sexual life; his constant association with men and his dependance on his relations with them even strange him from his duties as husband and father. Woman finds herself thus forced into the background by the claims of culture and she adopts and inimical attitude towards it"

सिगमंड फ्रायड : सिविलिजेशन एंड इट्स डिस्कंटेंट्स, (होगर्थ प्रेस, लन्दन, १९३९) पृ० ७३।

"Our civilization is brought into the clinic for psychoanalysis with the patients' hope of emerging with a better understanding of himself The conflict is between the life of impulse and the life of reason."

के विचारों के परिणाम स्वरूप सामाजिक बन्धन उत्तरोत्तर शिथिल होते गये और काम भावनाओं की गोपनीयता समाप्त होकर उनकी स्पष्टता सिद्ध होती गई। लुडोविची ने नारी की एक मूल प्रेरणा शक्ति (Primus Mobile) पर बल देते हुए बताया है कि इसके परिणाम-स्वरूप नारी में जीवन के संरक्षण और पोषण के तत्व प्रधान हो जाते हैं, जिससे जीवन में गतिशीलता का भाव उत्पन्न होता है, और उसका विकास होता है।[1] नारी के अन्य कार्यों की अपेक्षा इन दो कार्यों का महत्व अधिक होता है। फ्रायड के अनुसार नारी के स्वभाव में अनेक तत्व प्रमुख होते हैं। जैसे कोमलता, स्वभावगत ईर्ष्या, सामाजिक चेतना और न्याय की न्यूनता, साधारणतया दुर्बल नैतिक भाव, हीनतापूर्ण सामर्थ्य, उदात्तीकरण (Sublimation) के प्रति सीमित दृष्टिकोण (विशेषतया सांस्कृतिक तत्वों के प्रति), मनोवैज्ञानिक विकास का प्रारम्भिक नियंत्रण, परिवार और वासनात्मक जीवन के रूप में सभ्यता के प्रति विनाशपूर्ण दृष्टि, अति लज्जाशीलता तथा गर्व की भावना आदि इस प्रकार का रूप प्रदान करता है कि उसका चरित्र एक विचित्र प्रकार की प्रवृत्तियों का समन्वय सा बन जाता मनोविश्लेषणात्मक प्रक्रिया के माध्यम से यह बात प्रायः निश्चित सी है, कि प्रत्येक नारियाँ इस बात का अनुभव करती हैं कि बाल्यावस्था में उनकी भावनाओं को आघात पहुँचा है, और अपने किसी भी दोष के न होने के बावजूद भी वे अपने स्वाभाविक विकास से वंचित रह गई हैं। अधिकांश लड़कियों को अपनी माँ से मात्र इसी के कारण घृणा हो जाती है कि उन्हें इस सृष्टि में लड़के के बजाय लड़की के रूप में उन्होंने क्यों जन्मा है। आयु-वृद्धि के साथ नारी में वासनात्मक जीवन (Sexual-Life) के प्रति अभिरुचि भी वृद्धि प्राप्त करती जाती है, विशेष रूप से जब वह एक बच्चे की माँ हो जाती है। समाज में नारी की निम्नावस्था से नारी में हीनता की ग्रन्थि (Inferiority Complex) उत्पन्न हो जाती है। वह उन सारी विषमताओं तथा बाधाओं की प्रतीक है, जो हमारी प्रगति तथा सामाजिक सफलता को अवरुद्ध करती हैं। लज्जाशीलता जिसे नारियों का सर्वाधिक प्रधान गुण माना जाता है, सभ्य मान्यताओं में उसकी नवीन व्याख्या इस प्रकार की गई है कि नारियों में लज्जाशीलता का यह गुण केवल इसीलिए होता है, जिससे वह अपनी कमियों और दोषों को छिपा सकें।[2] वास्तव में मनोविश्लेषण सिद्धांत के अन्दर यह स्वीकृत किया गया कि लड़कियां अपनी बाल्यावस्था में अपने अन्य भाइयों तथा पिता को देखकर यह निष्कर्ष निकालती हैं कि उनमें कुछ ऐसी विशेषताएं हैं, जो उनमें नहीं हैं। इसका उनकी चेतना शक्ति पर गहन प्रभाव पड़ता है, जो उनके स्वाभाविक विकास, चारित्रिक निर्माण की प्रक्रिया पर अमिट प्रभाव छोड़ जाता है, तथा अधिकांश रूप से बिना

---

१. ए० एम० लुडोविची : वुमन : ए विंडिकेशन, पृष्ठ २०३।
२. सिगमंड फ्रायड : द साइकोलॉजी ऑव वीमेन, (१६३३), लन्दन, पृ० १७०।

अत्यधिक मात्रा में मानसिक शक्ति व्यय किए उन्हें नियंत्रित नहीं किया जा सकता।[१]
इससे पुरुषों के प्रति उनके मन में जो स्थायी द्वेष का भाव उत्पन्न हो जाता है, इसका नारियों की चेतना पर गहरा प्रभाव पड़ता है, तथा बाद में और भी अधिक द्वेष तथा ईर्ष्या उनके मानसिक जीवन में उत्पन्न होती है, जिनमें न्यायपूर्ण भावना की न्यूनता ही उत्तरदायी होती है। उनके जीवन में वासना के आधिक्य के प्रति कहा गया, कि वस्तुतः वही उनका जीवन है, और उनकी जीवन प्रक्रियाओं का एकमात्र उद्देश्य वासना तृप्ति ही रहता है। पर बाद में इस धारणा में परिवर्तन हुआ और यह विचार प्रकट किया जाने लगा कि वस्तुतः नारी सर्वप्रथम अपने को व्यक्तिगत रूप में ही देखती है, वासना परक भावनाओं की पूर्ति की दिशा में साधन मात्र नहीं।[२] अतः वासना के आधिक्य को वैज्ञानिक ढंग से सोचा जाना चाहिए। यहाँ तक कहा गया कि नारियों में क्षीण स्मृति होती है, तथा वह अपने अतीत के प्रति कभी दुखी नहीं होती, उसे खेद नहीं होता। जीवन के स्थायी मूल्यों के प्रति उसकी कोई रुचि नहीं होती। बस उसके जीवन में वासना की प्रधानता तथा पुरुषों के प्रति द्वेष की भावना होती है। छोटी लड़की का अपने पिता के प्रति, अधिक आयु की स्त्री का अपने पुत्र के प्रति आकर्षण, एक पुत्र के जन्म होने पर माँ की सन्तुष्टि इसी द्वेष की भावना की अभिव्यक्ति करती है, जो अपनी हीनता की ग्रंथि को दूर करने तथा द्वेष के परिणाम होते हैं। वास्तव में नारी अपनी हीनता की ग्रंथि का निराकरण कर अपने को उच्चता की भावना से ओत-प्रोत करना चाहती है।

हिन्दी उपन्यासकारों ने इन्हीं विशेषताओं को उपस्थित करने के लिए नायिकाओं की परिकल्पना की। नारी के अभी तक जो परम्परागत प्रतिमान थे, उनमें इन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रक्रियाओं ने परिवर्तन उपस्थित कर दिया और जिस नवीन नारी मनोविज्ञान का इसके परिणामस्वरूप जन्म हुआ, वह याचिका की परिकल्पना का स्रोत बन गया। अब नारी के आदर्श पत्नी रूप, माँ या भगिनी रूप अथवा विधवा एवं वेश्या रूप के चित्रण के प्रति उपन्यासकारों की विशेष रुचि न

---

[१] वही, पृष्ठ १६० ।

[२] "Unpleasant as the reminder of this connection may be to the emancipated woman, who think of herself first of all as an individual and not as an object of merely or mainly sexual interest, the fact must not be over looked that the scientific interest in the personality of woman developed alongside the scientific interest in sex. Only when sex ceased to be considered a sin could woman be regarded as a human being and not as either a "temptress" or as the incorporation of a necessary evil."

—वायला क्लीन : द फैमिनिन कैरेक्टर, (१९४६), लन्दन, पृष्ठ ८६ ।

रही। उन्होंने नारी के चरित्र की आंतरिक वृत्तियों का उद्घाटन कर उसके मनोविज्ञान की व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया और उसमें यथार्थ का रंग भरने का भी प्रयास किया। नारी का मात्र आदर्शवादी रूप नायिकाओं के रूप में अब प्रकाशित नहीं होने लगा, वरन् उसके स्थान पर नारी का जो यथार्थ रूप था, नवीन चेतना के आधीन उसका जो मनोवैज्ञानिक स्वरूप था, तथा उसकी ईर्ष्या, घृणा, द्वेष, प्रेम तथा वासना का स्पष्ट चित्रण होने लगा और एक प्रकार से नैतिकता और अनैतिकता का संकोच उपन्यासकारों में समाप्त सा होने लगा। इसका कारण स्पष्ट था। फ्रायड ने जिस वासना की प्रधानता व्यक्तियों में प्रवल प्रमाणों द्वारा सिद्ध की थी, उसके प्रति आधुनिक उपन्यासकार विशेष रूप से प्रेमचन्दोत्तरकालीन उपन्यासकार) अत्यधिक आस्थावान् हो गया था, और परम्पराओं के प्रति उसका मोह समाप्त हो गया था। इसी प्रसंग में एक बात और भी उल्लेखनीय है, कि इस परिवर्तन में केवल मात्र फ्रायड अथवा उनके सहयोगियों का ही प्रभाव नहीं पड़ा, अपितु स्वयं भारतीय समाज में नारियों को परिवर्तित परिस्थितियों का भी मुख्य हाथ था। समाज में नैतिक तथा सांस्कृतिक मर्यादाएं खंडित हो रही थीं तथा पश्चिम के प्रभाव से एक विचित्र-सी उच्छृंखलता, नग्नता प्रदर्शन, कामोत्तेजक हाव-भावों के प्रदर्शन, चित्रपट का प्रसार एवं लोकप्रियता तथा दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली के कारण नारियों का गलत दिशा में प्रमाण आदि ने नायिका की परिकल्पना के सम्बन्ध में नई मान्यताएं स्थापित कीं। इन्हें निम्नवर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) आत्मपीड़न सहन करने का भाव,

(ख) विद्रोह का भाव,

(ग) अतीव वासनात्मक।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत ऐसी नायिकाओं की परिकल्पना की गई, जिसमें एक के पश्चात् एक ठोकर सहने से एक विचित्र सी तटस्थता का भाव आ जाता है, और जो आत्मपीड़न में ही अपना जीवन व्यतीत करती हैं। न उनमें विद्रोह का भाव रहता है और न ऐसे भावों को वह उत्पन्न होने देती हैं। अपनी पीड़ा, अपनी कुंठाओं, तथा व्यथा को चुपचाप पीते रहने में ही वह अपने जीवन की सार्थकता समझती है। इस वर्ग में परम्परागत नारी रूपों का पूर्ण तिरस्कार नहीं हो पाया था, अपितु नायिकायों की परिकल्पना पर परम्परागत तथा नवीन नारी मनोविज्ञान का साथ ही प्रभाव पड़ा था और एक प्रकार से उनमें दोनों का विचित्र प्रकार का सामंजस्य उपस्थित हो गया था। जैनेन्द्रकुमार के "त्यागपत्र" में मृणाल इसी प्रकार की नायिका है जो आत्मपीड़न में ही अपना विश्वास प्रकट करती है। एक के पश्चात् एक व्यथा को सहन करने के पश्चात् भी वह अपने मन में विद्रोह भाव को पलने नहीं देती। वह इस समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती, क्योंकि यदि वह टूट गया तो उसे आशंका है कि वह किसकी सीमा के अन्तर्गत टूटेगी, बनेगी। वह पति का घर

छोड़ती है, कोयले वाले के यहाँ आश्रय ग्रहण करती है, फिर प्रमोद के लाख समझाने के बावजूद भी वह वहाँ से नहीं जाती, उसे नियति का विधान मान स्वीकार कर लेती है और कोयले वाले के यहां वह गर्भवती होना अधिक श्रेयस्कर समझती है। प्रेमचन्द काल में या उसके पूर्व इस स्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इसके विपरीत दूसरे वर्ग में नारियों की परम्परा के प्रति स्पष्ट विद्रोह की भावना प्राप्त होती है। उनमें वासना के बन्धन भी कुछ मात्रा तक शिथिल हैं, तथा उनमें अनैतिकता अथवा नैतिकता के प्रति संकोच की भावना भी शून्य है। यशपाल के उपन्यास "दादा कामरेड" की नायिका शैला में परम्परा के प्रति जरा भी मोह नहीं है। वह अपने प्रेमी के समक्ष पूर्ण रूप से नग्न हो जाती है क्योंकि वह मौत के मुंह में पड़ा हुआ है, और उसकी बात किस प्रकार टाली जा सकती है। शैला के जीवन में सब कुछ सेक्स ही है। वह महेन्द्र से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करती है, फिर हरीश से। वह रावर्ट्स की बाहों में भी आ जाने से नहीं हिचकती क्योंकि यशपाल की दृष्टि में नारी-पुरुष में स्वाभाविक आकर्षण होता है। शैला प्रेम के सम्मुख अपने कर्त्तव्य को प्रधानता नहीं देती, बल्कि ठुकरा देती है। हरीश के प्रति प्रेम और वफादारी को वह अपने पिता के प्रति कर्त्तव्य में अधिक महत्वपूर्ण समझती है। यही नहीं अविवाहित जीवन में गर्भ रह जाना कदाचित कल का समाज स्वीकार न करता, पर आज के समाज को उसे स्वीकार करना पड़ेगा, शैला इसके लिए समाज को विवश करेगी क्योंकि वह गलत नहीं है। शैला अविवाहित होने पर भी गर्भवती हो जाने के पश्चात् कहती है "...मेरा मार्ग साधारण प्रथा के मार्ग से अलग रहा है। जो कुछ भी मैंने किया, विचारों के भेद के कारण ही......मैं अपने किसी भी काम के लिए अपनी बुद्धि के सामने लज्जित नहीं हूँ। मुझे पछतावा भी नहीं है'।" इस प्रकार उन मान्यताओं का अब कोई स्थान नहीं रह गया जिसमें नारी केवल गृह की शोभा अथवा आदर्श पत्नी, माँ या भगिनी रूप में कल्पित की जाती थी। तीसरे वर्ग में नायिकाओं का अतीव वासनात्मक रूप प्रस्तुत किया गया। यह विश्वास किया गया कि नारियों में पुरुषों की अपेक्षा वासना की प्रबल इच्छा होती है, और उनके सारे कार्य व्यापार केवल एक ही उद्देश्य के लिए होते हैं—वासना की पूर्ति के लिए। ऐसी नायिकाओं की परिकल्पना करने वाले उपन्यासकार उच्छृंखलता, असंयमशीलता, भोगवादी तथा पाप पुण्य की सीमाओं के प्रति अत्यन्त असहिष्णु होते हैं, और वैयक्तिक जीवन की निराशाओं (Frustration) का प्रतिबिम्ब वासनात्मक नायिकाओं में प्रतिबिम्बित होता है। उसका प्रबल यौनोत्पीड़न (Sex-obsession) वासना सम्बन्धी रहे सहे नियमों को शिथिल ही नहीं एक प्रकार से समाप्त कर देता है, और वह सेक्स संबंधी

स्वतन्त्रता की माँग करता है जिससे सभ्यता का पूर्ण विकास (या पतन ?) हो सके[1]। अतः इन नवीन मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं में उपन्यासकारों को अपनी नायिकाओं का प्रबल एवं आकर्षक स्रोत परिकल्पना के लिए प्राप्त हुआ।

---

१. द्वारिका प्रसाद कृत "घेरे के बाहर" इसी प्रकार का विचित्र उपन्यास १९४७ में प्रकाशित हुआ है, जिसमें काम शास्त्र की अच्छी खासी व्याख्या की गई है। जहाँ उपन्यासकार का दायित्व होता है कि वह ऐसे प्रसंगों को संकेतों से चित्रित करे, वहाँ लेखक ने इस उपन्यास में इसका 'रसमय' चित्रण किया है जो साहित्य के लिए अवांछनीय है और अश्लीलता की सीमा पार कर गया है।

अध्याय ४

नायिकाओं का वर्गीकरण

नायिकाओं का वर्गीकरण करने के पूर्व यह बात स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि यहां नायिकाओं का वही अर्थ ग्रहण किया है, जो अंग्रेजी भाषा में (Heroine) का है। यह बात पीछे भी स्पष्ट की जा चुकी है[1] कि नायिकाओं को ही फलागम की अवस्था प्राप्त होती है। इस शोध-प्रबन्ध में उन्हीं नारी पात्रों को नायिका माना गया है, जिनके हाथ में कथानक के सूत्र रहते हैं, और जो उसकी अंतिम परिणति की अवस्था से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध रहती हैं। यों साधारण रूप में नायक की पत्नी को भी नायिका की संज्ञा दी जाती है, भले ही उसका कथानक में कोई प्रमुख स्थान न हो, और वह अंतिम परिणति की अवस्था भी प्राप्त न करे। उदाहरणार्थ प्रेमचन्द के प्रसिद्ध उपन्यास "गोदान" में नायक होरी है, अतः उसकी पत्नी धनिया ही नायिका हो सकती है। पर उपन्यास के कथानक से स्पष्ट है कि धनिया के हाथों में कथानक के सम्पूर्ण सूत्र नहीं हैं, और न वह अंतिम परिणति की अवस्था ही प्राप्त करती है। यद्यपि धनिया को नायिका का स्थान प्रदान किया जाता रहा है, पर प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में ऐसी नायिकाओं पर विचार नहीं किया गया है। नायिका का जो अर्थ यहां ग्रहण किया गया है, उसके उदाहरण-स्वरूप यशपाल की दिव्या भगवती चरण वर्मा की चित्रलेखा तथा जैनेन्द्र की कल्याणी आदि बताई जा सकती हैं। वे कथानक के प्रत्येक मोड़ पर उपस्थित होती हैं, उसे नवीन दिशाएं प्रदान करती हैं, और फलागम की स्थिति भी उन्हें ही प्राप्त होती है।

नायिकाओं के वर्गीकरण का आधार

नायिकाओं का वर्गीकरण करते समय सर्वाधिक प्रमुख प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार के वर्गीकरण के आधार कौन-कौन हैं? पिछले अध्याय में नायिकाओं के दो मोटे वर्ग किए गए हैं, यथा वासनात्मक तथा अवासनात्मक। नायिकाओं के वर्गीकरण का यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार है। अवासनात्मक वर्ग के अंतर्गत नारी के मां, बहन आदि रूप तथा वासनात्मक वर्ग के अंतर्गत प्रेमिकाएं, वेश्याएं, नर्तकियाँ, विवाहिताएं आदि रूप रखे जा सकते हैं। अभी तक नायिका का ऐसा रूप, जो अवासनात्मक वर्ग के अंतर्गत रखा जा सके, नहीं देखने में आया। मां, बहन

---

१. देखिए, अध्याय २

आदि रूप में नायिकाओं की कल्पना हिन्दी उपन्यासों में अभी तक नहीं की गई है। यद्यपि यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि भारतीय जीवन में भी माँ, बहन की आर्थिक महत्ता होते हुए भी उन्हें उपन्यासों में नायिकाओं का स्थान नहीं प्राप्त हो सका। इसका सर्वाधिक प्रमुख कारण यह था कि पारिवारिक जीवन में तो उन्हें महत्व प्राप्त था, पर सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिकोण से वे प्रायः उपेक्षणीय ही रहीं, और जब नारियों को उनके अधिकार कुछ सीमा तक प्राप्त हो भी गए, तो भी नारी का अवासनात्मक रूप सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में अधिक प्रमुख न हो सका।

नायिकाओं की जिन विशेषताओं का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनके अनुसार यदि हिन्दी उपन्यासों का अध्ययन किया जाए, तो बहुत कम ऐसे उपन्यास होंगे, जिनमें नायिकाओं की परिकल्पना पारिभाषिक रूप में की गई है। उपन्यासों में प्रमुख नारी पात्रों का बाहुल्य होता है,[1] पर सही अर्थों में नायिकाओं की कल्पना कम ही की गई है। इसके भी वस्तुतः अनेक कारण हैं।

सर्वाधिक प्रमुख कारण तो यह है कि नारियों को काफी समय तक उनके सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। समाज में उनकी स्थिति अधिक सम्मानजनक न थी, और उनके जीवन की सार्थकता केवल इतनी ही समझी जाती थी कि वे पुरुषों की वासना की पूर्ति में साधन-मात्र हैं। समाज के संचालन का सारा सूत्र पुरुषों के ही हाथों में था, और वे ही समाज के विधायक थे। समाज की सारी गतिविधियों का नेतृत्व पुरुष ही कर रहे थे, और वे नहीं चाहते थे कि उनके अपने अधिकारों का हनन हो, और नारियां उनकी समकक्षता प्राप्त कर लें। पुरुष-वर्ग इस सम्बन्ध में उदारवादी नीति अपनाने को तत्पर न था, और इसीलिए उसका प्रयत्न यही होता था कि नारियां सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में अधिक महत्वपूर्ण स्थान न प्राप्त कर सकें। पिछले अध्यायों में हम देख आए हैं कि किस प्रकार धीरे-धीरे नारियों की स्थिति में परिवर्तन हुआ, और हमारे सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में वे बराबर की भागीदार बन गईं। पर यह सत्य है कि आलोच्य-काल में नारियों की वह स्थिति न थी, जो १९४७ ई० में स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् नवीन परिस्थितियों में निर्मित हुई। नारियों की इसी उपेक्षणीय स्थिति के कारण प्रारम्भ में बहुत कम ऐसे उपन्यास देखने को मिलते हैं, जिनमें नायिकाओं की सही ढंग से कल्पना की गई हो, क्योंकि उपन्यास में मानव-जीवन का ही चित्रण प्रमुख रूप में होता है, और उस काल में मानव-जीवन में नारियों की स्थिति विशेष उन्नतिशील न थी। चूंकि नायिकाओं के हाथों में नायक की ही भांति कथानक के संचालन का सूत्र होता है, इसीलिए अधिक संख्या में नायिकाएं प्रारम्भ में दृष्टि-गोचर नहीं होतीं। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि प्रारम्भिक काल में नायिकाओं

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए : अध्याय आठ।

की परिकल्पना हुई ही नहीं है। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों ने अनेक उपन्यासों की रचना कर हिन्दी साहित्य के इस अंग की पुष्टि करना और राष्ट्र-प्रेम का प्रचार और प्रचलित सामाजिक कुरीतियों का मूलोच्छेदन करना आरम्भ कर दिया था।[1] उन्होंने भी नायिकाओं की सही ढंग से कल्पना अपने उपन्यासों में नहीं की है। नायिकाओं का महत्व भारतेन्दु की भाँति अन्य उपन्यास-लेखकों के लिए भी उतना ही था, जिससे उनकी सुधारवादी प्रवृत्तियों का अत्यधिक प्रभावशाली ढंग से चित्रण किया जा सके। उदाहरणार्थ, किशोरी गोस्वामी के "त्रिवेणी" (१८८८) की नायिका तेरह वर्षीया त्रिवेणी हैं। उपन्यास में वह कुछ ही स्थलों पर आती है। उसका प्रारम्भ में मनोहरदास वैश्य से विवाह हो जाता है, और अंत में उसे अपने पति से कुम्भ के अवसर पर मिलते भर दिखाया गया है। "स्वर्गीय कुसुम" में भी कुसुम-कुमारी नायिका की परिकल्पना की गई है। पर यह स्पष्ट है कि इन उपन्यासों में नायिकाओं की परिकल्पना का वह उद्देश्य न था जो भगवतीचरण वर्मा कृत 'चित्र-लेखा", यशपाल कृत "दिव्या" या जैनेन्द्र कृत "कल्याणी" आदि उपन्यासों में दृष्टि-गोचर होता है। इस प्रारम्भिक युग में सास-बहू, देवरानी-जिठानी, भाई-भाई के झगड़े घर-घर में फैल रहे थे, और उन्होंने समाज की एक प्रमुख समस्या का रूप धारण कर लिया था। तत्कालीन उपन्यासकारों को इन परिस्थितियों ने विशेष रूप से प्रभावित किया और वे ऐसी नायिकाओं की कल्पना विशेष रूप से करने लगे। अधिकांश उपन्यासों में नायिकाएं पढ़ी लिखी होती थीं, जो रूढ़िवादी परम्पराओं में विश्वास रखने वाले परिवार में बहू बन कर आती थीं, जहाँ उनका सरलता से सामंजस्य नहीं हो पाता था। उपन्यासकार इसी सन्दर्भ में नायिकाओं की परिकल्पना कर झगड़ों और सामाजिक कुरीतियों का मनोरंजक वर्णन करते थे। नायिकाओं का महत्व उनके लिए मात्र इतना ही होता था, इससे अधिक उसका सूक्ष्म चित्रण कर एवं उनके चरित्र का पूर्ण विकास प्रदर्शित करने का उनका कोई लक्ष्य नहीं होता या उनके सम्मुख इस सम्बन्ध में कोई आदर्श न था, और न तब उपन्यास कला का पूर्ण विकास ही हो पाया था। जिससे उपन्यासकार सारे तथ्यों का कलात्मक ढंग से प्रस्तुत कर पाते। वे तो भावी दिशा के स्वयं ही निर्माता थे। उनका यह उद्देश्य था कि वे उपन्यास साहित्य को अधिक लोकप्रिय बना सकें। पिछले अध्याय में हम यह भी कह आए हैं कि नायिकाओं की परिकल्पना पर समाज की स्थिति का भी यथेष्ट मात्रा में प्रभाव पड़ता है। यदि समाज में नारियों की स्थिति सम्मानजनक एवं प्रगतिशील हुई, उनके सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार उन्हें प्राप्त होंगे, तथा वे पुरुष के बराबर की भागीदार होंगी तो उपन्यासों में भी उन्हें नायिकाओं के रूप में वही स्थान प्राप्त होगा। पर यदि दुर्भाग्यवश ऐसा न हुआ, तो स्थिति इसके

---

१. डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय: आधुनिक हिन्दी साहित्य, (१९४८), इलाहाबाद पृष्ठ २०३।

विपरीत ही होगी, तथा उपन्यासों की नायिकाओं के रूप में उन्हें अधिक महत्व न प्राप्त हो सकेगा। वास्तव में आलोच्य-काल में यही हुआ।

उपन्यासों में नायिकाओं की अधिक संख्या न मिलने का एक अन्य कारण यह भी था कि आलोच्य-काल में उपन्यास लेखिकाओं का पूर्णतया अभाव दृष्टिगोचर होता है। पूरे आलोच्य-काल में एक भी ऐसी प्रमुख उपन्यास लेखिका नहीं है, जिसने नारी जीवन की समस्याओं, और उसकी वास्तविक स्थिति को नारी-दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने की चेष्टा की हो। उपन्यास साहित्य में साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति पुरुषों का ही अधिपत्य रहा और वे अपने ही दृष्टिकोण से नायिकाओं की कल्पना करते रहे। चूंकि प्रारम्भिक काल में नारियों की स्थिति संतोषप्रद न थी, इसीलिए उन्होंने अनेक नारी पात्रों की अवतारणा तो की, पर ऐसे कम ही नारी पात्रों का चित्रण कर सके, जो नायिका का स्थान प्राप्त कर सकने में सफल हो पातीं, क्योंकि वे पुरुष लेखक अपनी जातीय भावना की सबलता के कारण अपने आगे नारियों की महत्ता स्वीकार करने को कदाचित् तत्पर नहीं थे।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रेमचन्द का आगमन एक महत्वपूर्ण घटना थी। उसके आगमन के समय भारत की राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थिति में अनेक परिवर्तन लक्षित होने लगे थे। नारियों में स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने, उच्च-शिक्षा प्राप्त करने और आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने की भावना का पूर्ण विकास हो रहा था, जिससे नारियों में नवीन चेतना और सतत जागरूकता उत्पन्न हो गई थी। इस नवीन परिस्थिति ने उपन्यासकारों को एक नवीन दृष्टि दी, और विशेष रूप से प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में समूचे युग को समेट लिया। उन्होंने अपनी नायिकाओं का निर्वाचन इस प्रकार किया कि उनके माध्यम से तत्कालीन नारी समाज और उसकी भावनाओं का पूर्ण स्वाभाविक चित्रण हो सके। उन्होंने ही नहीं, उनकी देखा-देखी उनके समकालीन अनेक उपन्यासकारों ने नायिकाओं के माध्यम से नारियों के विभिन्न स्वरूप प्रस्तुत किए। इस युग में नायिकाओं के इसीलिए अनेक विविध और पूर्ण चित्र प्राप्त होते हैं। इस युग में नायिकाओं का वह अभाव नहीं लक्षित होता है, जैसा कि प्रारम्भिक युग में था, और नारियों के जितने रूप सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में प्रमुख हो सके, उपन्यासों की नायिकाओं में उनका महत्वपूर्ण स्थान हो गया, और वे रूप चित्रित किये गये। आगे चलकर जैनेन्द्र कुमार के आगमन के साथ इस स्थिति में और भी परिवर्तन हुआ। "गोदान" के प्रकाशन से ही हिन्दी उपन्यास साहित्य में नवीन संकेत प्राप्त होने लगे थे, और कदाचित प्रेमचन्द कुछ दिन और जीवित होते तो वे भी उन सर्वथा नवीन प्रवृत्तियों को आत्मसात कर उपन्यासों की रचना करते, जैसा कि जैनेन्द्रकुमार आदि ने किया। इस नये दौर में पात्रों के अन्तरमन की भावनाओं के अध्ययन एवं उनके मनोविश्लेषण पर अधिक बल दिया जाने लगा। इससे अधिकांश रूप में उन पात्रों के सम्बन्ध में, जिन्हें ऊपरी

सतह से ही जानने के कारण हम उच्च प्रवृत्तियों के एवं आदर्शपूर्ण समझते थे, इन लेखकों ने उनकी बाकायदा चीरफाड़ की, जिससे हमें उनके सम्बन्ध में कोई रहस्य अपरिचित नहीं रह गया। अभी तक अन्तरमन की भावनाओं को स्पष्ट न करने के कारण नायिकाओं के चरित्र की अनेक बातें हमसे अज्ञात रहती थीं। हम केवल अनुमान भर ही कर सकते थे कि अमुक नायिका का इस नायक से प्रेम है तो वह अवश्य ही इस प्रेम का अन्त विवाह में ही चाहती होगी, पर यह हमारे अनुमान भर ही होते थे, और यह कोई आवश्यक नहीं, कि वे सत्य ही सिद्ध हों, वे गलत भी हो सकते थे। पर इस नवीन युग में जब लेखकों ने मनोविश्लेषण के माध्यम से नायिकाओं की परीक्षा की, तो हमें ज्ञात हुआ कि प्रेम का अन्त वे विवाह में चाहती हों, यह अनिवार्य शर्त नहीं है। वे किसी भयंकर प्रतिहिंसा के भाव से प्रेरित होकर किसी को नीचा दिखाने के लिए भी स्वाँग रच सकती है, अपने सेक्स की भूख शांत करने के लिए भी प्रेम का नाटक खेल सकती हैं। और नहीं तो, इस युग में प्रेम एक फैशन बन गया था, सब प्रेम करते हैं, तो नायिका भी अन्य फैशन करने की भाँति यह प्रेम का फैशन भी पूरा कर लेने के लिए ही किसी से प्रेम कर बैठती थी। अतः मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण के नवीन सिद्धांतों ने नायिकाओं का ऐसा स्वरूप हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया, पिछले युग में हम जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। कदाचित् इसका कारण यही था कि पिछले दौर के लेखक आदर्शवादी भावना से अत्यधिक ओतःप्रोत थे, और वे नारी को सम्मान एवं श्रद्धापूर्ण भावना से देखने के सिवाय कोई अन्य बात सोच भी नहीं सकते थे।[1] पर नवीन युग में लेखकों ने आदर्शवाद का जबरदस्ती का वह चोला उतार फेंका, और प्रत्येक सत्य की मनोवैज्ञानिक परीक्षा एवं व्यवहारिकता की कसौटी पर मूल्यांकन करने लगे, जिससे पाठकों को किसी प्रकार का सन्देह न हो सके, और वे सहज ही उस पर विश्वास करने लगें।

इन्हीं परिस्थितियों ने इस युग में नायिकाओं की परिकल्पना को प्रभावित किया, और नायिकाओं के अनेक रूप प्रकाश में आने लगे तथा उनके विकसित रूप प्रस्तुत किये गये। इस दृष्टि से जैनेन्द्र की कट्टो मृणाल, कल्याणी, सुनीता, यशपाल की शैला, राजदुलारी दिव्या, इलाचन्द्र जोशी की लज्जा, मंजरी, निरजंना आदि नायिकाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। इनके रूप में हमें नारियों के ऐसे नवीन रूप प्राप्त हुए, जो कट्टरपंथी परम्परावादियों के लिए सर्वथा नवीन, और इसीलिये तीव्र विरोध के कारण थे। साथ ही उदारवादियों के लिये जो परम्पराओं के इतने पोषक न थे, भी एक नया अनुभव था। अब लेखकों के लिए समस्या को स्पर्श करना भर ही रुचिकर न था, वे अब नवीन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में नायिकाओं का अध्ययन करना चाहते थे। इसीलिये नवीन नारी चरित्रों की रचना हुई। जैनेन्द्र ने ऐसी कुछ नायिकाओं की कल्पना की, जो विवाहित थीं, और जिनके प्रेमी भी थे। इस प्रकार

१. विशेष विवरण के लिए देखिये : अध्याय आठ।

उन्होंने प्रेम और कर्तव्य के मध्य उन्हें रखकर उनकी परीक्षा की है, तथा उन्हें अपने कर्तव्य की ओर ईमानदारी से अग्रसर होते दिखाया है। कुछ ऐसी भी नायिकाओं की कल्पना की गई, जिनसे यह ज्ञात होता है कि जीवन के किसी क्षेत्र में पराजित होने एवं अपमानित होने पर केवल पुरुष ही प्रतिहिंसा की भावना से अभिभूत हो मरने-मारने को तत्पर हो जाते, बल्कि नारियाँ भी उसी दिशा में आगे बढ़ने लगती हैं। इलाचन्द्र जोशी के "पर्दे की रानी" की नायिका निरंजना इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। अतः इस युग में नारियों का पूर्णतया परिवर्तित रूप ही हमारे सम्मुख प्राप्त होता है, और लगभग सभी में अपने अहं-भाव को गौरव देने की जबर्दस्त भावना वर्तमान है। वे अपने अहं-भाव को पराजित होते नहीं देखना चाहती थीं। उनमें पूर्ण आधुनिकता की भावना थी, पर साथ ही उन्होंने अपनी परम्पराओं का पूर्ण रूप से त्याग भी नहीं कर दिया था, वह किसी न किसी अंश में उनमें वर्तमान थीं। इसी नवीनता के साथ ही आगे चलकर कुछ उपन्यासकारों ने नारियों के अत्यन्त चरम रूप की कल्पना की, जो सर्वथा नवीन और हमारी अपनी भारतीय परम्पराओं के विपरीत था। इस दृष्टि से अंचल का उपन्यास "चढ़ती धूप" प्रमुख है।

नायिकाओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में एक तथ्य यह भी उल्लेखनीय है, कि हम समाज में नारियों को जिन रूपों में नित्य प्रति देखते हैं, नायिकाओं के भी प्रायः उतने ही रूप होते हैं। इस पर स्थानीयता का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। भारतीय जीवन में आलोच्य-काल के अन्तर्गत नारियाँ सरकारी नौकरियों में अधिक संख्या में नहीं आई थीं, डाक्टरी और वकालत का पेशा भी उन्होंने अधिक अपनाया था। १९४७ ई० के पश्चात् तो यह साधारण सी बात हो गई, पर उसके पूर्व कुछ ही नारियाँ ऐसे पेशों में आई थीं, इसीलिए समाज में उनका वह रूप भी प्रचलित नहीं था, जो उपन्यासकारों को अत्यधिक मात्रा में अपनी ओर आकर्षित कर सकता और परिणाम स्वरूप वे ऐसी नायिकाओं की कल्पना कर सकते। यही कारण है कि आलोच्य-काल में ऐसी कम ही नायिकाएं मिलती हैं, जो सरकारी नौकरियों में टाईपिस्ट या क्लर्क हो, अथवा डाक्टरी या वकालत के पेशे में हो, जबकि विदेशी उपन्यासों में इस प्रकार की नायिकाएं बहुत प्राप्त होती हैं। भारत में आलोच्य-काल में कोई भी ऐसा युद्ध नहीं हुआ, जिसमें नारियाँ नर्सों के रूप में सेवाएं कर सकतीं। विदेशों में तो युद्ध एक साधारण सी बात थी, और इसीलिए नर्सों आदि के रूप में वहाँ नारियों की बड़ी आवश्यकता होती थी। और सच तो यह है कि युद्ध की अनिवार्य आवश्यकताएं सी थीं, जिनमें नारियों ने अथक सेवा-भाव प्रदर्शित कर अपने को सबकी श्रद्धा की पात्री बना लिया था और वे अब मृत्यु का द्वार नहीं, अपितु सम्मानपूर्ण समझी जाने लगी थीं।[1] इसका प्रभाव वहाँ के उपन्यासकारों पर भी अत्यधिक पड़ा था, और इसीलिए वहाँ उपन्यासों में ऐसी ही अनेक नायिकाओं की

१. वायला क्लीनः फैमिनिन कैरेक्टर, (१९४६), लन्दन, पृ० ३७।

कल्पना की गई। जबकि भारत में नारियों का यह रूप प्रचलित नहीं हुआ, इसीलिये यहाँ वैसी नायिकाओं की कल्पना भी नहीं की गई। यह वास्तव में स्थानीय रंगों के कारण ही होता है।

औपन्यासिक शिल्प में प्रयोग की सम्भावनाएं और उपलब्धियाँ भी वर्गीकरण के आधारों में सम्मिलित की जा सकती हैं। किसी काल विशेष में, समाज में अवतरित होने वाले जीवन का वास्तविक चित्रण ही यथार्थ होता है। मानव-जीवन का जो सत्य है, वही यथार्थ है और उसे बिना किसी संकोच प्रकट करना यथार्थवादी प्रक्रिया की सबसे बड़ी कला है। उपन्यासकार इसी कला को नये रूपों में उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। टालस्टाय के कथनानुसार मानव प्राप्त की हुई अनुभूति को अपने शाश्वत मन से दूसरों को देने का प्रयास करता है, और यही इस कला की प्रक्रिया है[1]। उपन्यासकार इसी अनुभूति को उपन्यासों के माध्यम से प्रस्तुत करने के लिए नये-नये प्रयोग करता रहता है, और परिवर्तनशीलता के इस युग में[2] वह बराबर ऐसे औपन्यासिक पात्रों का सृजन करता है, जिनमें वह अपनी प्राप्त अनुभूतियों को नवीन अभिव्यक्ति प्रदान कर सके यहाँ प्रयोगों की उपयोगिता और अनुपयोगिता से हमारा तात्पर्य नहीं है। वह हमारा विषय भी नहीं है। हम तो केवल यह कहना चाहते हैं, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र तक आते-आते उपन्यासिक कला, जिसका सूत्रपात भारतेन्दु और उनके सहयोगियों के अथक परिश्रम से हुआ था, का पूर्ण विकास हो चुका था, और उपन्यासकार अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए नवीन मार्गों को अपनाने के लिए व्याकुल हो चुका था। इसीके परिणाम-स्वरूप अनेक नायिका-प्रधान उपन्यासों[3] की रचना की गई जिनमें नायिकाओं के अनेक विविध साथ ही विशद चित्र प्राप्त हुये और नारियों की मूलभूत विषमताओं का पूर्ण अध्ययन के साथ सूक्ष्म चित्रण प्रस्तुत किये गये। इन्हीं उपन्यासों की नायि-

---

१. टॉलस्टाय: व्हाट इज आर्ट, (ओ० यू० पी०), पृष्ठ ६।

२. "In an age of flux and transition when fresh tracts of experience are being annexed for literary treatment, when old modes of expression are being cast aside and new ones essayed, art of any kind must necessarily suffer voilence and are temporarily at a disadvantage."

—आर्थर कॉम्पटन रिकेट : ए हिस्ट्री ऑव इंगलिश लिट्रेचर, (१९५०), पृ० ६५९।

३. जैनेन्द्रकुमार कृत "कल्याणी", "त्यागपत्र", यशपाल कृत ("दिव्या"), भगवतीचरण वर्मा कृत ("चित्रलेखा") आदि ऐसे ही उपन्यास हैं, जिनकी नायिकाएं क्रमशः कल्याणी, सुनीता, मृणाल, दिव्या और चित्रलेखा हैं, जो इस श्रेणी में आती हैं।

काओं ने आगे के उपन्यासकारों के लिये मार्ग प्रस्तुत किया और इन्हीं श्रेणी की नायिकाओं की कल्पना करने लगे ।

नायिकाओं की श्रेणियां

वर्गीकरण के इन आधारों के विवेचन के पश्चात् हम निष्कर्ष रूप में निम्नलिखित सूत्रों को एक स्थान पर एकत्रित कर सकते हैं—

१—वासनात्मक

२—अवासनात्मक

वासनात्मक के अन्तर्गत नारी के वेश्या, प्रेमिका, नर्तकी, फैशनपरस्त, विलासिनी, विवाहिता आदि रूप रखे जा सकते हैं । इस वर्ग में नायिकाएं प्राप्त होती हैं । अवासनात्मक के अन्तर्गत नारी के माँ, बहन आदि रूप रखे जा सकते हैं । ऐसे उपन्यास अभी तक देखने में नहीं आये हैं, जिनमें नारी के अवासनात्मक रूपों को नायिका बनाया गया हो ।

इन दो प्रमुख आधारों के अतिरिक्त निम्नलिखित चार तथ्यों को भी उपन्यासों में नायिकाओं का वर्गीकरण करते समय ध्यान में रखना आवश्यक होता है—

१—समाज में नारी की स्थिति

२—उपन्यास लेखिकाओं की स्थिति

३—औपन्यासिक शिल्प में प्रयोग एवं उपलब्धियों की सम्भावनाएं

४—स्थानीयता

इन आधारों पर हम उपन्यासों की नायिकाओं की निम्न श्रेणियाँ बना सकते हैं—

१—सफल प्रेमिकाएं

२—असफल प्रेमिकाएं

३—सद्गृहस्थ नायिकाएं

४—असफल गृहस्थ नायिकाएं

५—फैशन-परस्त विलासिनी नायिकाएं

६—विधवा नायिकाएं

७—वेश्याएं

८—नर्तकी नायिकाएं

९—राजनीति में भाग लेने वाली नायिकाएं

१०—वीरांगनाएं

११—कृषक बालाएं

१२—मजदूरिनें

१३—जासूस नायिकाएं

पर इस वर्गीकरण का अर्थ यह नहीं है कि इन श्रेणियों के अतिरिक्त नायिकाओं की अन्य श्रेणियाँ नहीं बनाई जा सकतीं। सत्य तो यह है कि हम अपने दैनिक जीवन में सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में नारियों के जितने भी रूप देखते हैं, नायिकाओं की भी उतनी ही श्रेणियाँ हो सकती हैं। इस श्रेणी-विभाजन के सम्बन्ध में विवाद की सम्भावनाएं भी हो सकती हैं। जीवन में नित्य नये होने वाले परिवर्तन और विश्वों की परिवर्तनशीलता के सन्दर्भ में यह कहना वास्तव में कठिन ही नहीं एक प्रकार से असम्भव भी है कि नारियों के इन-इन रूपों के अतिरिक्त नारियों के अन्य रूप हो ही नहीं सकते, और उसी परिप्रेक्ष्य में नयिकाओं के इन-इन रूपों के अतिरिक्त अन्य रूप नहीं हो सकते। वास्तव में उपन्यासकार अपनी कल्पनाओं में यथार्थ के नवीन रंग भर कर स्थानीयता के आधार पर नायिकाओं के नये-नये रूप उपन्यासों के माध्यम से प्रस्तुत करता है, जिनकी बराबर श्रेणियाँ बनती चलती है। नायिकाओं के रूपों को किसी परिवेश में सीमित नहीं किया जा सकता है।

आगे के अध्यायों में अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से नायिकाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है। यथा—

१—प्रेमिकाएं

२—गृहस्थ-नायिकाएं

३—अन्य नायिकाएं

प्रेमिकाओं के अन्तर्गत असफल और सफल दोनों प्रकार की नायिकाओं का अध्ययन किया गया है। जैसा कि आगे चलकर हम देखेंगे, हिन्दी उपन्यासों में सफल प्रेमिकाओं की संख्या कम है, और प्रेम में असफल होने वाली नायिकाओं की संख्या अधिक है। इस पर विस्तार से आगे वर्णन किया गया है[1]। गृहस्थ नायिकाओं के अन्तर्गत भी दो प्रकार की नायिकाओं का अध्ययन किया गया है। एक तो वे, जो विवाहिता हैं, पति को ही अपने जीवन का एकमात्र आदर्श मानती हैं, और जिनके जीवन की अन्तिम परिणति पति में ही निहित होती है। दूसरे शब्दों में ऐसी नायिकाएं जो अपने गृहस्थ जीवन में पूर्णतया सफल रहती हैं। दूसरे प्रकार की नायिकाएं वे हैं, जो विवाहिता होने और गृहस्थी में व्यस्त होने के बावजूद भी या तो दूसरे व्यक्तियों से प्रेम करती हैं, या पति से उनके सम्बन्ध अच्छे नहीं हैं, या उनकी प्रगतिशीलता उन्हें गृहस्थी में जमने नहीं देती। दूसरे शब्दों में वे अपने गृहस्थ-जीवन में असफल रहती हैं। अन्य नायिकाओं में विधवाएं, वेश्याएं, नर्तकी नायिकाएं, फैशन-परस्त विलासिनी नायिकाएं आदर्श नायिकाएं, वीरांगनाएं तथा कृषक बालाएं आदि हैं।

---

१. देखिए: अध्याय ५।

अध्याय ५

प्रेमिकाएं

मानव-जीवन और प्रेम

प्रेम का मानव जीवन में प्रमुख स्थान होता है।[1] नारी-पुरुष में स्वाभाविक रूप से प्रेम होता है। यह बात दूसरी है कि कोई अपने प्रेम में सफल होता है, कोई असफल। यह बात भी निर्विवाद है, कि हम प्रेम का स्तर चाहे जितना उच्च रखने का प्रयत्न करें और उसे चाहे जितना आदर्शवादी बनाने का प्रयत्न क्यों न करें, प्रेम की अन्तिम परिणति प्रायः विवाह में ही होती है—कम से कम इसकी लालसा सभी प्रेमियों में होती है। धीरे-धीरे परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ और स्त्री-पुरुष का प्रेम अब मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन का विषय बन गया है।[2] हाँ, भारतीय परम्परा में प्रेम की पवित्रता की रक्षा पर अधिक बल दिया गया है। भारतीय समाज प्रेम में किसी प्रकार की अश्लीलता अस्वीकृत करता है, और विवाह के पूर्व प्रेम में शारीरिक-सम्बन्ध-अवैध-तथा अनैतिक मानता है। पर प्रेम से पवित्रता की रक्षा कर पाना कठिन ही होता है, और प्रेम के कारण प्रारम्भ होते ही प्रेमीजनों में शारीरिक सम्बन्ध भी स्थापित हो जाता है। इसका कारण यह है कि एक ऐसी सामान्य धारणा उनमें होती है कि शारीरिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने से प्रेम अधिक प्रगाढ़ हो जाता है, उसमें स्थायित्व एवं सुदृढ़ता आ जाती है। इसीलिए उपन्यासों की नायिकाओं में भी

---

१. "Love is a feeling of attraction and a sense of self-surrender, arising out of a need, and directed towards an object that offers hope of gratification."

आस्कर प्फीस्तर: लव इन चिल्ड्रेन ऐन्ड इट्स एग्रेशन्स (न्यूयार्क), पृष्ठ ४८।

२. "There was a time, and not so long ago, when the consideration of love as an art found no place either in manuals of psychology or of morals. It was left to the poets who were quite content that it should be regarded as a rather illegitimate subject....Today the situation is different. To regard love as an art is commonly justified, and moralists themselves are not behind hand in maintaining that justification."

हैवलाक एलिस: साइकालॉजी ऑव सेक्स, (१९३३), लन्दन, पृष्ठ २७९।

था। कभी-कभी नायक क्रान्तिकारी होता था, और पकड़े जाने पर उसे फांसी हो जाती थी. तो भी प्रेम का अन्त दुखपूर्ण ही होता था। दुखान्त प्रेम चित्रित करने का यथेष्ट प्रभाव शरत् बाबू के उपन्यासों का भी हिन्दी उपन्यासों पर पड़ा था। शरत् बाबू के उपन्यासों की नायिकाएं अपने प्रेम में असफल ही रहती थीं, और उनके उपन्यास बंगला में ही नहीं, हिन्दी में भी अनूदित होकर खूब लोकप्रिय हुए। हिन्दी उपन्यासकार इससे खूब प्रभावित हुए, और उन्होंने भी अपने उपन्यासों में असफल प्रेमिकाओं की कल्पना की। हिन्दी उपन्यासों में असफल प्रेमिकाओं की संख्या अधिक है। आलोच्य-काल में निम्नलिखित उपन्यासों में नायिकाओं की प्रेमिकाओं के रूप में कल्पना की गई है—

१. ठाकुर जगमोहनसिंह : श्यामा स्वप्न, (१८८८ ई०) २. किशोरीलाल गोस्वामी : स्वर्गीय कुसुम, (१८८६) ३. किशोरीलाल गोस्वामी : राजकुमारी, (१९०२), ४ किशोरीलाल गोस्वामी : चपला, (१९०३ ई०), ५. बाबू बाल मुकुन्द वर्मा : मालती, (१९०४ ई०), ६. देवकीनन्दन खत्री : चन्द्रकान्ता, (१८९१ ई०), ७. रामप्रसाद सत्याल : किरण शशि, (१९०६ ई०), ८. पं० देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय : सुन्दर सरोजिनी, (१८९३ ई०), ९. बाबू ब्रजनन्दन सहाय : आरण्यबाला, (जून १९१५), १०. टीकाराम तिवारी : पुष्पकुमारी, (१९१७ ई०), ११ जैनेन्द्रकिशोर : कमलिनी (१८९१, १२. प्रेमचन्द : कायाकल्प, (१९२६ ई०), १३. जैनेन्द्रकुमार : परख, (१९२९ ई०), १४. पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला' : निरूपमा, (१९३३), १५. इलाचन्द्र जोशी : पर्दे की रानी, (१९४१), १६ इलाचन्द्र जोशी : प्रेत और छाया, (१९४६), १७. लाचन्द्र जोशी : निर्वासित, १९४६), १८. यशपाल : दादा कॉमरेड, (१९४१), १९. गुरुदत्त : स्वाधीनता के पथ पर, (१९४:), २०. वृन्दावनलाल वर्मा : कचनार, (१९४७ ई०)।

इन उपन्यासों में प्रेम की विभिन्न स्थितियां हैं। मानव-स्वभाव के अनुसार प्रेम के स्वरूप में भी अन्तर होता है। कोई स्वभाव से संकोची होता है, तो उसके प्रेम की सीमा भी कुछ हद तक संकुचित ही होती है। कोई प्रेम में हर कठिनाइयों का सामना करता हुआ अपने अन्तिम उद्देश्य में हर स्थिति में पहुंचने का प्रयत्न करता है। पर किसी में इतना साहस नहीं होता, और वह समाज के भय से, धर्म संकट के भय से, या अन्य इसी प्रकार के किन्हीं कारणों से बीच मार्ग से लौट आता है, और अपने प्रेम का गला घोंट देता है। किसी के प्रेम में सेक्स की प्रधानता होती है, तो किसी के प्रेम में त्याग की। कोई प्रेम का अन्त विवाह में चाहता है, तो कोई केवल मित्रता भाव स्थापित करने के लिए ही प्रेम करता है। हिन्दी उपन्यासों की प्रेमिका-नायिकाओं के अध्ययन के पश्चात् हम उनकी निम्नलिखित विशेषताएं निर्धारित कर सकते हैं—

१. प्रेम में त्याग की प्रधानता
२. परिस्थितिवश प्रेम का दमन
३. प्रेम का अन्त विवाह में कल्पित करना
४. प्रतिहिंसा की भावना से प्रेरित प्रेम

५. प्रेम में त्याग की प्रधानता
६. प्रेम और आदर्श का संघर्ष
७. स्वार्थ भावना से प्रेरित प्रेम
८. प्रेम की अनिश्चियात्मक स्थिति

प्रेम में त्याग की प्रधानता

आज के अस्त-व्यस्त मानव जीवन में प्रेम एक आवश्यक अंग सा बन गया है। भारतीय परम्परा में प्रेम का अत्यन्त श्रेष्ठ रूप ही मान्य है। ऐसा विश्वास हमारे यहाँ किया जाता है कि जो प्रेम मनुष्य को शक्ति और आत्मविश्वास न देकर उसे दुर्बलता और कायरता की हीन भावना दे, देवत्व के उच्चासन से गिराकर पशुत्व की दलदली जमीन की ओर ले जाय तो वह प्रेम नहीं, मानव विकास की राहों का अन्धकार बन जाता है। फिर उसे मानवीय चेतना से चीर कर अलग कर देना ही तर्कसंगत होता है। प्रेम तो वही सार्थक है, जिससे मानव की सहज संवेदनाओं को गौरव मिले, व्यक्तित्व विकसित हो, और अन्तस का छिपा हुआ देवत्व पुष्ट होकर सबल हो सके। इसी कारण यहाँ नारियों से इस बात की अपेक्षा की जाती रही है, कि वे प्रेम में त्याग की भावनाएं प्रदर्शित करेंगी, जिससे प्रेम का स्थान ऊंचा उठ सके। पुरुष यह इसलिए नहीं कर सकता, क्योंकि वह इन गुणों से शून्य होता है। मनुष्य जब भी विषम परिस्थिति में फंस जाता है, और दो नारियों (प्रायः एक ओर प्रेम होता है, दूसरी ओर कर्त्तव्य) के बीच अपनी राह खोजने का प्रयत्न करता है, तो यह उसकी प्रेमिका ही होती है, जो अपने प्रेमी के लिए त्याग करती है, उसकी राह से हट जाती है, उसके सुख एवं संतोष के लिए अपने प्रेम का त्याग कर देती है। प्रायः लेखकों ने इस बात की कल्पना की है, कि प्रेम में जितना ही त्याग किया जाता है, वह उतना ही उच्च होता जाता है। इसीलिए प्रायः नायिकाएं अपने प्रेमियों के लिए अपना निजत्व, अपना अस्तित्व सभी कुछ मिटा देती है। उनका सारा जीवन रोते-रोते व्यतीत होता है, पर इसका उन्हें क्षोभ नहीं होता, क्योंकि उन्हें इस बात का संतोष होता है, कि कम से कम इस दुःख की नींव पर उसके प्रेमी को सुख तो मिल रहा है और इसी मोहक कल्पना में वे अपनी व्यथा को चुपचाप अपने अन्दर छिपाए आत्मपीड़न में ही जीवन व्यतीत करती हैं। कभी-कभी तो अपने प्रेमियों के जीवन निर्माण की इतनी उत्कट लालसा इन प्रेमिकाओं में होती है, कि उस निर्माण प्रक्रिया में वे स्वयं टूट जाती हैं, पर इसका भी उन्हें दुःख नहीं होता है। अपने प्रेम में त्याग करने वाली नायिकाओं में कट्टो (परख) का महत्वपूर्ण स्थान है।

जैनेन्द्र के "परख" (१९२९) उपन्यास की नायिका कट्टो चार वर्ष की विधवा है। वह समाज की रूढ़ परम्पराओं की शिकार है। जब वह अबोध थी, जब वह किलकारियां भरती थी, खेलती-कूदती थी, तभी समाज ने उसे वैधव्य का जामा पहना दिया। उसने अभी यौवन के प्रथम चरण में ही कदम रखा है, और उसी सीधी-सादी भोली कट्टो को यह नहीं समझ में आता कि आखिर उसका

हँसना-खेलना और चंचलता गाँव वालों को बुरा क्यों लगता है? वे क्यों उससे गम्भीरता की, एक विशेष प्रकार के आचरण की माँग करते हैं? कट्टो जब सत्य धन की राह आती है तो जैसे उसे जीवन सूत्र प्राप्त हो जाता है, और वह उसी आश्रय से अपने को संयुक्त कर आगे बढ़ते रहने का जाने-अनजाने संकल्प-सा कर लेती है। प्रारम्भ में कट्टो के लिए सब कुछ एक खेल ही खेल है। वह अपने "मास्टर" जी की ओर क्यों बढ़ती जा रही है, वह क्यों एक विचित्र से तूफान के मध्य से गुजर रही है, यह उस सरल प्रवृत्ति की कट्टो को स्वयं ही नहीं ज्ञात रहता। वह तो जब सत्यधन चला जाता है और मोनोग्राम देखकर कट्टो अपने मोनोग्राम पर पछताकर कहती है—"ओ मास्टर तुम कहाँ गये?" तभी उसे आभास होता है कि यह सब खेल ही नहीं है, निरी हल्की बात नहीं है, बल्कि इसके आगे भी कुछ और है।

पर कट्टो जितनी ही सरल है, उतनी ही उसमें त्यागवृत्ति भी कूट-कूट कर भरी हुई है। व्यथा में ही भगवान बसते हैं, और व्यथा को पीते रहने और दूसरों को अपना सारा विश्वास दे उनके सुख संतोष की राह गढ़ना ही जीवन है। यह जैनेन्द्र का विश्वास है, और कट्टो इससे अलग नहीं है, वह इसी के लिए ही बनी है। सत्यधन काश्मीर से लौटकर बिल्कुल सीधे-सीधे कट्टो को बिहारी से विवाह के लिए कह देता है। वह इस पर स्तब्ध रह जाती है। इतने दिनों सत्य की अनुपस्थिति में वह अपने आपको जैसे निर्मित करती रही है सत्य के लिए, और वही सत्य जब बिहारी से विवाह के लिए कहता है तो कट्टो जैसे डूब ही गई। सत्य ने देखा—"आँखें आँसुओं से खूब धोई गई हैं, और फूल आई हैं। जैसे फूली फूली धुली कमल की दो लाल पंखुड़ियाँ हों। लेकिन उनके सारे भेद और सारे स्नेह को पलकें मजबूती से ढके हुए हैं।"[1] पर कट्टो कुछ कहती नहीं है, सारी बातों को चुपचाप सुन लेती है।"

कट्टो में आत्मविश्वास की कमी नहीं है। उसे पूरा विश्वास है कि यह "मास्टर" साहब के लिए ही है, "मास्टर" साहब उसी के हैं। बिहारी बाबू से वह स्पष्ट कहती है कि जिस प्रयोजन से वह आया है, वह व्यर्थ है। विवाह के लिए वह आया है, और विवाह की बात पक्की न हो सकेगी क्योंकि वह तो पहले ही पक्की हो गई है।" और जब बिहारी कहता है "लेकिन मालूम होता है वह बन्धन में है। तुम उसे खोल सकती हो।

—"ओह क्या कहते हो? मेरा बन्धन!—मेरा कैसा बन्धन!! मैंने कब क्या बांधा है जो खोल सकूं? मैं क्या बांध सकने लायक हूं? लेकिन यह तुम सब क्या कह रहे हो? जानते हो, यह उससे कह रहे हो जिसके लिए यह बातें कहीं न कहीं सब बराबर है।"

---

१. जैनेन्द्रकुमार—परख (१९२९), बम्बई, पृष्ठ ३३।

मिलता है। कट्टो में यही गौरवशाली एवं आदर्शवादी भावनाएं साकार हुई हैं। उसकी परिकल्पना में लेखक का उद्देश्य नारी के गौरव रूप का चित्रण करना ही था, और उसमें उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। जैनेन्द्र गांधीवादी हैं, और जीवन में पर्याप्त गम्भीरता एवं सौम्यता उन्हें प्रिय है। कट्टो इसीलिए इतनी सहिष्णु बन पाती है, और उसकी सहिष्णुता ही उसे सत्यधन से दूर ले जाती है, और जीवन में करुणा उत्पन्न करती है। पर उसे इसका पश्चाताप नहीं होता, वरन् वह इसी में अपने जीवन का गौरव समझती है। यहाँ प्रश्न कट्टो के चरित्र की स्वाभाविकता के सम्बन्ध में भी उठता है। कट्टो को लेखक ने इतनी अधिक मात्रा में आदर्शवादी और सहिष्णु चित्रित किया है, कि सहसा विश्वास नहीं होता। वह मानवीय धरातल से ऊपर आध्यात्मिक धरातल की नारी सिद्ध होती है, क्योंकि उसमें कोई बुराई नहीं है। आदमी न पूर्णतया अच्छा ही है, और न बुरा। अच्छाई-बुराई व्यक्ति के चरित्र के साथ जुड़ी रहती है, यदि कोई व्यक्ति मात्र बुरा ही बुरा हो, तो वह व्यक्ति नहीं, राक्षस हो जाता है। पर इसके विपरीत यदि कोई केवल अच्छा ही अच्छा है, तो वह मानव न होकर देवत्व पद पर जा बैठता है। कट्टो में भी बस अच्छाई ही अच्छाई है। सत्य, गरिमा और विहारी सभी के सुख एवं संतोष के लिए वह अपना आत्म-बलिदान करती फिरती है, और जैसे पुकार-पुकार कर कहती है, मेरे रक्त का एक एक बूंद ले लो, पर तुम मुस्कराओ, मैं तुम्हारा दुख नहीं देख सकती। वैसे कट्टो के चरित्र-प्रकाशन से लेखक को अपने उद्देश्य को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

विश्वम्भर नाथ शर्मा "कौशिक" के उपन्यास "भिखारिणी", (१६२६) की नायिका जस्सो भी इसी कोटि में आती है। जस्सो एक भिखारी नन्दराम की कन्या है। नन्दराम वास्तव में भिखारी नहीं है वरन् एक बड़े जमींदार का पुत्र है। वह घर से अपनी प्रेमिका के साथ भाग जाता है। प्रेमिका जस्सो को छोड़कर मर जाती है और नन्दराम दर-दर का भिखारी बन जाता है, पर वह अपने घर नहीं वापस जाना चाहता। बाबू रामनाथ दया करके (?) उसे अपने यहाँ नौकरी देते हैं, इस पर जस्सो और रामनाथ में सामीप्य आ जाता है, दोनों एक दूसरे से मन ही मन प्रेम करने लग जाते हैं। जस्सो यद्यपि अशिक्षित है। भिखारिणी का जीवन व्यतीत कर चुकी है, तथापि उसमें काफी समझ है। उसमें सहृदयता कूट-कूटकर भरी हुई है और स्नेह-भावना पूर्ण रूप में व्याप्त है। वह प्रेम करती है बाबू रामनाथ से, अपना तन-मन उस पर निछावर कर देती है, पर उसमें कहीं उच्छृंखलता नहीं है। वह प्रेम में सभी कुछ प्राप्य ही नहीं समझती। कर्तव्य और दायित्व को वह प्रेम से अधिक महत्वपूर्ण समझती है। वह जीवन भर का दारुण दुख मोल लेना पसन्द करती है, पर आदर्शों की गिरावट, प्रेम की हंसी उड़ाते हुए देखना, और आत्म-गौरव का पतन नहीं चाहती। जब बाबू ब्रजकिशोर रामनाथ का यह प्रस्ताव लेकर जाते हैं कि दोनों को छिपकर विवाह कर लेना चाहिये, क्योंकि जाति का बन्धन दोनों के विवाह में बाधा बन रहा है, तो जस्सो दृढ़ता से कहती है—"यही कह दीजिये कि बुरा-

छिपाकर कोई काम नहीं हो सकता[1]।" और चोरी छिपे विवाह करने से अस्वीकार कर देती है। बाबू रामनाथ के विवाह में वह उनकी पत्नी को उबटन वगैरह लगाकर सजाती है, और नववधू के जिज्ञासा करने पर कहती है—"जिसमें मुझे सुख मिलता है वही करती हूं[2]।" उसके इस वाक्य में तीखा दर्द और गहरी व्यथा छिपी हुई है, जो पाठकों को सहज ही द्रवित कर देती है। वह अब रामनाथ को बिलकुल भूल जाना चाहती है। क्योंकि वही अब जीवन है। वह उनकी खुशी के लिए कुछ भी कर सकने को तैयार है। उसका त्याग अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। फिर वह अपने जीवन के प्रति निराश हो जाती है। उसे यह जीवन निस्सार-सा प्रतीत होने लगता है। वह आजन्म अविवाहित रहने का निश्चय करती है, और सारी सम्पत्ति दान कर फिर पथ की भिखारिणी बन जाती है।

उसके प्रेम में असफल होने के दो मुख्य कारण थे। पहला कारण तो जाति का बन्धन था। दोनों की जाति एक न थी और रामनाथ के पिता तथा जस्सो के बाबा दोनों रूढ़ियों से ग्रस्त थे, इसलिए रामनाथ जानते थे कि पिता के कहने से यह विवाह कभी न होगा। दूसरा मुख्य कारण दोनों की अपनी दुर्बलताएं थीं। रामनाथ में दृढ़ निश्चय की कमी थी। वे जस्सो से विवाह तो करना चाहते थे पर अपने पिता से सारी बातें स्पष्ट करने का उनमें साहस भी न था। यही बात जस्सो के सम्बन्ध में भी थी। नन्दराम ने जब अप्रत्याशित रूप से स्वयं जस्सो से ही ब्रजकिशोर बाबू का सन्देश सुनाया तो वह संकोच-वश स्पष्ट नहीं कह सकी। फिर उसके सामने यह भी भय था कि नन्दराम का बाबा के साथ कदाचित् पुनः झगड़ा न हो जाय, और कहीं उन लोगों को पुनः घर न छोड़ना पड़े। इसलिए सिवाय इसके कि जस्सो अपनी असहमति प्रकट करती, उसके सामने कोई और चारा न था। जस्सो की परिकल्पना में लेखक का उद्देश्य एक ऐसी नारी का चित्रण करना था जो विवशताओं में रह कर भी अपनी लज्जा और अपना संकोच नहीं छोड़ती, तथा आत्मपीड़न ही में जीवन व्यतीत करने का निश्चय करती है। लज्जा ही नारी का आभूषण है, और वही जस्सो का भी शृंगार है। लेखक के अनुसार प्रेम में सब कुछ प्राप्त ही नहीं होता। ऐसी इच्छा होने पर तो प्रेम स्वार्थ बन जाता है। प्रेम में त्याग की अमिट भावना ही व्यक्ति को ऊंचा उठाती है, जस्सो का चरित्र इसका प्रतीक है, और इस चित्रण में लेखक पूर्ण सफल रहा है।

प्रेम का दमन

प्रेम में यह आवश्यक नहीं कि अनुकूल परिस्थितियां प्राप्त होती जाएं, और प्रेम का अन्त सफल ही हो। प्रेम के मार्ग में अनेक बाधाएं होती हैं, और उन बाधाओं को पार कर अन्तिम उद्देश्य तक पहुंचने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना

---

१. विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक" : भिखारिणी, (१६२६), आगरा, पृष्ठ १७६।
२. वही, पृष्ठ २१०।

—"मैंने सत्य से पूछा है, बातें की हैं, उसने सारी बातें मुझसे खोल कर कह दी हैं। अगर उसे अपनी बात का ख्याल न हो, तो उसकी खुशी, मैं जानता हूँ, किधर है।"

—उनकी खुशी के लिए मेरा तन ले लो, पर मुझसे ऐसी बात न करो। ……मेरे पीछे उन्हें थोड़ी भी चिन्ता भुगतनी पड़ी तो मैं अपने को क्षमा न कर सकूंगी। मैं क्या रही जो मेरे पीछे उन्होंने दुख भुगता।[1]"

इस प्रसंग से कट्टो की मनोभूमि स्पष्ट हो जाती है। वह अपने लिए कुछ भी नहीं चाहती, उसके लिए तो आन्तरिक व्यथा ही बहुत है। अपने स्व का उत्सर्ग करना ही उसकी लालसा है, और अपने प्राण देकर भी वह सत्य का सुख-सन्तोष चाहती है। बिहारी ने उसके सामने जो परिस्थिति रखी थी, वह उसे अपनी भावुकता में आकर अस्वीकृत नहीं करती, अथवा उसकी अवहेलना करके मात्र अपने स्व की रक्षा नहीं चाहती। गरिमा का भविष्य, और सत्य का मानसिक अंतर्द्वंद्व, वह बिहारी की बातों से खूब समझती है, और इसीलिए सत्य से कहती है—"जो कुछ भी तुम चाहते हो, उसमें कट्टो की खूब राय है। कट्टो भी उसे खूब चाहती है। उसका पूरा-पूरा विश्वास रखो। तुम्हारी खुशी में उसकी खुशी है। तुम्हारे सोच में उसकी मौत है। अपने कामों में कट्टो की गिनती मत करो—वह गिनने लायक नहीं है। उसकी खुशी तुममें ही शामिल है। बस। तुम ब्याह करना चाहते हो तो कट्टो तुम्हारी सबसे पहले तुम्हारा ब्याह चाहती है।……तुम जो करोगे अच्छा करोगे, और कट्टो उस अच्छे में खूब आनन्द मनायेगी। तुम तो कट्टो के मालिक हो.—और फिर उसकी फ़िकर क्यों करते हो?[2]……

कट्टो का यही आत्मत्याग उसे अत्यन्त महान् बना देता है। आत्म-त्याग, दूसरों के सुख सन्तोष के लिए, ही उसका प्राण है। यदि वह सत्य से प्रेम कर सकी है तो सत्य के लिए ही अपनी भावुकता, अपने प्रेम के बन्धन को तोड़ भी सकती है। और इसके बावजूद भी वह गरिमा से, उसके भाग्य से ईर्ष्या नहीं करती। उसे अपनी जीजी मान बैठती है, अपने घर निमन्त्रण दे आती है, अपने हाथों से बनाकर गरिमा को खिलाने के लिए ईर्ष्या अथवा द्वेष कट्टो का स्वभाव नहीं है। वह स्पष्ट है, सहृदय है। वह अपने सोहाग की पोटली, जिसे जाने कितने सपनों को अपने आंचल में संजोई लाई थी, स्वयं ही गरिमा के पास भेज देती है। और उस भेज देने में कुछ सरलता नहीं है, बड़ी गम्भीरता और अश्रु बरबस दबाकर रख देने की शक्ति है। जैसे वह मूक भाव से उस पोटली में यह भावना भी सहेज कर भेज देती है—मैंने सत्य को तुम्हें दिया है, फिर यह पोटली ही रखकर क्या करूंगी, इसे भी तुम्हारे पास भेज रही हूँ। तुम हमेशा प्रसन्न रहना, यही मेरा जीवन है। कट्टो में चंचलता

---

१. जैनेन्द्रकुमार "परख" (१६२६), बम्बई, पृष्ठ ६१-६२।

२. जैनेन्द्रकुमार "परख", (१६२६), बम्बई, पृष्ठ ७०।

है, पर चांचल्य की भावना गम्भीरता के आवरण से पूर्णतया आच्छादित रहती है। वह हंसती है तो भी मन में विषादों का एक तूफान हिलोरें मारता रहता है। वह उसमें डूब जाना चाहती है, पर कर्तव्य पथ से प्रेरित होकर अपने देवता के लिए जीती है। उसके दम घुटते हैं, जैसे उसकी प्राणदायिनी शक्ति क्षीण होती जा रही है। वह पूरी शक्ति से अपने को चलाए चलने का प्रयत्न करती है, कहीं रुक जाना चाहती है, क्योंकि जीवन कहीं रुक जाने का नाम नहीं है।

इसीलिए मास्टर साहब कहीं फिर न विचलित हों, कहीं फिर अपने मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के संकोच और अपनी भावुकता के आग्रह में अपनी राह से हट न जाएं और गरिमा से विवाह करने से अस्वीकार कर दें, वह पुनः अपने को सत्य की राह से और भी दूर ले जाने का प्रयत्न करती है, वह बिहारी से विवाह करने का निश्चय करती है, इसमें कट्टो का और भी आत्मोत्सर्ग प्रकट होता है, अब कट्टो सरल, चंचल नहीं रह जाती, परिस्थितियों का आघात सहते-सहते वह दार्शनिक-सी बन जाती है। वह बिहारी से विवाह तो करती है किन्तु वासना की सतह से ऊपर वह आध्यात्मिक विवाह ही होता है। वह अपनी फिक्र के लिए विवाह नहीं करती, दूसरों के फिक्र के लिए ही वह यह सब करती है। गरिमा को यह सब अद्भुत लगता है। पर इसे स्वयं कट्टो ही स्पष्ट करती है कि "अद्भुत क्या है जीजी इसमें ? बिहारी बाबू को देखकर मुझे ऐसा लगा कि उनकी आत्मा किसी एक का सहारा पाकर कल्याण रूप होकर व्याप्त हो जाना चाहती है। और वह उस "एक" को खोजते फिर रहे हैं। मैंने अपने से पूछा। "क्या मैं वह "एक" हो सकती हूं ?" मन ने कहा, "क्यों नहीं ?" जीजी, सो यह बात हिम्मत करके मैंने कह डाली......[1]"

इस प्रकार कट्टो आदर्श एवं आत्मत्याग का अनुकरणीय चरित्र बन जाती है। वह प्रारम्भ से लेकर अन्त तक बराबर दूसरों के लिए ही जीने का प्रयास करती है और अपनी पूरी सामर्थ्य से, अपने स्वयं के उत्सर्ग से दूसरों का सुख एवं सन्तोष प्रदान करने का अथक प्रयास करती है। सत्य-गरिमा और फिर बिहारी—जैसे एक अकेली कट्टो सबके अंधियारे जीवन में प्रकाश की देदीप्यमान किरणें बिखेरती चलती है, और सबको सुख एवं आह्लाद देती हुई, सबकी उलझनों को सुलझाती हुई, एवं सबके जीवन की बाधाओं को दूर करती हुई स्वयं महानता के उच्चापन पर जा बैठती है, अपने अनुकरणीय आत्म त्याग से।

कट्टो की परिकल्पना का स्रोत वे गौरवशाली परम्पराएं हैं, जिनमें आत्म-पीड़न ही नारी का चरम लक्ष्य होता है। वह सारी पीड़ा, अपनी और सबकी, चुपचाप सहन करती जाती है, फिर मुंह से ज़रा भी ऊफ नहीं निकालती क्योंकि दूसरों के सुख और सन्तोष के लिए अपना आत्म-बलिदान ही उसका उद्देश्य होता है। "पर" के लिए "स्व" बलिदान और सहर्ष व्यथा का पान करने में उसे सुख

---

१. जैनेन्द्रकुमार—"परख". (१६२६), बम्बई, पृष्ठ, ८६।

पड़ता है। इसके कारण स्पष्ट हैं। समाज में अभी भी इतनी रूढ़ियाँ व्याप्त हैं कि जाति भेद, धर्म भेद आदि का निराकरण सहज रूप में नहीं हो सकता। इसी प्रकार समाज में धनी वर्ग और निर्धन वर्ग-दो ऐसे वर्ग हैं, जिनके बीच की खाई काफी गहरी है। जब कभी इन दो वर्गों में किसी में प्रेम होता है, तो उसकी सफलता की सम्भावनाएं भी बहुत कम रहती हैं। इस प्रकार की परिस्थितियों में प्रेम का दमन करना पड़ता है। यहाँ प्रेम त्याग और प्रेम का दमन, इन दोनों के अन्तर को स्पष्ट कर देना उचित होगा। प्रेम में त्याग अपनी इच्छित भावना से होता है, वहाँ विवशता का कोई प्रश्न नहीं उठता। पर प्रेम का दमन तभी होता है, जब मानव परिस्थितियों से विवश हो जाता है। हिन्दी उपन्यासों में ऐसी कुछ नायिकाओं की परिकल्पना की गई है, जिन्हें परिस्थितियों से विवश होकर अपने प्रेम का दमन करना पड़ा है। इनमें कुसुमकुमारी (स्वर्गीय कुसुम), मनोरमा (कायाकल्प) प्रमुख हैं।

किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास "स्वर्गीय कुसुम" (१८८९) की नायिका कुसुमकुमारी आरा के राजा कर्णसिंह की पुत्री है, जिसका जीवन अत्यन्त दुखपूर्ण रहता है। वह तीन वर्ष की अवस्था में ही देवदासी बन जाती है और पंडे द्वारा एक वेश्या के हाथों बेच दी जाती है। कार्तिकी पूर्णिमा में नाव टूट जाने से वह बह जाती है, और बसन्तकुमार नामक एक युवक उसे बचा लेता है। वह अपने गाँव वापस आती है, और छिप कर रहने लगती है। उसे मन ही मन बसन्तकुमार से प्रेम हो जाता है, और उसे लेकर वह नाना प्रकार की कल्पनाएं करने लगती है। पर उसका दुर्भाग्य अभी समाप्त नहीं हुआ था, और बसन्तकुमारी की छोटी बहन गुलाब से हो जाता है। ऐसी विचित्र परिस्थिति में कुसुमकुमारी के सम्मुख एक ही मार्ग था, कि वह अपने प्रेम का गला घोंट दे उसका दमन कर दे, क्योंकि बसन्तकुमार के विवाहोपरान्त भी वह अपने प्रेम को जीवित रखकर स्वयं अपनी ही छोटी बहन का जीवन नहीं नष्ट करना चाहती थी। अंत में निराश होकर वह देवदासी प्रथा का मूलोच्छेदन करने की प्रतिज्ञा करती है किन्तु उसका भावुक मन गुलाब का तीखा व्यंग एक दिन नहीं सहन कर पाता, और वह आत्महत्या कर लेती है। पर वह मरती नहीं, पुनः बच जाती है। वास्तव में उपन्यास में घटना क्रम पर अधिक बल दिया गया है, चरित्र-चित्रण की पूर्ण उपेक्षा की गई है। यही कारण है कि घटना क्रम में कुसुमकुमारी का थोड़ा बहुत अस्तित्व है, नहीं तो घटनाओं के सम्मुख उसका कोई विशेष महत्व नहीं है। वैसे कुसुम बहुत भावुक है, उसमें त्याग की भावना भी सन्निहित है, पर लेखक ने उसे अधिक स्पष्ट नहीं किया है। यदि लेखक कुसुमकुमारी की विवशताओं, और उसके प्रेम का और अधिक सूक्ष्म चित्रण करता, तो उसका चरित्र निस्सन्देह अत्यन्त प्रभावशील बन जाता है।

प्रेमचन्द के उपन्यास "कायाकल्प" (१९२६) की नायिका मनोरमा भी इसी दृष्टि से विचारणीय है। मनोरमा अत्यधिक भावुक है, और एक प्रकार से भावना

के आधार पर ही जीवित रहना चाहती है। वह प्रारम्भ से ही चक्रधर के प्रति एक विशेष भाव रखती है, जिसका निर्णय वह स्वयं नहीं कर पाती कि वह चक्रधर के प्रति प्रेम है, अथवा अध्यापक होने के नाते मात्र श्रद्धा। पर धीरे-धीरे यह बात स्पष्ट होती जाती है, और मनोरमा चक्रधर से मन ही मन सचमुच प्रेम करती है, वह तीव्र चेतना सम्पन्न है, उसमें तर्क की शक्ति है, और अपनी बात को अधिक प्रभावशाली ढंग से कहने का एक विशिष्ट ढंग है, और अपने मन की धारणा वह कई बार जाने-अनजाने में चक्रधर के सम्मुख स्पष्ट भी करती है, पर चक्रधर बराबर उसकी उपेक्षा ही करते हैं। किन्तु इस उपेक्षा में मनोरमा की भावना मरती नहीं, उसके प्रेम की प्यास अधिक तीव्र ही होती जाती है। मनोरमा का कोई विशेष सार्वजनिक जीवन नहीं है। वह चक्रधर की भाँति खुले रूप में आन्दोलनों में भाग नहीं लेती, जुलूसों का नेतृत्व नहीं करती, हाँ सहानुभूति अवश्य रखती है, पर वह भी चक्रधर के कारण ही। वह सहायता भी करना चाहती है तो केवल अपने प्रेम के ही कारण। वह प्रेम की एक जलती हुई मशाल है। प्रारम्भ में वह चपल है, बातूनी है, चंचल है और तरह-तरह से चक्रधर पर अपना प्रेम प्रदर्शित करती है, पर चक्रधर उसे समझ नहीं पाते, तो उसका प्रेम श्रद्धा में परिणत हो जाता है। वह बचपन से ही मातृ-स्नेह से वंचित रहती है, इसलिए चक्रधर को देखते ही उसकी स्नेह भावना उमड़ पड़ती है, और जैसे वह अपने मन का सारा पवित्र दुलार चक्रधर पर उड़ेल देना चाहती, है पर इसमें असफल रहती है तो धीरे-धीरे एक अव्यक्त विद्रोह उसके मन में जन्म लेने लगता है। उसकी गहन मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया उसकी चेतना पर होती है, और उसका स्वभाव बदलने लगता है। वह एक दार्शनिक की भांति दुर्बोध एवं जटिल बन जाती है।

जब राजा विशाल सिंह से विवाह का प्रश्न आता है तो वह अपनी आत्मिक शक्ति का दमन करती है। वह किन्हीं भी रूपों में राजा साहब से विवाह नहीं करना चाहती थी पर उसने अपनी इच्छा, अपनी भावना और अपने सपनों को जबर्दस्ती कुचल दिया। यद्यपि वह पहले से सोचा करती थी कि,......"जो विवाह लड़की की इच्छा के विरुद्ध किया जाता है वह विवाह ही नहीं है......",[1] पर इसके बावजूद भी वह राजा विशाल सिंह से विवाह करने को तैयार हो जाती है क्यों? वह क्रियाशील रूप से सार्वजनिक जीवन में भाग न ले सकी। वह रानी थी और कदाचित् यह उसकी परम्परा के विरुद्ध था कि एक रानी सार्वजनिक रूप से जनता के रूप में रहकर काम करे। वह परम्परा शासन की थी, सेवा की नहीं। यह परम्परागत प्रभाव मनोरमा पर थी, पर साथ ही उस पर चक्रधर का भी गहरा प्रभाव था। वह न तो अपनी परम्परा को समाप्त करना चाहती थी, और न चक्रधर के प्रभाव को

---

१. प्रेमचन्द : कायाकल्प, (१९२९), बनारस, पृष्ठ ४९।

समाप्त करना चाहती थी। इसलिए उसने बीच का रास्ता अपनाया, वह जानती थी कि चक्रधर की कार्यप्रणाली में धन की सबसे बड़ी कमी है। उनके प्रगतिशील राह में धनाभाव ही रोड़ा बना हुआ है, तो उसने सोचा कि राजा विशालसिंह से विवाह कर चक्रधर के मार्ग का यह रोड़ा दूर किया जा सकता है। एक स्थल पर वह इसे स्वीकार भी करती है—"......जब मैंने देखा कि आपकी परोपकार कामनाएं धन के बिना निष्फल हुई जाती हैं, जो कि आपके मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है, तो मैंने उसी बाधा को हटाने के लिए यह बेड़ी अपने पैरों में डाली। मैं जो कुछ कर रही हूं, इसका एक-एक अक्षर सत्य है। मैं यह नहीं कहती कि मुझे धन से घृणा है। नहीं, मैं दरिद्रता को संसार की विपत्तियों में सबसे दुःखदायी समझती हूं। लेकिन मेरी सुख-लालसा किस भले घर में शान्त हो सकती थी। उसके लिए मुझे जगदीशपुर की रानी बनने की जरूरत न थी। मैंने केवल आपकी इच्छा के सामने सिर झुकाया है......"[1]

पर इससे मनोरमा को क्या मिला? कुछ भी नहीं। वह सुखी नहीं हो पाई। राजा साहब के यहाँ किसी बात की कमी नहीं थी स्वयं मनोरमा में ईर्ष्या, द्वेष, वस्त्राभूषणों से प्रेम न था। वह चक्रधर के प्रभाव में आकर पूर्णतया सादगी का जीवन व्यतीत करती थी। उसके पास बुद्धि थी, दूरदर्शिता थी, और राजा विशालसिंह ने रियासत के प्रबन्ध का सारा उत्तरदायित्व एक प्रकार से उस पर डाल दिया था, पर इतना होने के बावजूद भी "कविता में सब रस थे, पर शृंगार रस नहीं था।" मनोरमा राजा साहब के यहाँ पहले वाली मनोरमा न रह गई थी। उसमें गजब का धैर्य था। उसका हृदय अत्यन्त विशाल था, त्याग की सौ-सौ भावनायें थीं, करुणा थी, पर विशालसिंह के यहाँ जैसे वह अपने जीवन से ही निराश हो जाती है, उसकी इच्छाएं मिट जाती हैं, वह अपमानित होती है, पर उसका नारीत्व नहीं समाप्त होता। उन विषम परिस्थितियों में भी वह अपना अस्तित्व बनाए रखने का भरसक प्रयत्न करती है। वह एक दम से वहाँ बदल जाती है। "वह उद्दण्ड प्रकृतिवाली मनोरमा सब धैर्य और शान्ति का अथाह सागर है, जिसमें वायु के हल्के-हल्के झोंकों से कोई आन्दोलन नहीं होता। वह मुस्कराकर सब कुछ शिरोधार्य करती जाती है। यह विकट मुस्कान उसका साथ कभी नहीं छोड़ती। इस मुस्कान में कितनी वेदना, विडम्बनाओं की कितनी अवहेलना छिपी हुई है, इसे कौन जानता है?"[2]

इस प्रकार मनोरमा का चरित्र एक भावना से प्रारम्भ होता है और एक भावना से ही समाप्त होता है। वह अन्त में चिड़िया पालने के शौक को जन्म देती है, मानो अपने तन-मन के साथ एक दिन उन्हीं पक्षियों की भाँति कहीं दूर गगन की छाँव में शान्ति के लिए उड़ जाना चाहती है। मनोरमा की कल्पना का उद्देश्य बनी वर्ग

---

१. प्रेमचन्द : कायाकल्प, (१९२६), बनारस, पृष्ठ १९५।
२. प्रेमचन्द : कायाकल्प, (१९२६), बनारस, पृष्ठ ३३४।

और निर्धन वर्ग की विषमता प्रदर्शित करना ही था। चक्रधर मात्र इसीलिए मनोरमा से दूर भागते थे, कि वह अपने को उसके योग्य न समझते थे। आखिर क्यों? इसीलिए,क्योंकि वे निर्धन थे, और मनोरमा महलों की रानी थी। महलों और झोंपड़ों में फिर भला क्यों कर प्यार होता? धनी और घर में रहकर और पालित पोषित होकर भी कोई कितना त्याग कर सकता है, मनोरमा इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। अपने उद्देश्य में प्रेमचन्द को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। मनोरमा भी असफल प्रेमिका ही है।

प्रेम का अन्त विवाह में कल्पित करना

पीछे के अध्यायों में स्पष्ट किया जा चुका है कि भारतीय नारियों को अत्यधिक सामाजिक स्वतन्त्रता प्राप्त न थी, ऐसी परिस्थिति में प्रेम की कल्पना तो एक विडम्बना मात्र समझी जाती थी। पर यदि प्रेम हो भी जाता था, तो नारी चाहती थी कि उसका अन्त विवाह में ही हो, क्योंकि उसके पूर्व अपने प्रेमी से मिलने, बात करने आदि की उसे स्वतन्त्रता न मिल पाती थी। इसके निराकरण का एकमात्र उपाय वे विवाह ही समझती थीं। अतः प्रेम के प्रारम्भ होते ही उसका एकमात्र उद्देश्य विवाह ही बन जाता था। इस उद्देश्य के पीछे एक अन्य प्रमुख कारण सेक्स का भी होता था। प्रेम प्रारम्भ होते ही प्रायः शारीरिक सम्बन्ध भी स्थापित हो जाता था, जिससे नारियाँ विवाहित होने के पहले ही गर्भवती हो जाती हैं, और घर-घर में उनकी चर्चा होने लगती थीं। ऐसी परिस्थितियों में पुरुष तो किनारे खड़ा होकर तमाशा देखने लगता था, यंत्रणाओं का शिकार होती थी बेचारी नारी। उसे घर से, समाज से निष्कासित कर दिया जाता था, और उसके सम्मुख दो ही मार्ग रह जाते थे। या तो वह आत्महत्या करके अपयश से बच जाय, या फिर वेश्यावृत्ति अपना ले। चूंकि उस समय नारियों को आर्थिक स्वतन्त्रता न प्राप्त थी, इसलिये अपने पैरों पर खड़ी होकर जीवन व्यतीत करने का प्रश्न ही नहीं उठता था। ऐसी इच्छा रखने वाली नायिकाओं के रूप हमें श्यामा, (श्यामास्वप्न), चन्द्रकान्ता, (चन्द्रकान्ता), सरोजिनी, (सुन्दर सरोजिनी), सुकुमारी, (राजकुमारी), चपला, (चपला), मालती, (मालती), किरणशशि, (किरणशशि), व्रजमंजरी, (आरण्य बाला), पुष्पकुमारी (पुष्पकुमारी), निरूपमा, (निरूपमा), और कचनार, (कचनार), में प्राप्त होते हैं।

ठाकुर जगमोहन सिंह के उपन्यास "श्यामा-स्वप्न", (१८८८) की नायिका श्यामा एक ब्राह्मण कन्या थी, और श्याम सुन्दर एक क्षत्रिय युवक था। दोनों की प्रेम कथा रीतिकालीन परम्परा के अनुसार कही गई है। श्यामा के जीवन का एक-मात्र उद्देश्य श्यामसुन्दर से विवाह ही है। वह बस इसी के सपने देखा करती है। लेखक ने दोनों का प्रेम दिखाकर तत्कालीन नवीन युग-चेतना और निर्मित होने वाली नवीन मान्यताओं, जिसमें जाति-प्रथा, वर्ण-भेद आदि को समूल नष्ट कर देने

का आग्रह अधिक था, की हल्की झलक दृष्टिगोचर होती है। श्यामा के आन्तरिक गुणों और अन्य विशेषताओं का चित्रण करने में लेखक असफल रहा है, सिवाय इसके कि श्यामा सहृदय है, और प्रेम को ही अपना धर्म समझती है। वास्तव में उसके चरित्र प्रकाशन में लेखक का मन भी नहीं रमा है।

देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास "चन्द्रकान्ता" (१८९१) की नायिका राजकुमारी चन्द्रकान्ता जयसिंह की पुत्री है, और सुरेन्द्र सिंह के पुत्र कुमार वीरेन्द्र सिंह से प्रेम करती है। दोनों के बीच एक खलनायक विजयगढ़ के वज़ीर का पुत्र क्रूरसिंह है, जो स्वयं चन्द्रकान्ता से विवाह करना चाहता था, पर चन्द्रकान्ता बराबर वीरेन्द्र को ही अपने पति के रूप में कल्पित किया करती थी, और उसी से प्रणय-सम्बन्ध स्थापित करने की कामना प्रकट किया करती थी। इस प्रेम कथा के पीछे लेखक का उद्देश्य केवल मनोरंजन और कौतूहल उत्पन्न करना ही था। अतः उसका ध्यान युद्ध के रोचक प्रसंगों, एवं ऐयारी के विस्मयपूर्ण चित्रण आदि तक ही सीमित रह गया, और चन्द्रकान्ता इस उद्देश्य में एक साधन मात्र ही बन कर रह पाई। उसकी आन्तरिक विशेषताओं का चित्रण करने में लेखक पूर्णतया असफल रहा है, बल्कि उसने इसकी चेष्टा भी नहीं की है। अन्त में क्रूरसिंह पराजित होता है, और चन्द्रकान्ता का प्रणय-सम्बन्ध वीरेन्द्रसिंह से स्थापित हो जाता है, जिससे चन्द्रकान्ता को पूर्ण हार्दिक संतोष प्रदान होता है, और उसके स्वप्न साकार होते हैं।

पं० देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय कृत 'सुन्दर सरोजिनी', (१८९३) की नायिका सरोजिनी भी इसी श्रेणी की नायिका है। सरोजिनी स्वप्न में सुन्दर से प्रेम करने लगती है, और उससे विवाह कर सुखी जीवन व्यतीत करने की कामना करने लगती है। सरोजिनी अतीव सुन्दरी थी और उसके अनुपम सौन्दर्य की सारे देश में चर्चा थी। उसका विश्वास था कि "ऊषा के पति अनिरुद्ध सपने में ही मिलकर यथार्थ पति हुए विशेषतः इस लंकापुरी में तो और भी स्वप्न सत्य होता है।"[1] और सचमुच उसका स्वप्न सत्य सिद्ध होता है। 'सत्य प्रेम, ईश्वरभक्ति और धर्म-महिमा'[2] के कारण सुन्दर का स्वप्न-जन्य प्रेम सफल होता है और उसका विवाह सुन्दर के साथ हो जाता है। सरोजिनी का प्रेम आदर्श की भूमि पर आधारित है। उसमें सहिष्णुता के साथ चरित्र की श्रेष्ठता है और संयम है। वह सर्वगुण सम्पन्न है। सीता-सावित्री आदि पौराणिक पात्रों के पवित्र एवं अनुपम आदर्श उसके चरित्र में एकाकार हो गए हैं, जिससे उसमें एक प्रकार की अलौकिकता आ गई है, और वह यथार्थ एवं स्वाभाविक न प्रतीत होकर दिव्य प्रतीत होती है। उसके प्रेम में न तो आधुनिक कोर्टशिप की भावना है और न वासना का समावेश ही है। लेखक के अनुसार, "पाठक भ्रम में न पड़ें कि ये आजकल के नये नायक नायिका हैं और यहाँ

---

१. पं० देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय : सुन्दर सरोजिनी, (१८९३), काशी, पृष्ठ ४२।
२. वही, पृष्ठ ५६।

कोर्टशिप का अवसर इन्होंने पाया है; क्योंकि कोर्टशिप प्रेम नहीं काम का प्रभाव है। जिस प्रकार तेज़ शराब के नशे में कोई हत्या करे तो उसका प्रेरक मुख्यतः मद्य ही समझा जाता है उसी प्रकार युवावस्था में महात्मा मदनदेव के अधिकार से जो प्रेम उपजता है वह यथार्थतः मैत्रीकृत नहीं है किन्तु कामकृत है।"[1] इसमें जाति-प्रथा का समर्थन कर एक ही जाति में विवाह की मर्यादा की अनिवार्यता सिद्ध की गई है। सरोजिनी की परिकल्पना का उद्देश्य लेखक का सुधारवादी दृष्टिकोण ही था। आदर्शप्रेम वासना रहित हो सकता है और भारतीय नारियों के लिए यही प्रेम गौरवपूर्ण है, उनकी मर्यादा के अनुकूल है—लेखक सरोजिनी के चरित्र से यही सिद्ध करना चाहता है। पर यथार्थ को एक दम विस्मृत कर देने के कारण सरोजिनी लेखक के हाथों एक निर्जीव कठपुतली ही बन कर रह गई है। उसका चरित्र अस्वाभाविक रूप से विकसित होता है। लेखक अपनी वांछित बात भले ही कह गया हो, पर कोई प्रभाव डालने में वह पूर्णतया असमर्थ रहा है।

किशोरी लाल गोस्वामी कृत 'राजकुमारी', (१९०२) की नायिका सुकुमारी की गणना भी इस श्रेणी में की जा सकती है। सुकुमारी मुंगेर के ज़मींदार राजा हीराचन्द की पुत्री थी। वह एक साधारण युवक मानिक से प्रेम करती है और उसकी हार्दिक इच्छा है कि उसका विवाह मानिक से ही हो। सुकुमारी का प्रेम अत्यन्त आदर्श है, और उसमें पर्याप्त पवित्रता है। लेखक ने उसे कुछ स्वतन्त्रता भी दी है और वह मानिक के साथ 'एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए' गंगा के तट पर घूमते-फिरते हैं, यह कदाचित् सन्धियुगीन नवीन चेतना का परिणाम था। सुकुमारी का चरित्र चित्रण करने में लेखक असफल रहा है। उसकी परिकल्पना का उद्देश्य लेखक का सुधारवादी दृष्टिकोण एवं आदर्श प्रेम का प्रभाव चित्रित करना था। पर उपन्यास में घटनाओं की बहुलता, अस्वाभाविक परिस्थितियों एवं रहस्यमयता के कारण उसका यह उद्देश्य सफलतापूर्वक प्रतिफलित नहीं हो पाया है, और उपन्यास की रहस्यात्मकता की भाँति सुकुमारी का चरित्र भी एक रहस्य संकेत ही बन कर रह गया है। अन्त में मानिक के साथ सुकुमारी का विवाह दिखलाकर लेखक ने आदर्शप्रेम की सफलता सिद्ध की है। यदि वह सुकुमारी के चरित्र को थोड़ा यथार्थवादी ढंग से विकसित करता और उसे निर्जीव कठपुतली न बना कर उसमें स्वाभाविकता, एवं अकृत्रिमता के रंग भरता तो सुकुमारी के व्यक्तित्व की सशक्तता एवं स्पष्टता के साथ ही उसका उद्देश्य भी सफलतापूर्वक पूर्ण होता।

किशोरी लाल गोस्वामी कृत 'चपला वा नव्य समाज का चित्र', (१९०३) की नायिका चपला भी इसी कोटि की नायिका है। इसमें भी विवाह पूर्व प्रेम का चित्रण किया गया है। चपला घनश्याम से प्रेम करती है और उससे विवाह करना चाहती है। कमलकिशोर यह नहीं चाहता था कि चपला का प्रेम सफल हो और

---

१. पं० देवी प्रसाद शर्मा उपाध्याय : सुन्दर सरोजिनी, (१८९३), काशी, पृष्ठ ३९।

उसका विवाह घनश्याम से हो, इसलिए वह घनश्याम को ऐयारों की सहायता से पकड़वा कर उसे तिलस्मी अड्डे में बन्द कर देता है। चपला को अनेक प्रकार के प्रलोभन दिए जाते हैं, उसे एक बनावटी कलाई दिखाकर यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया जाता है कि घनश्याम की मृत्यु हो गई है, पर चपला का प्रेम आदर्श प्रेम था। वह सती साध्वी थी। उसमें पवित्रता थी, इसलिए वह इन सब भ्रान्तियों में नहीं पड़ती। उसकी दृढ़ता, आत्मविश्वास, साहस एवं बुद्धि देखते ही बनती है। उसके व्यक्तित्व में पौराणिक नारियों की चारित्रिक विशेषताओं का समावेश है, जिससे उसमें एक प्रकार की अलौकिकता आ जाती है। चपला नाम होने के बावजूद भी इसमें किसी भी प्रकार की चपलता नहीं है। उसके जीवन में निष्क्रियता नहीं, सक्रियता है। उसका कथन है, "मैं अब निगोड़ी विपत्ति का सामना दृढ़ता के साथ कर सकूँ और अपने निर्मल शरीर में किसी तरह का भी धब्बा न लगने दूँ।"[1] वह आगे भी कहती है, 'किसी बिगड़े-दिल अमीर ने अपनी किसी वाहियात ख्वाहिश के पूरा करने के लिए मुझे मेरे घर से उड़ा मँगाया है, पर तब मेरा नाम चपला है कि जो मैं उसे उसके पाजीपन का पूरा मजा चखाऊँ।"[2] पर इन कथनों के बावजूद भी लेखक ने घटना बहुलता और ऐयारी आदि पर जितना ध्यान केन्द्रित किया है, उतना चपला के चरित्र चित्रण पर नहीं। चपला की परिकल्पना का उद्देश्य वही है, जो सुकुमारी की परिकल्पना का था।

बाबू बालमुकुन्द वर्मा कृत 'मालती', (१९०४), की नायिका मालती भी इसी प्रकार की नायिका है। मालती एक बड़े घर की लड़की है, जिसके पिता नगर के सबसे बड़े व्यक्ति थे। "धीरे-धीरे मालती अब चौदह साल की युवती हुई, प्रेम देव ने अपना अटल राज उस पर जमा लिया। चाहे मूर्ख से मूर्ख मनुष्य क्यों न हो, मदन उसे चंचल कर ही देता है।"[3] वह एक ऐसे युवक से प्रेम करती है, जो धन में मालती से कहीं कम था, किन्तु शिक्षित और विद्वान् था। प्रेम कभी इस बात पर विचार करता ही नहीं कि दूसरा पक्ष समान स्तर का है या नहीं। एक दिन मालती को देखकर उसका प्रेमी रतनचन्द उसका हाथ पकड़ना चाहता है, तो वह कहती है, "आप बड़ी जल्दी करते हैं, हाथ और फिर पर मेरा हाथ पकड़ना कोई सहल बात नहीं है नाथ! मैं यह नहीं चाहती कि आजकल के नए प्रेमी और प्रेमिकाओं की श्रेणी में मेरी गिनती हो। जब लों मेरे पूज्य माता-पिता मेरा कन्यादान न कर दें, मैं आपको स्पर्श नहीं कर सकती। यह अवश्य है कि मेरे दोनों नेत्र आपके चरण कमलों में लगे हुए हैं। विश्वास है कि आपकी भी मुन्द दासी पर

---

१. किशोरीलाल गोस्वामी : चपला वा नव्य समाज का चित्र, (१९०३), काशी, पृष्ठ १२।

२. वही, पृष्ठ १२।

३. बालमुकुन्द वर्मा : मालती, (१९०४), काशी, पृष्ठ १-२।

कृपा बनी होगी ।''[1] दुर्भाग्य से मालती के पिता नहीं चाहते थे कि मालती का विवाह रतनचन्द से हो, यद्यपि उसकी माँ चाहती थी । हठी पिता एक नहीं सुनते और मालती का विवाह सूर्यचन्द नामक युवक से तय कर देते हैं । रतनचन्द भी मालती से कहता है कि उसे वही करना चाहिए, जो उसके माता-पिता चाहते हैं । पर प्रेम की विरहावस्था दोनों सहन नहीं कर पाते और विष खा लेते हैं । डॉक्टर की सहायता से दोनों बच जाते हैं और उनका विवाह हो जाता है । इसमें भी मालती का आदर्श प्रेम ही चित्रित किया गया है । उसकी परिकल्पना का उद्देश्य लेखक का सुधारवादी दृष्टिकोण तो था ही, साथ ही प्रेम की पवित्रता एवं आदर्श दिखाना भी था । लेखक के अनुसार यदि दोनों एक ही जाति के हों तो सच्चे प्रेमियों का विवाह कर ही देना चाहिए । यह उनके प्रेम के गौरव के अनुकूल होता है ।

रामप्रसाद सत्याल कृत 'किरणशशि' (१९०९) की नायिका किरणशशि है । बम्बई में किरणशशि और जगमोहन एक दूसरे को देखते हैं । किरणशशि आदर्श नायिका है । उसमें आदर्श प्रेम, त्याग की अनुपम भावना और सहिष्णुता है । वह सक्रिय जीवन के प्रति आस्थावान् है । उसके जीवन का एक ही उद्देश्य था जगमोहन से विवाह कर अपने प्रेम को सफल करना । वह जगमोहन से बिछुड़ जाती है, पर साहस एवं आत्मविश्वास के साथ उसका सम्पर्क कभी विच्छिन्न नहीं होता । वह धैर्य एवं विश्वास के साथ अपने प्रेमी को खोजती है और जब उसे पाती है तो उसे पता चलता है कि वह महान् कष्ट में है । किरणशशि चुप नहीं बैठती, पुरुष वेश में जगमोहन की सहायता करती हैं, और फिर दोनों का विवाह हो जाता है । सुकेशी नामक स्त्री भी जगमोहन से विवाह करना चाहती हैं, पर जगमोहन के अस्वीकार करने पर वह उस पर छुरे से वार करती हैं । बीच में किरणशशि आ जाता है और उसकी मृत्यु हो जाती है । इस प्रकार वह अपने पति की प्राण रक्षा के लिए सहर्ष प्राणों का त्याग कर देती है । जगमोहन के अनुसार '''आह ! जब किरणशशि की तस्वीर एकाएक मन में पैदा हो जाती हैं तो मुझको उस समय असह्य कष्ट हो जाता है······संसार में किरणशशि स्त्री भी कुलकामिनी पैदा होती हैं, जो अपने प्राण प्यारे के लिए अपना अमूल्य जीवन भी दे देती हैं ।''[2] किरणशशि आदर्श प्रेमिका थी, और साथ ही सती, साहसी नारी थी । उसकी परिकल्पना का स्रोत पौराणिक आदर्श नारियाँ सीता एवं सावित्री आदि हैं । पर लेखक किरणशशि के चरित्र को सफलता पूर्वक स्पष्ट करने में नितान्त रूप से असमर्थ रहा है ।

बाबू ब्रजनन्दन सहाय कृत 'आरण्यबाला', (१९१५) की नायिका ब्रजमंजरी अत्यन्त रूपवती है, सुकुमार है, सुशील हैं, सच्चरित्र हैं । वह अपनी जीविका के लिए दिनरात कठिन परिश्रम करती है, सदा सुखी रहती हैं । प्रकृति की गोद में पली

---

१. बालमुकुन्द वर्मा : मालती, (१९०४). काशी, पृष्ठ ५-६ ।

२. रामप्रसाद सत्याल : किरणशशि, (१९०९), काशी, पृष्ठ ८२

व्रजमंजरी समाज के छल-कपट को नहीं जानती । वन पंछी जैसी वह स्वतन्त्र है। आरण्यकुसुम ऐसा उसमें स्वाभाविक सुन्दर, मधुरता तथा भोलापन है । व्यर्थ ही एवं अकारण ही वह किसी से लज्जा नहीं करती । कृत्रिमता एवं नखरे से वह पूर्णतया अपरिचित है ।[१] उसका मुकुन्द से पिछले जन्म का प्रेम है, और उसकी आत्मा मुकुन्द को पाने के लिए छिटपटाती रहती है । बीच में ओंकार आश्रय बन जाता है, और दोनों का विवाह हो जाता है । व्रजमंजरी हिन्दी उपन्यासों में भागवती के बाद दूसरी ऐसी नायिका है, जो आर्थिक रूप से स्वावलम्बिनी बन कर अपने जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न करती है । मूल्यमर्यादा रहित जीवन जीने की उसमें आकांक्षा नहीं । गौरव, पवित्रता एवं आदर्श उसके जीवन की विभूतियां हैं । उसमें सहनशीलता एवं धैर्य है, उसकी धारणा है कि मरना जीना तो शरीर का धर्म ही है । जीवन मरण केवल मायामात्र हैं । संयोग, वियोग में क्या लगा है । हम लोग अपने यथार्थ को पहचानते नहीं, इसी से हाय ! हाय किया करते हैं ।''[२] उसमें सेवा-भाव है । उसका चरित्र चित्रण पूर्णतया यथार्थवादी ढंग से विकसित हुआ है और यदि लेखक थोड़ी भावुकता एवं व्यर्थ की जटिलता एवं रहस्यात्मकता को मोह छोड़ पाता तो उसके यथार्थ का रंग और भी गाढ़ा होता तथा वह और भी स्वाभाविक रूप से चित्रित होती ।

पं० टीकाराम तिवारी कृत 'पुष्प कुमारी', (१९१७ ई०) की नायिका पुष्पकुमारी पं० रामचन्द्र की पुत्री है । वह कमलकिशोर को देखती है और उस पर मोहित होकर प्रेम करने लगती है । उससे विवाह करना उसकी हार्दिक इच्छा है। उसे पता चलता है कि अठारह वर्ष की आयु में वह विधवा हो जाएगी, पर वह अपने विवाह से अटल निश्चय को परिवर्तित नहीं करती । नारायण स्वामी के निर्देशानुसार वह कठोर तप करता है । अंत में उसे सफलता प्राप्त होती । इसका ग्रह टल जाता है और उसका कमल किशोर के साथ विवाह हो जाता है । उसकी तपस्या करने का ढंग पार्वती के समान है । उसका पतिव्रत धर्म सीता एवं सावित्री के समान है। वस्तुत उसकी परिकल्पना का स्रोत में पौराणिक पात्र ही थे । लेखक के अनुसार, 'इधर बाल-विवाह की प्रथा दिन-ब-दिन उन्नति, धार्मिक शिक्षा का अभाव, उनके अन्त कष्ट के निवारण को कोई देशी व्यवसाय की देश में न्यूनता आदि-आदि अनेकानेक कारणों से अपने देश की स्त्रियां, अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त हैं और इतना सब सहन करते हुए भी साम्प्रतकाल में जो नारी तुम समान अपना जीवन हिन्दू धर्म एवं समाज की रक्षा करते हुए व्यतीत कर रही हैं, वे धन्य-धन्य हैं ।''[3] स्पष्ट है कि लेखक का उद्देश्य सुधारवादी था । वह समाज के सामने एक आदर्श रखकर नारियों को

---

१. व्रजनन्दन सहाय : आरण्यबाला, (१९१५), काशी, पृष्ठ १३१ ।

२. वही, पृष्ठ १९४ ।

३. टीकाराम तिवारी : पुष्पकुमारी, (१९१७), कलकत्ता, पृष्ठ १९० ।

नैतिक उपदेश देना चाहता था। प्रारम्भ में इसे 'सनातन धर्म की शिक्षा, श्रद्धा तथा भक्ति' का उत्कृष्ट नमूना कहा गया है। ऐसी स्थिति में लेखक की रुचि जितनी उपदेश एवं आदर्श प्रतिष्ठापन की ओर रही है, उतनी पुष्पकुमारी के चरित्र चित्रण की ओर नहीं। लेखक उसके चरित्र चित्रण में असफल रहा है।

निरूपमा के चरित्र के सम्बन्ध में चार बातें मुख्य हैं। एक तो वह अत्यन्त ही सरल स्वभाव की निष्कपट नारी है। दूसरे उसमें दृढ़ इच्छा शक्ति का अभाव है। तीसरे उसे मानवमात्र के प्रति चरम सहानुभूति है और चौथे वह पारिवारिक शृंखलाओं को विशृंखलित करने और रूढ़ियों को तोड़ने में अपने को असमर्थ पाती है, और इसलिए कुमार के प्रति मन ही मन प्यार रख कर भी वह स्पष्ट नहीं कर पाती, और विवाह को दो व्यक्तियों के परस्पर सुख-संतोष की समस्या समझ कर भी यामिनी बाबू से, जिसे उसके स्वार्थी मामा ने वर मनोनीत किया है, तब तक विवाह करने को तत्पर रहती है, जब तक कमल का सहयोग उसे नहीं मिल पाता और वह अपनी हार्दिक इच्छा की पूर्ति नहीं कर पाती। निरूपमा का चरित्र इन्हीं चार बातों को केन्द्र विन्दु मानकर स्पष्ट किया जा सकता है।

निरूपमा का हृदय बड़ा सरल है और उसकी दृष्टि में अजब सी मोहिनी शक्ति है, जो भी उसे देखता है, आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकता। उसके प्रोफेसर भड़कंकड़ उसे प्रेम पत्र लिखकर विवाह की इच्छा प्रकट करते हैं, पर वह पत्र अपने मामा को दे देती है, स्वयं उसका उत्तर नहीं देती। वह पत्र का उत्तर स्वय दे सकती थी, या पत्र फाड़ कर फेंक भी सकती थी, पर उसकी सरलता अपने अभिभावक मामा से इस प्रकार का दुराव-छिपाव नहीं करने देती। यही नहीं, कुमार बाबू को मन ही मन लिए जब वह काफी आगे बढ़ जाती है, तभी मामा उससे यामिनी बाबू को रुपये ऋण के रूप में देने का अनुरोध करते हैं और वह भोली निश्छल युवती की भाँति उत्तर देती है—"मैं तैयार हूँ। मामा जी जब और जिस तरह देंगे, लेकर दे दूँगी। मैं मामा जी की किसी इच्छा का विरोध नहीं करती।"[1]

निरूपमा अपनी इसी सरल इच्छा शक्ति के कारण अपनी हार्दिक भावनाओं को पूर्ण होते नहीं देख पाती और विवशताओं में डूबती-उतरती रहती है। मानव-सुलभ दृढ़ता और निश्चय का उसमें पूर्ण अभाव है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि उसे माँ-बाप के स्नेह से शीघ्र ही वंचित हो जाना पड़ा था, और फिर मामा के परिवार में उसे स्वार्थ और छल-कपट के बीच में ही रहना पड़ रहा था। उसकी सहेली कमल ही पहली बार उसे मामा की स्वार्थ परक बातों की ओर सावधान करती है, पर वह चौंक कर भी चुप रहती है। कुमार बाबू को वह मन ही मन प्यार करती है पर अपने भाई सुरेश के सामने बराबर वह प्रयत्न करती है कि

१. सूर्यकान्त त्रिपाठी : निराला : निरुपमा, (१९३६), इलाहाबाद, पृष्ठ १२३।

वह उसको हार्दिक भावना को ताड़ने न पावें। इसीलिए सुरेश के कहने से वह बराबर यामिनी बाबू से मिलती है, घूमने जाती है। कुमार बाबू के घर आती-जाती भी है, उसकी माँ सावित्री देवी से घनिष्ठता भी स्थापित कर आती है, रामचन्द्र से भी जान-पहचान कर आती है, पर अन्त में मामा के कहने से यामिनी बाबू से विवाह करने को प्रस्तुत हो जाती है। पर तभी उसे कमल का सहयोग मिलता है, वह उसमें दृढ़ इच्छा शक्ति उत्पन्न करती है, निश्चय की भावना भरती है और तभी निरुपमा में एक दृढ़ता आ पाती है और वह मामा का विरोध कर कुमार बाबू से विवाह कर लेती है।

निरुपमा अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने पर भी रूढ़ियों से ग्रस्त है। प्राचीन हिन्दू संस्कार उसमें भरे पड़े हैं। वह जब अपने गाँव जाती है तो उसके आगमन की प्रसन्नता में भोज होता है। कुमार बाबू का छोटा भाई रामचन्द्र उस भोज में अचानक ही निरुपमा से कुछ कहने आ जाता है। भोज में आई स्त्रियाँ उसे प्रताड़ित करने लगती हैं, डाँटने-फटकारने लगती हैं कि जब गाँव में उनका हुक्का पानी बन्द कर दिया गया है, घूमने की मनाही है, तब वह यहाँ कैसे आ गया और निरुपमा विमूढ़ सी खड़ी रह जाती है। उसके हिन्दू संस्कार आगे बढ़ कर इन बातों का विरोध करने और रामचन्द्र की बातों को सुनने की मुमानियत सा कर देते हैं। यों निरुपमा को निर्धनों के प्रति पूरी सहानुभूति है और गाँव की दुर्दशा देखकर उसे रोना आता है। वह जमींदारों का अत्याचार देखकर सुरेश से कहती है—"पर जबरदस्त कमजोर पर हमला न करे, इसका भी ख्याल सरकार रखती है और जमींदार को रखना चाहिए।"[1]

और, यही नहीं निरुपमा रामचन्द्र के लिए फीस की व्यवस्था कर देती है, सावित्री देवी के बाग उन्हें अपने कब्जे में आ जाने के बावजूद भी वापस कर देती है। मालिकवा की माँ को तीन बीघे माफी देने का प्रबन्ध करती है और जिन मकानों को सावित्री देवी ने रेहन रख दिया है, उसे छुड़ाने का भी प्रयत्न करती है। इन्हीं सब कार्यों से वह सबका हृदय जीत लेती है। उसकी सुशीलता और उसका मृदु स्वभाव देखते ही बनता है। उसका व्यक्तित्व बड़ा ही सौम्य (Sober) है और बड़ा ही आकर्षक है!

वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यास "कचनार" (१९४६) की नायिका कचनार भी इसी श्रेणी में आती है। कचनार दासी है, और उसे प्रचुर मात्रा में सौन्दर्य प्राप्त हुआ है। महाराज दलीपसिंह उससे प्रेम करते हैं, यद्यपि कचनार प्रारम्भ में इसे स्पष्ट नहीं करती, पर वह इसे अस्वीकृत भी नहीं करती। वह अत्यन्त गम्भीर स्वभाव की है, और आत्माभिमानी है। उसमें संयम और विवेक की कमी नहीं है, इसीलिए दलीपसिंह अनेक बार उसे अपने बाहुपाश में जकड़ लेना

---

१. सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला", : निरुपमा : (१९३६), इलाहाबाद, पृष्ठ ७२।

चाहता है, अपनी वासना वृत्ति का परिचय देता है, पर कचनार भावुकता में कभी फिसलती नहीं है। वह विवाह के पूर्व कभी इस प्रकार का गलत कदम नहीं रखती। इसी समय घटनाएं कुछ विचित्र प्रकार से घट जाती हैं। मानसिंह के षड्यन्त्र से दलीपसिंह को मरा हुआ समझ कर सब श्मसान में फेंक आते हैं, और सब दलीपसिंह को मरा हुआ समझ लेते हैं। यहीं से कचनार का चरित्र दूसरा मोड़ लेता है, उसके जीवन की दिशा ही परिवर्तित हो जाती है। अब उसे अपनी वास्तविक स्थिति, प्रेम की गहनता का आभास होता है। उसे न तो वैभव की लालसा है, न वह मानसिंह की बातों में आकर रानी बनने की ही इच्छुक है। उसमें वैराग्य की वृत्ति बढ़ जाती है, और वह जीवन से वैराग्य लेने-देने की बातें करती है।

प्रारम्भ में कचनार में अहं की प्रधानता है। उसमें विचित्र प्रकार का अहं है। दलीपसिंह जब भी अपने प्रेम का प्रस्ताव रखते हैं, वह खिची-खिची सी रहती है और अपनी रानी कलावती के भविष्य को उस अहं पर आरोपित करती है, पर वस्तुस्थिति तो यह थी कि उसकी चारित्रिक ग्रन्थि इस प्रकार की थी वह अपने अहं से प्रेरित हो दलीपसिंह के प्रेम को स्वीकार नहीं करती और कलावती के जीवन की बातें करती है, जब दलीपसिंह की मृत्यु की बात फैलती है तो जैसे मन में पड़ी गाँठ खुल जाती है, और दलीपसिंह को न पाकर वह अपने जीवन के प्रति निराश हो जाती है। परिस्थितियों से विवश होकर वह वैराग्य धारण कर लेती है। कचनार के चरित्र में अनेक असंगतियाँ स्वयं लेखक ने ही जाने-अनजाने में उपस्थित कर दी है। जिसके कारण कचनार का चरित्र बहुत अधिक आकर्षक या ऊपर नहीं जा पाया है। कचनार के चरित्र का जो भी आभास मिलता है, उससे आश्चर्य होता है कि दलीपसिंह जैसे कामुक, लोभी और लम्पट व्यक्ति से वह कैसे प्यार करने लगी ? और फिर जब वह एक स्थल पर कहती है—"मेरे साथ भाँवर डालिए। मुझको अपनी पत्नी की प्रतिष्ठा दीजिए। अपनी जीवन सहचरी बनाइए। वचन दीजिए। मैं आपके चरणों में अपना मस्तक रख दूँगी।"[1]

और वही कचनार अचानक ही दलीपसिंह के लिए अचानक इतनी व्यग्र हो जाती है कि आश्रम में सुमंतपुरी के रूप में दलीपसिंह का आभास पा वह उस पर रीझ जाती है, और बराबर घूम फिर कर उसी के सम्बन्ध में बात करती है या सोचती है। "सुमंतपुरी सा सादृश्य और कहीं भी प्राप्त नहीं हो सकता था। मीठा दर्द प्राप्त करता था, कलंक और वियोग की सिहिर तथा इन सबको दमन करने की दृढ़ इच्छा। सुमन्तपुरी का बालकों जैसा भोला स्वभाव उसकी मातृभावना को कभी-कभी छू जाता था, इसलिये प्रयास करने पर भी वह कर्कस न बन पाई"...[2] अर्थात् वह समन्तपुरी की उपेक्षा नहीं कर पाई। इस अन्तर्विरोध को लेखक कहीं भी स्पष्ट

१. वृन्दावन लाल वर्मा : कचनारः, (१९४७), झाँसी, पृष्ठ १५।
२. वही, पृष्ठ २८३।

करके उसे विनाश मार्ग की ओर ढकेल देने के मूल में क्रियाशील होती है। यही नहीं वह अपनी प्रिय सहेली शीला का भी सुख नहीं देख पाती और उसके विवाहित जीवन को झुलसा देती है। शीला इन्द्रमोहन की पत्नी है, और यह विवाह इन्द्रमोहन ने मात्र इसलिए किया था जिससे वह निरंजना के समक्ष अपनी चरित्रता का परिचय दे सके। और जब निरंजना इन्द्रमोहन द्वारा शारीरिक सम्पर्क स्थापित करने के निवेदन पर कहती है, "नहीं, इन्द्रमोहन जी, जब तक शीला जीवित है, तब तक आप मुझ से हर्गिज इस तरह की आशा न करें, यह असम्भव है। यदि आप बहुत उतावले हैं, तो लीजिए मेरा यह हाथ अपने होंठों से लगा लीजिए।"[1] वह अच्छी तरह जानती थी कि इन्द्रमोहन के जीवन का एक ही उद्देश्य है उसका शील भंग करना, और उसके इस कथन का उस पर क्या प्रभाव होगा? परिणाम वही हुआ, जिसकी कल्पना स्वयं निरंजना को भी मन ही मन थी, शीला की हत्या हो जाती है, इन्द्रमोहन और निरंजना का रास्ता साफ हो जाता है।

यही नहीं कि, निरंजना का अपनी उस भयंकर वृत्ति का, जो सबका नाश चाहती थी, पता न था, वह जानती थी। आंतरिक वृत्तियों को सुशिक्षित होने के कारण आत्मविश्लेषण के माध्यम से समझ भी लेती है, पर अवचेतन मन पर स्वाभाविक रूप से उसका कोई नियन्त्रण नहीं रहता है, और अपनी अन्तः प्रेरणाओं के हाथों वह कठपुतली की भांति नाचती रहती है, उसकी स्वाभाविक इच्छाएं, उसकी नैतिकता, और उसकी संस्कृति का कोई महत्व नहीं रह जाता। शीला—से उसे स्नेह मिलता है, निश्चल प्रेम मिलता है, जो एक प्रकार से, माँ के अभाव की पूर्ति भी किसी सीमा तक करता है। निरंजना भी, जब तक उसे यह रहस्य नहीं ज्ञात होता कि उसकी माँ एक वेश्या थी, शीला के जाने-अनजाने अपनी माँ का प्रतीक स्वरूप समझ बैठती है. और उसके प्रेम करती है उसी भावना से पर रहस्य उद्घटित होने पर जिस प्रकार उसे अपनी मृत माँ से भयंकर घृणा होती है, उसी प्रकार प्रतीक स्वरूप शीला के प्रति भी उसके मन में भयंकर घृणा के भाव उत्पन्न हो जाते हैं, और अन्त में अज्ञात रूप से उसी के निर्देशन पर इन्द्रमोहन द्वारा शीला की हत्या से मानों वह अपनी माँ से बदला ले लेती है, उसकी आत्मा को शांति पहुंचती है। हांलाकि वह पहले (रहस्य के ज्ञात होने के पूर्व) यह नहीं चाहती थी। वह स्वयं कहती है, "मेरे मन के किसी विकृत से भी विकृत कोने में इस इच्छा का लेश भी वर्तमान नहीं था कि वह किसी समय एकांत में आकर इनसे मिलें। शीला की उपस्थिति में ही उनसे दिल खोलकर हंसने बोलने और उन्हें बनाने से मेरे विकृत उद्देश्य की पूर्ति पूर्णमात्रा में हो जाती थी।—इससे अधिक मैं कुछ नहीं चाहती थी। मैं केवल शीला के मन के बाहरी स्तर को हल्की सी चोट पहुँचाना चाहती थी और एक मीठी आंच से इन्द्रमोहन जी के हृदय को मन्द-मन्द जलाना चाहती थी—बस।

---

१. इलाचन्द्र जोशी : पर्दे की रानी : (१९४१), इलाहाबाद, पृष्ठ १८७।

प्रारम्भ में नाममात्र को भी यह इच्छा मेरे मन में वर्तमान न रही कि शीला की गृहस्थी उजाड़ कर समूल नष्ट कर डालूं।" इन्द्रमोहन निरंजना के सम्पर्क में इसीलिए आया था कि वह उसका अहं तोड़ सके। दोनों पक्ष वलशाली थे, प्रारम्भ में कोई पराजय स्वीकार करने को तत्पर नहीं होता पर अन्त में इन्द्रमोहन निरंजना को पराजित कर ही देता है, उसका अहं तोड़ देता है, पर स्वयं अपने अहं को तोड़ कर ! वह ट्रेन के निर्जन एकान्त में निरंजना की सहमति से उसका कौमार्य खण्डित करने में सफल हो ही जाता है।

ट्रेन दुर्घटना से निरंजना गर्भवती हो जाती है, जिससे वह अपने जीवन के प्रति और भी निराश हो जाती है और विदग्धता की अग्नि में जलती रहती है। गुरु जी उसे मानसिक शान्ति प्रदान करने की चेष्टा करते हैं। अन्त में निरंजना में प्रथम वार सुख शान्ति और आशा का संचार होता है। यह उपन्यास मनोविश्लेषणात्मक पद्धति पर लिखा गया है और निरंजना की परिकल्पना में लेखक का प्रमुख उद्देश्य यह चित्रित करना था कि अवचेतन मन से प्रभावित कोई मानव कितना भयंकर वन सकता है और अपना पशु सुलभ विवेक भी भूल जाता है, नहीं तो क्या निरंजना शीला की हत्या और इन्द्रमोहन की आत्महत्या का कारण वनती ? निरंजना के चरित्र प्रकाशन में जोशी जी ने पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है, वे आत्मपीड़न से युक्त एक पूर्ण असफल नारी का सजीव चित्रण कर सके हैं।

प्रेम और सेक्स

पश्चिम में प्रेम और सेक्स दो अभिन्न वातें समझी जाती हैं। पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में वही धारणा भारतीय विचार धारा में भी शक्ति प्राप्त करने लगी और यहाँ भी प्रेम को सेक्स के साथ संयुक्त करके देखा जाने लगा। कुछ लोग स्वभाव से ही अत्यधिक विपयी एवं सेक्स प्रधान होते हैं। वात्सायन ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ काम-सूत्र में बताया है कि नारियों में पुरुपों की तुलना में १०० प्रतिशत अधिक तीव्र काम-वासना की भावना होती है। वे अपनी इस काम-वासना की शान्ति के लिए पुरुपों से प्रेम का स्वांग रचती हैं। उस प्रेम का एकमात्र उद्देश्य सेक्स की पूर्ति ही होता है। भारत में जब आधुनिकता का प्रसार हुआ और नारियाँ सभा, समाजों में आने-जाने लगीं, तो उनकी इस भावना को वहाँ अधिक प्रश्रय मिला। वे पुरुपों के निकट सम्पर्क में आईं, वातचीत करने, उठने-बैठने, साथ घूमने आदि की स्वतन्त्रता मिली तो उसके साथ ही सेक्स की प्रवृत्ति को भी वल मिला। फैशनपरस्त नारियों का तो यह एकमात्र उद्देश्य ही हो गया। कि वे क्लवों आदि में आने-जाने लगीं और नित्य नए-नए पुरुपों से सम्पर्क स्थापित करने लगीं। इससे समाज में वड़ी अस्वास्थ्य-प्रद.स्थिति उत्पन्न हो गई और नारियों में नैतिकता का तीव्रता से पतन होने लगा। वे परिवार और परिवार के लोगों को कोई महत्व नहीं देना चाहती थीं। अपनी प्रगतिशीलता की धुन में वे अपने पिता.तक की उपेक्षा करने और उन्हें

करके उसे विनाश मार्ग की ओर ढकेल देने के मूल में क्रियाशील होती है। यही नहीं वह अपनी प्रिय सहेली शीला का भी सुख नहीं देख पाती और उसके विवाहित जीवन को झुलसा देती है। शीला इन्द्रमोहन की पत्नी है, और यह विवाह इन्द्रमोहन ने मात्र इसलिए किया था जिससे वह निरंजना के समक्ष अपनी चरित्रता का परिचय दे सके। और जब निरंजना इन्द्रमोहन द्वारा शारीरिक सम्पर्क स्थापित करने के निवेदन पर कहती है, "नहीं, इन्द्रमोहन जी, जब तक शीला जीवित है, तब तक आप मुझ से हर्गिज इस तरह की आशा न करें, यह असम्भव है। यदि आप बहुत उतावले हैं, तो लीजिए मेरा यह हाथ अपने होठों से लगा लीजिए।"[1] वह अच्छी तरह जानती थी कि इन्द्रमोहन के जीवन का एक ही उद्देश्य है उसका शील भंग करना, और उसके इस कथन का उन पर क्या प्रभाव होगा? परिणाम वही हुआ, जिसकी कल्पना स्वयं निरंजना को भी मन ही मन थी, शीला की हत्या हो जाती है, इन्द्रमोहन और निरंजना का रास्ता साफ हो जाता है।

यही नहीं कि, निरंजना को अपनी उस भयंकर वृत्ति का, जो उसका नाश चाहती थी, पता न था, वह जानती थी। आंतरिक वृत्तियों को सुशिक्षित होने के कारण आत्मविश्लेषण के माध्यम से समझ भी लेती है, पर अवचेतन मन पर स्वाभाविक रूप से उसका कोई नियन्त्रण नहीं रहता है, और अपनी अन्तः प्रेरणाओं के हाथों वह कठपुतली की भाँति नाचती रहती है, उसकी स्वाभाविक इच्छाएं, उसकी नैतिकता, और उसकी संस्कृति का कोई महत्व नहीं रह जाता। शीला—से उसे स्नेह मिलता है, निश्चल प्रेम मिलता है, जो एक प्रकार से, माँ के अभाव की पूर्ति भी किसी सीमा तक करता है। निरंजना भी, जब तक उसे यह रहस्य नहीं ज्ञात होता कि उसकी माँ एक वेश्या थी, शीला के जाने-अनजाने अपनी माँ का प्रतीक स्वरूप समझ बैठती है- और उसके प्रेम करती है उसी भावना से पर रहस्य उद्घटित होने पर जिस प्रकार उसे अपनी मृत माँ से भयंकर घृणा होती है, उसी प्रकार प्रतीक स्वरूप शीला के प्रति भी उसके मन में भयंकर घृणा के भाव उत्पन्न हो जाते हैं, और अन्त में अज्ञात रूप से उसी के निर्देशन पर इन्द्रमोहन द्वारा शीला की हत्या से मानों वह अपनी माँ से बदला ले लेती है, उसकी आत्मा को शांती पहुंचती है। हांलाकि वह पहले (रहस्य के ज्ञात होने के पूर्व) यह नहीं चाहती थी। वह स्वयं कहती है, "मेरे मन के किसी विकृत से भी विकृत कोने में इस इच्छा का लेश भी वर्तमान नहीं था कि वह किसी समय एकांत में आकर इनसे मिलें। शीला की उपस्थिति में ही उनसे दिल खोलकर हंसने बोलने और उन्हें बनाने से मेरे विकृत उद्देश्य की पूर्ति पूर्णमात्रा में हो जाती थी।—इससे अधिक मैं कुछ नहीं चाहती थी। मैं केवल शीला के मन के बाहरी स्तर को हल्की सी चोट पहुँचाना चाहती थी और एक मीठी आंच से इन्द्रमोहन जी के हृदय को मन्द-मन्द जलाना चाहती थी—बस।

1. इलाचन्द्र जोशी : पर्दे की रानी : (१९४१), इलाहाबाद, पृष्ठ १८७।

प्रारम्भ में नाममात्र को भी यह इच्छा मेरे मन में वर्तमान न रही कि शीला की गृहस्थी उजाड़ कर समूल नष्ट कर डालूं।" इन्द्रमोहन निरंजना के सम्पर्क में इसीलिए आया था कि वह उसका अहं तोड़ सके। दोनों पक्ष बलशाली थे, प्रारम्भ में कोई पराजय स्वीकार करने को तत्पर नहीं होता पर अन्त में इन्द्रमोहन निरंजना को पराजित कर ही देता है, उसका अहं तोड़ देता है, पर स्वयं अपने अहं को तोड़ कर ! वह ट्रेन के निर्जन एकान्त में निरंजना की सहमति से उसका कौमार्य खण्डित करने में सफल हो ही जाता है।

ट्रेन दुर्घटना से निरंजना गर्भवती हो जाती है, जिससे वह अपने जीवन के प्रति और भी निराश हो जाती है और विदग्धता की अग्नि में जलती रहती है। गुरु जी उसे मानसिक शान्ति प्रदान करने की चेष्टा करते हैं। अन्त में निरंजना में प्रथम बार सुख शान्ति और आशा का संचार होता है। यह उपन्यास मनोविश्लेषणात्मक पद्धति पर लिखा गया है और निरंजना की परिकल्पना में लेखक का प्रमुख उद्देश्य यह चित्रित करना था कि अवचेतन मन से प्रभावित कोई मानव कितना भयंकर बन सकता है और अपना पशु सुलभ विवेक भी भूल जाता है, नहीं तो क्या निरंजना शीला की हत्या और इन्द्रमोहन की आत्महत्या का कारण बनती ? निरंजना के चरित्र प्रकाशन में जोशी जी ने पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है, वे आत्मपीड़न से युक्त एक पूर्ण असफल नारी का सजीव चित्रण कर सके हैं।

प्रेम और सेक्स

पश्चिम में प्रेम और सेक्स दो अभिन्न बातें समझी जाती हैं। पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में वही धारणा भारतीय विचार धारा में भी शक्ति प्राप्त करने लगी और यहाँ भी प्रेम को सेक्स के साथ संयुक्त करके देखा जाने लगा। कुछ लोग स्वभाव से ही अत्यधिक विषयी एवं सेक्स प्रधान होते हैं। वात्सायन ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ काम-सूत्र में बताया है कि नारियों में पुरुषों की तुलना में १०० प्रतिशत अधिक तीव्र काम-वासना की भावना होती है। वे अपनी इस काम-वासना की शान्ति के लिए पुरुषों से प्रेम का स्वांग रचती हैं। उस प्रेम का एकमात्र उद्देश्य सेक्स की पूर्ति ही होता है। भारत में जब आधुनिकता का प्रसार हुआ और नारियाँ सभा, समाजों में आने-जाने लगीं, तो उनकी इस भावना को वहाँ अधिक प्रश्रय मिला। वे पुरुषों के निकट सम्पर्क में आईं, बातचीत करने, उठने-बैठने, साथ घूमने आदि की स्वतन्त्रता मिली तो उसके साथ ही सेक्स की प्रवृत्ति को भी बल मिला। फैशनपरस्त नारियों का तो यह एकमात्र उद्देश्य ही हो गया। कि वे क्लबों आदि में आने-जाने लगीं और नित्य नए-नए पुरुषों से सम्पर्क स्थापित करने लगीं। इससे समाज में बड़ी अस्वास्थ्य-प्रद स्थिति उत्पन्न हो गई और नारियों में नैतिकता का तीव्रता से पतन होने लगा। वे परिवार और परिवार के लोगों को कोई महत्व नहीं देना चाहती थीं। अपनी प्रगतिशीलता की धुन में वे अपने पिता तक की उपेक्षा करने और उन्हें

नहीं कर पाया है इसलिये कचनार का चरित्र एक रहस्य ही बनकर रह गया है। यह वस्तुतः अतृप्ति और कुंठा से संघर्ष की कहानी ही है। अन्त में दलीपसिंह से कचनार का विवाह हो जाता है। वस्तुतः नारी प्रेम में अपनी पराजय नहीं स्वीकार करना चाहती तथा साथ ही वह अपने अहं को टूट कर बिखरते भी नहीं देखना चाहती। भारतीय नारियाँ प्रेम में एक पवित्रता चाहती हैं, तथा विवाह ही अन्तिम परिणति मानती हैं। प्रेम को वह जीवन में मनोरंजन का साधन नहीं समझती। कचनार के माध्यम से लेखक का उद्देश्य यही चित्रित करना था, जिसमें उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

प्रति हिंसा की भावना से प्रेरित प्रेम

मनुष्य वस्तुतः अपने अवचेतन मन का दास होता है। वह करना कुछ चाहता है, अवचेतन मन उससे कुछ और करवाता है। चूंकि हमारे चेतन मन की तुलना में अवचेतन मन अधिक शक्तिशाली होता है, अतः उसके सम्मुख हम विवश रहते हैं। इसलिए कभी-कभी लोग प्रेम का स्वाँग रचते हैं। उनके अवचेतन मन से प्रेरित किसी भयंकर प्रतिहिंसा का भाव उनके अन्तरमन में हिलोरें मारता रहता है, और अपने विरोधी को समूल रूप से नष्ट करने के लिए वे उसी से प्रेम का नाटक रच बैठते हैं, जिससे वे उसके अधिक निकट सम्पर्क में आ सकें, उसकी प्रत्येक बारीकियों उसकी भावनाओं तथा उसकी गतिविधियों से परिचित, होते रहें और उसी के अनुरूप अपनी योजना बना सकें। कोई भी व्यक्ति अपने अहं को पराजित होते नहीं देखना चाहता, और न वह अपने को किसी दूसरे व्यक्ति की तुलना में हीन समझता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने को दूसरों में श्रेष्ठ सिद्ध करने की चिंता में ही व्यग्र रहता है, और जब वह ऐसा नहीं कर पाता, तो उसकी भावनाओं को चोट पहुँचती है, और वह अपना तीव्र अपमान समझ कर बदला लेने की भावना तक पहुंच जाता है। विशेष रूप से वह व्यक्ति, जो भीतरी तौर पर तो हीनता की ग्रंन्थि (Inferiority Complex) से पीड़ित रहता है, पर ऊपर से प्रदर्शित यही करता है कि वह श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न है। इस बाहर और भीतर के बीच निरन्तर संघर्ष होता रहता है, और वह कभी-कभी भयंकर कृत्य करने को तत्पर हो जाता है। किसी की हत्या करना भी उसके लिए कठिन नहीं होता। प्रारम्भिक युग में जब उपन्यास कला का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था, और मनोविज्ञान एवं दर्शन का प्रवेश उपन्यासों में नहीं हुआ था, तब इन भावनाओं के चित्रण की ओर ध्यान नहीं दिया जाता था। पर जैसे-जैसे मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति का विकास होता गया, उपन्यासों में मानव की इन्हीं आन्तरिक प्रवृत्तियों को बल प्रदान किया जाने लगा, और आज तो यह पद्धति इतनी लोकप्रिय हो गई है, कि मानव मन की आन्तरिक भावनाओं के मनोविश्लेषण से रहित उपन्यास महत्वहीन समझे जाते हैं। आलोच्य-काल में प्रतिहिंसा की भावना से प्रेरित होकर प्रेम करने वाली केवल एक ही नायिका इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास "पर्दे की रानी" (१९४१) में निरंजना के रूप में प्राप्त होती है।

निरंजना एक ऐसी नारी है, जिसमें हीनता का भाव (Inferiority Complex) प्रबल रूप में व्याप्त है। यद्यपि प्रारम्भ में वह बड़ी शान्त, गम्भीर और एकान्त पसन्द करने वाली अध्ययनशील युवती है, पर मनमोहन के सम्पर्क में आने, उसके प्रणय निवेदन करने और निरंजना द्वारा अपमान किये जाने के पश्चात् मर्माहत होकर जब मनमोहन उसके व्यक्तिगत जीवन का एक ऐसा रहस्य सूत्र उसे बताते हैं, जिसे सुनकर निरंजना चौंक ही नहीं जाती, अपितु उसके अनुसार "मेरी तन्मयता की स्थिति में जब विविध भावों के उद्वेलन के साथ यह विचार तरंग मेरे मस्तिष्क में टकराई कि मैं एक वेश्या माता और खूनी पिता की लड़की हूं, तो कुछ ही क्षण बाद मेरी समस्त आनन्दानुभूति फिर से एक मृत्युमयी छाया से म्लान हो गई। प्रायः पांच वर्षों से यह भावना निरंतर प्रतिपल मेरे जान में या अनजान में एक ऐसे भयंकर भूत की तरह मेरे मन पर सवार रहती थी जो किसी भी हालत में मुझे छोड़ना नहीं चाहता था। जब तक मेरा सचेत मन इसे भूला रहता था (जैसा कि मैं पहले कह चुकी हूं, मेरी अन्तश्चेतना उसे एक क्षण के लिए भी नहीं भूल पाती थी) तब तक फिर भी गनीमत थी, पर ज्यों ही वह किसी बहाने से चोरी छिपे मेरे मन की ऊपर सतह पर आ पहुंचती, त्योंही मेरा सारा व्यक्तित्व एक भीषण भूकम्प के से आन्दोलन से अस्त-व्यस्त हो उठता था, और मेरे मन में तत्काल यह राक्षसी इच्छा जाग उठती थी कि किसी को काट खाऊं। इस बार भी यही हाल हुआ। जिस ऊंचे विचार लोक में अपने को कुछ समय के लिए ले जाने में समर्थ हुई थी। पूर्वोक्त भूत-भावना के जगते ही मैं वहां से गिर कर बहुत नीचे एक ऐसे गड्ढे में जा गिरी जहां शैतान का अखण्ड अड्डा था।[1]" इस प्रकार धीरे-धीरे निरंजना में एक भयंकर हीनता का भाव जन्म ले लेता है, जो उसमें प्रतिहिंसा उत्पन्न कर देता है, और वही प्रतिहिंसा शीला की हत्या, और इन्द्रमोहन की आत्महत्या का कारण बनता है।

निरंजना में कदाचित् वेश्या कन्या होने के कारण ही विचित्र संस्कार है, और वह एक दो नहीं एक साथ कई व्यक्तियों से प्रेम सम्बन्ध स्थापित करने की हार्दिक लालसा रखती है। किन्तु इन्द्रमोहन को वह प्रमुख रूप से अपनी ओर आकर्षित करती है। एक तो उसके मन में इन्द्रमोहन के पिता मनमोहन जी को जलाने और नीचा दिखाने की भी इच्छा वर्तमान है, दूसरे वह स्वयं स्वीकार करती है कि पुरुषों को रिझाने और जलाने में उसे आनन्द (कदाचित् अपने वेश्या संस्कारों के कारण।) प्राप्त होता है। उसकी चेतना शक्ति में इन्द्रमोहन के प्रति तीव्र व्यंग्य और घृणा की भावना व्याप्त रहती है पर उसका अवचेतन मन इसके ठीक विपरीत रहता है। वहां इन्द्रमोहन के प्रति घृणा या व्यंग कुछ भी नहीं होता, वहां इन्द्रमोहन को रिझाने की प्रवृत्ति होती है, अपनी ओर आकर्षित करने की भावना होती है। वास्तव में उसके चरित्र में अन्तर्निहित एक विध्वंसकारी प्रवृत्ति है जो पुरुष को अपनी ओर आकर्षित

१. इलाचन्द्र जोशी : पर्दे की रानी : (१९४१), इलाहाबाद, पृष्ठ १७२।

अपमानित करने को तत्पर हो जाती थीं। इससे उन भारतीय परम्पराओं को जबर्दस्त आघात पहुँचा, जिसके अनुसार नारियों के लिए परिवार का बड़ा महत्व होता था। इससे एक अन्य हानि यह हुई कि वही गन्दी भावना आगे की आने वाली नई पीढ़ी के लिए मार्ग दिखाती गई। हिन्दी उपन्यासों में इस प्रकार की नायिकाओं की कुछ कल्पनाएं की गई जिनमें यशपाल के उपन्यास "दादा कामरेड" (१९४१) की नायिका शैलबाला प्रमुख है, जो सेक्स को ही अपना जीवन समझती है।

शैलबाला एक पूंजीपति लाला ध्यानचन्द की पुत्री है और एम० ए० की छात्रा है। वह क्रान्तिकारी हरीश से सहानुभूति रखती है, स्वच्छन्द विचारों की है। और "एडवान्स" इतनी कि यशोदा के घर में कुर्सी न होने पर हरीश की कुर्सी की बाँह पर बैठने के प्रयत्न में फिसल कर हरीश की गोद में जा पहुँचती है।

शैला कुछ इस तरह से रहती है कि जैसे उसकी मनःस्थिति पर दुख के भयावने बादल आच्छादित हों। पर दुख प्रकट करने से होता भी क्या है? लोग सुख तो बाँट लेते हैं पर दुख बाँटने को कोई तत्पर नहीं होता। शैला इसीलिए हमेशा बाहर से प्रसन्नचित्त रहने की कोशिश करती है। पर इसके कारण उसके स्वभाव में अजब सी बेपरवाही और व्यवहार में असाधारणता सी आ जाती है? शैला के जीवन में प्रेम ही प्रेम है। वह प्रेम को ही जीवन मानती है। "...मेरे तो होश संभालने के दिन से ही मेरे जीवन में प्रेम रहा है। और शायद जीवन रहते उससे छुटकारा भी न होगा। जब छोटी थी, अपने सामर्थ्य के अनुसार प्रेम करती थी। समझ आने पर प्रेम का क्षेत्र भी बढ़ा। अर्थात् प्रेम को अधिक देने और उससे अधिक पाने की इच्छा होने लगी। जब वह पूरी नहीं हो पाती, निराशा और क्लेश होने लगता है।...[१]"

शैला अपनी इसी इच्छा की पूर्ति के लिए बराबर तत्पर रहती है। पर उसका दर्शन खोखला है। प्रेम में जब प्राप्य की इच्छा होती है तो वह स्वार्थ बन जाता है। प्रेम में होती है पवित्रता और उसके साथ ही होता है परस्पर विश्वास। पर जहाँ प्रेम में वासना या शारीरिक सम्बन्ध की इच्छा आ जाती है, वहीं प्रेम नीचे गिर जाता है। शैला भी एक के बाद एक प्रेम करती है और सबके साथ शारीरिक सम्बन्ध भी स्थापित करती है। उसका पहला सम्बन्ध अपनी सहेली के भाई से होता है जो शारीरिक सम्बन्ध स्थापित होने के पश्चात् भाग चलने को कहता है, पर पिता जी का "मोह" शैला को ऐसा न करने के लिये विवश कर देता है फिर वह उसे एक दवाई देता है जिससे कोई अनिष्ट न हो। इस प्रकार महेन्द्र और फिर खन्ना से वह प्रेम करती है। खन्ना के सम्पर्क में आने पर तो उसका जीवन ही "खन्नामय" हो जाता है। शैला जो कुछ भी करती है वह समाज के अधिकांश लोगों को मान्य नहीं है। इतनी स्वच्छन्दता, नारी की इतनी "असाधारणता" समाज ने

---

१. यशपाल : दादा कामरेड, (१९४१), लखनऊ, पृ० ३५।

कभी नहीं सहन किया है। शैला को इसीलिये समाज से शिकायत है···"जीवन के सब मार्ग समाज में बन्द पाकर मुझे सबसे अधिक खिजलाहट समाज के प्रति होती है···।"[1]

शैला विवाह क्यों नहीं करती है, इसके स्पष्ट कारण हैं। यशपाल भले ही खुलकर न कह पाए हों, पर यह सच है कि शैला उन लड़कियों में से है जो अपनी वासना की तृप्ति के लिए विवाह जैसी चीजों से घृणा करती हैं। वह जीवन में रोज नई ताज़गी चाहती है और विवाह कर एक सीमित दायरे में रहना पसन्द नहीं करती। हरीश के साथ एक विवाद में शैला कहती भी है, "संतान और वंश की रक्षा के इलावा और भी बहुत कुछ जीवन में है[2]—" और वह "बहुत कुछ" जीवन में क्या है? सिर्फ नये व्यक्तियों से रोज के सम्पर्क और उनके साथ शारीरिक सम्बन्ध, यह शैला के कृत्य स्वयं ही सिद्ध कर देते हैं। इस उपन्यास में यशपाल ने फ्रायड के तथाकथित यौनवाद का अत्यन्त विकृत रूप उपस्थित किया है। जहां कभी हरीश और शैला से हमें सहानुभूति सी होती है, उनके क्रान्तिकारी विचार हमें उत्तेजित भी करते हैं, वही दूसरी ओर उनसे हमें घृणा सी होने लगती है। यशपाल की शायद धारणा है कि क्रान्तिकारियों के जीवन में भी नारी का आकर्षण होना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना तो जीवन की पूर्णता हो ही नहीं सकती। नारी का यह आकर्षण हानिप्रद नहीं होता, किसी की प्रगति कुंठित नहीं करता, किसी के विकास का मार्ग अवरुद्ध नहीं करता। क्योंकि "यदि पुरुष के जीवन—विकास में स्त्री का आकर्षण विनाशकारी हो तो प्रकृति यह आकर्षण पैदा ही क्यों करती? जिन वस्तुओं से मनुष्य के जीवन को भय है, उनसे वह डरता है, दूर भागता है। परन्तु पुरुष स्त्री की ओर दौड़ता है, मानों उसके जीवन में कोई कमी है, जिसे वह पूर्ण करना चाहता है।"[3] यही कारण है कि यशपाल के विचारों को उपन्यास के माध्यम से प्रकट करने वाला (?) हरीश भी कदाचित् अपने क्रान्तिकारी जीवन में इसी कमी को महसूस करता है और उसकी यह धारणा बराबर बनी रहती है, मैं कुछ भी न करूंगा, मैं केवल जानना चाहता हूं स्त्री कितनी सुन्दर होती है। मैं

---

१. यशपाल : दादा कामरेड, (१६४१), लखनऊ, पृ० ६४।

२. वही, पृ० ३०।

३. यशपाल : दादा कामरेड (१६४१), लखनऊ, पृष्ठ १५५।

यद्यपि यह जीवन दर्शन का अनोखा तर्क शैला की निर्दोषिता प्रमाणित करने के लिए ही अभिव्यक्त किया गया है, पर अधिक गहराई से जांच करने पर इस तर्क का खोखलापन स्वतः सिद्ध हो जायगा। मानव नारी की ओर इसलिए भागता है, कि वह अपनी अशांति, व्यस्तता से घबरा कर मातृत्व की जिस छांव में विश्राम चाहता है, उसका विराट् रूप नारी में प्राप्त करता है, न कि सेक्स भावना से प्रभावित होकर।

स्त्री के आकर्षण को पूर्ण रूप से अनुभव करना चाहता हूँ और अपनी इसी इच्छा की पूर्ति के लिए वह शैला से नग्न होने का निवेदन करता है। शैला अपनी सारी "प्रगतिशीलता" के बल पर हरीश की इस इच्छा की पूर्ति करती है क्योंकि "मृत्यु के मुख में फंसा हुआ यह लड़का जो बात कहता है, उसकी उपेक्षा कैसे की जाय ?"

निःसंदेह ऐसे प्रसंगों ने न जाने कितने प्रगतिशील पाठकों को उत्तेजित किया होगा और शैला जैसी स्वच्छन्द "त्यागशील", "ममतामयी", और अपने प्रेमी के लिए कुछ भी कर सकने वाली लड़की की तलाश में अपना सर फोड़ लिया होगा। यशपाल की कल्पनाओं का समाज सचमुच बहुत प्रगतिशील रहा होगा जहाँ पुरुष किसी नारी से नग्न होने को कहेगा और नारी उसकी विवशताओं का ध्यान रखते हुए उसकी इच्छा की पूर्ति करेगी। उनके समाज में ऐसा निरन्तर होगा, क्योंकि काम वासना की भावना तो प्राकृतिक है और प्रत्येक मनुष्य भी किन्हीं न किन्हीं विवशताओं में फंसा रहता है, फिर प्रेमी की किसी इच्छा को कैसे ठुकराया जाय, प्रेम कलंकित न हो जायगा ? और फिर नारी पुरुष की इच्छाओं को ठुकरा भी कैसे सकती है ? यशपाल की कल्पनाओं की नारी की सुन्दरता नारी के पूर्ण नग्न होने पर ही दृष्टिगोचर हो सकती है। उनकी दृष्टि नारी के गोरी मांसल बाहों और उसके नग्न होने तक ही सीमित रह गई। नारी की आन्तरिक भावनाओं, उसके त्याग, ममत्व, एवं पवित्र स्नेह की ओर गई ही नहीं और जा भी कैसे सकती है ? यशपाल प्रगतिशील लेखक है, और नारी में त्याग, ममत्व, स्नेह तो रूढ़िवादी परम्पराओं के प्रतीक है (?) प्रगतिशील कहाँ हैं ? प्रगतिशील नारी का रूप तो बस शैला ही है।

पूरे उपन्यास में शैला का चरित्र इस प्रकार का है, उसका आचरण इस प्रकार का है, उसकी व्यवहार प्रक्रियायें इस प्रकार की हैं जो पाठकों की चरम उत्तेजना का कारण बनती है। उसमें सब कुछ सेक्स ही है। राबर्ट के प्रसंग में जाने ऐसे कितने स्थल आए हैं जिसमें शैला का व्यवहार भले ही यशपाल के लिए प्रगतिशील हो पर भारतीय समाज के लिए वह अवश्य ही अशोभनीय है। यहाँ यह कहने का तात्पर्य बिल्कुल नहीं है कि मैं रूढ़िवादी हूँ। नारी की स्वतन्त्रता का सभी स्वागत करते हैं, पर ऐसी भी स्वतन्त्रता किस काम की, कि वह नारी को उच्छृंखल बना दे। और इस पर आवरण डालने के लिए उसने आधार बनाया हैं सार्वजनिक जीवन को। यह स्पष्ट है कि यदि हरीश का आकर्षण न होता तो सार्वजनिक जीवन को हाथ न लगाती। नैनसी ठीक ही सोचती है, "इसका सम्पूर्ण सार्वजनिक कार्य केवल उच्छृंलता का बहाना है। हरीश पर डोरे डालने के लिए हमारी कोठी को अड्डा बना लिया है...[1]" वही शैला जो पहली बार महेन्द्र से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने के बावजूद भी महेन्द्र के साथ सिर्फ इसलिए नहीं भाग जाती कि उसकी राह में पिता का मोह, उनका स्नेह आ जाता है। उस समय शैला की मनः स्थिति स्पष्ट न थी,

१. यशपाल : दादा कामरेड, (१९४१), लखनऊ, पृ० १६८।

अपने भावी जीवन की एक स्पष्ट तस्वीर उसके सम्मुख न थी। पर जब उसने जिन्दगी देखी, नित नए अनुभव प्राप्त किए तो पिता का सारा स्नेह, सारा मोह जाने कहाँ किस गहराई में डूब गया। आगे चल कर हड़ताल की झंझटों (या हरीश को बचाने की फिक्र?) के कारण उसे घर लौटने में प्रायः देर हो जाती थी। पिता को अपनी प्रतीक्षा में बैठे देख वह शरम से मर जाती, परन्तु बेबस थी। उसकी बेबसी क्या थी? हड़ताल की सफलता? या देश की चिन्ता? सत्य तो यह है कि हरीश से मिलने की उत्सुकता, उसको बचाने के लिए प्रयत्न की गतिशीलता ही उसकी बेबसी थी। और पिता को जब इस बेबसी का कोई ख्याल न हुआ, तो वह घर छोड़ने पर, पिता की कौड़ी पाई तक न लेने का निश्चय कर लेती है। कभी सुनने में आया था, नारी मनुष्य के विकास की प्रेरणास्रोत होती है। पर इस उपन्यास में वह नहीं है, इस मान्यता को झूठा करार दिया गया है। शैला द्वारा हरीश को महती कार्यों, देश की स्वाधीनता की प्राप्ति में योगदान देने की प्रेरणा देने का ढंग भी निराला है। हरीश शैला के घर में पनाह माँगता है। वह शैला के साथ ही चारपाई पर लेट जाता है। उसकी चेष्टाएं सीमा को लांघने लगीं। शैला का शरीर सिहर उठता है। परन्तु प्रत्येक सिहरन से वह हरीश के और भी समीप हो जाने का यत्न कर उसे आलिंगन में और भी अधिक बल से जकड़ लेती। उसे भय था कि हरीश का भटका हुआ मस्तिष्क कहीं फिर उन चिन्ताओं में न फंस जाय।"[1] समझ में नहीं आता, क्या मनुष्य को गहन चिन्ताओं से विमुख करने के लिए सेक्स की ही आवश्यकता होती है? और वह भी देश को स्वाधीन बनाने की चिन्ता? तब तो देश के सभी राजनीतिक नेताओं के व्यक्तिगत जीवन की हमें फिर अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षा करनी होगी, और यशपाल की मान्यताओं के आधार पर यह प्रतिपादित करना होगा कि विश्व में राजनीतिक नेता जो इतना चीखा-चिल्लाया करते हैं। इस कैम्प से उस कैम्प तक, इस स्कूल से उस स्कूल तक, इस सीमा से उस सीमा तक जो तनातनी का वातावरण उत्पन्न हो गया है। शीत युद्ध (Cold War) की संभावनाएं ज़रा-ज़रा सी बातों पर उत्पन्न होती हैं, उन सबके निराकरण का एकमात्र उपाय है, कि विश्व के सभी राजनीतिक नेताओं के लिए उस देश की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी की व्यवस्था कर दी जाए, (तब Beauty Competitions का महत्व बढ़ जायगा) जिससे कि अनर्गल प्रलापों की ओर उनका ध्यान ही न जाए और वे अपने-अपने "देश की चिन्ता" से भी मुक्त हो जायं।

यों प्रेम और कर्त्तव्य में कर्त्तव्य को ही विजय मिलती आई है। पर शैला के सम्मुख अनोखी ही समस्या थी। "एक ओर हरीश के प्रति उसका प्रेम, उसकी वफ़ादारी उसे खींचती, दूसरी ओर पिता के प्रति कर्त्तव्य।" और अन्त में प्रगतिशील शैला का प्रेम जीत जाता है, कर्त्तव्य ओछा पड़ जाता है। क्योंकि जीवन की शृंखला

१. यशपाल : दादा कामरेड (१६४१), लखनऊ, पृ० १७०।

को तो जारी रहना है। पीछे की ओर फिर-फिर कर देखने से ही काम नहीं चलेगा, उसके लिए आगे की ओर भी देखना होगा।" शैला को अविवाहित जीवन में ही गर्भ रह जाता है, पर शैला को इससे कोई दुःख नहीं है, क्योंकि "...मेरा मार्ग साधारण प्रथा के मार्ग से अलग रहा है।...जो कुछ भी मैंने किया, विचारों के भेद के कारण ही...मैं अपने किसी भी काम के लिए अपनी बुद्धि के सामने लज्जित नहीं हूं। मुझे पछतावा भी नहीं है।" शैला का पूर्ण जीवन इस प्रकार अतृप्त आकांक्षाओं, दमित-शमित भावनाओं का बलबलाता सैलाब, और वासना एवं हवस की कहानी है। इसीलिए वह अपने प्यार में सफल नहीं हो पाती। हरीश ने क्रांतिकारी जीवन छोड़ दिया था। वह समाज में रहकर सेवा करना चाहता था। गृहस्थ लोग क्या सेवा नहीं कर सकते? या नहीं करते हैं? फिर शैला ने हरीश के साथ अपना घर संसार बसाकर हरीश को क्यों नहीं उस प्रकार का जन-सेवक बनाने का प्रयत्न किया? इसका एक ही उत्तर है, शैला में इतना नैतिक बल ही नहीं था। उसमें भारतीय नारीत्व के वे गुण नहीं थे, जो हरीश को आदर्श दृढ़ता से परिपूर्ण व्यक्तित्व प्रदान करते। शैला की परिकल्पना में लेखक को पश्चिम के बढ़ते हुए आदर्श और वहाँ के प्रेम एवं सेक्स के समन्वय से बड़ी प्रेरणा प्राप्त हुई है, पर शैला के माध्यम से उसने समाज की अस्वस्थ मान्यताओं को बल दिया, तथा नारियों के समक्ष एक आदर्श उपस्थित करने के बजाय उन्हें गलत दिशा में ले जाने का प्रयत्न किया है।

प्रेम एवं आदर्श का संघर्ष

पीछे यह स्पष्ट किया जा चुका है, कि भारतीय नारियों में प्रेम की पवित्रता बड़ी महत्वपूर्ण चीज होती थी, और पश्चिमी सभ्यता के आने के पश्चात् भी अधिकांश नारियाँ प्रेम में एक आदर्श की स्थापना के लिए प्रयत्नशील होती थीं, और जब भी प्रेम एवं आदर्श में संघर्ष उपस्थित होता था, तो विजय आदर्श की ही होती थी। यहाँ तक कि क्रान्तिकारी कार्यों में भाग लेने वाली नारियाँ जेल में जाकर अपने प्रेमियों को विष तक दे आया करती थीं। जब भी कोई प्रेमिका अपने प्रेमी को आदर्श से नीचे गिरते देखती थी, सिद्धान्तों की हत्या करते देखती थी, तो वह उसे सुधारने की चेष्टा करती थी, यदि असफल रहती तो वह प्रेम सम्बन्ध तोड़ देती थी। ऐसी नायिकाओं में कमला (कमलिनी) तथा पूर्णिमा (स्वाधीनता के पथ पर) प्रमुख हैं।

जैनेन्द्र किशोर कृत १८९२ ई० में प्रकाशित उपन्यास "कमलिनी" की नायिका मदन-मोहन से आदर्श प्रेम करती है, और मदनमोहन के आग्रह पर भी विवाह के पूर्व वह शारीरिक सम्बन्ध नहीं स्थापित करती तथा मदनमोहन को आदर्श पथ पर चलने की प्रेरणा देती है। वह अन्त तक आदर्श पथ का अनुसरण करती है, तथा पतन के गर्त में नहीं गिरती। उसका चरित्र भी उपन्यासकार ने स्पष्ट नहीं किया है।

गुरुदत्त कृत "स्वाधीनता के पथ पर" (१९४२) की नायिका पूर्णिमा भी इसी प्रकार की नायिका है। पूर्णिमा ने इन्टर तक परीक्षा पास की थी। उसे संगीत और नृत्य के प्रति भी विशेष रुचि थी, और उसने नृत्य कला में काफी परिश्रम भी किया था। वह पढ़ाई छोड़ अपने भाई के साथ एक क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हो जाती है, और आतंकवादी कार्यों में भाग लेती है। यद्यपि उसका ख्याल है कि प्रत्येक हिन्दू कन्या को विवाह नहीं कर लेना चाहिये। पर विवाह को ही केन्द्र विन्दु मानकर मधुसूदन नामक ब्राह्मण युवक से प्रेम करती है। उसके चरित्र की यह दुरुहता उस समय और भी स्पष्ट होती है, जब वह कहती है—"मैंने जिस काम की शिक्षा प्राप्त की है उससे मेरा निर्वाह भली भाँति हो सकता है। घर-गृहस्थी के लिये न तो मैंने शिक्षा प्राप्त की है, और न ही मुझे उसमें रुचि है[1]।"

फिर प्रश्न सहज ही उठता है कि पूर्णिमा मधुसूधन को लेकर विवाह के सपने क्यों देखा करती थी? क्या केवल वासनात्मक दृष्टिकोण के लिये ही? या विवाह के पश्चात् केवल मित्र बनकर रहने के लिए? सारे उपन्यास में इसका कहीं उत्तर नहीं मिलता। वह हिन्दू नारियों की भाँति घर में बैठकर जीवन व्यतीत करना नहीं चाहती थी। वह नई रोशनी में पली थी और इसीलिए पुरुषों के साथ निःसंकोच घूमने बैठने या बात करने में उसे कुछ भी अजीब नहीं लगता था, बल्कि यह उसकी रुचि के अनुकूल भी था। क्योंकि वह अपने आपको उचित ही स्वतन्त्र और प्रगतिशील समझती थी, जितना कि कोई यूरोपियन महिला। लेकिन इन परिस्थितियों में भी वह अपने चरित्र पर किसी भी प्रकार का कलंक न लगने देना चाहती थी। वह अपने को भ्रष्ट नहीं होने देना चाहती थी, और अपने सतीत्व पर दृढ़ थी।

जब जाति-पांति के बन्धन और मधुसूदन के पिता की धर्मान्धता के कारण पूर्णिमा को विवाह की कोई आशा न दिखाई दी, तो वह पूर्ण रूप से निराश हो जाती है उसे अपनी परिस्थितियों पर रोना आता है, उसकी आत्मपीड़ा, व्यथा उसके मनोभावों को परिवर्तित कर देते हैं। पहले वह आतंकवाद में गहन आस्था रखती थी, किन्तु बाद में वह गाँधीवाद में विश्वास करने लगती है। उसे इन विप्लवकारी कार्यों से घृणा हो जाती है और वह अहिंसावाद को अपना लेती है। वह कांग्रेस की सदस्या बन जाती है और थोड़े ही दिनों में एक सफल नेता भी बन जाती है। जलसों में उसे आमन्त्रित किया जाता, जुलूसों में वह आगे रहती। उसे हिंसात्मक प्रवृत्तियों से इतनी घृणा हो जाती है कि एक जुलूस में जब उसके पुराने दल का एक सदस्य कमल पुलिस इंसपेक्टर को गोली मारता है, तो वह धक्का देकर बचा लेती है, और खुद उस गोली का शिकार हो जाती है। फिर भी वह उसे पकड़वाने को तैयार नहीं होती, क्योंकि, "......भूल सुधारने का मेरे पास एक ही उपाय है और वह है अपने पर कष्ट सहना। उन पर कष्ट न आने देना[2]।"

---

१. गुरुदत्त: स्वाधीनता के पथ पर: नई दिल्ली, पृष्ठ ४४।
२. वही. पृष्ठ ३२९।

अपने इसी अहिंसा व्रत के झोंके में वह मधुसूदन से विवाह करने में हिचकती है जो जेल से भागा हुआ है और पूर्णिमा की दृष्टि में जेल से भागना कायरता है, अच्छा नहीं है। अन्त में उसकी मृत्यु हो जाती है। पूर्णिमा की कल्पना में गुरुदत्त का उद्देश्य उन आगे आने वाली नारियों का चित्रण करना था, जो राजनीति में भाग लेकर देश को स्वाधीनता दिलाने के महान् व्रत में प्रयत्नशील थीं। लेखक का उद्देश्य नारियों के सम्मुख एक आदर्श रखने का था कि वे भी पूर्णिमा के समान राजनीति के क्षेत्र में आएं, अपने उत्तरदायित्व को पहचानें, तथा जी-जान से स्वाधीनता आन्दोलन को शक्ति प्रदान करें। जो नारियां क्रांतिकारी दलों में भाग लेती थीं, उन्हें अधिकांश रूप में पुरुषों के साथ काम करना पड़ता था। नारी और पुरुष के सहज आकर्षण के अनुरूप ही उनका किसी न किसी से प्रेम स्थापित हो जाता था, और फिर जीवन-पर्यन्त उनको विचित्र से संघर्ष के मध्य से होकर गुज़रना पड़ता था। पूर्णिमा भी इसी प्रकार की एक नारी थी और लेखक को इस दृष्टि से उसके चरित्र के प्रकाशन में यथेष्ट मात्रा में सफलता प्राप्त हुई है। पर जहाँ तक एक आदर्श का प्रश्न है और जिसे आधार मानकर लेखक ने पूर्णिमा के चरित्र की कल्पना की थी, उसमें आदर्श और प्रेम का संघर्ष प्रदर्शित करने में लेखक को कथानक के उलझाव के कारण सफलता नहीं प्राप्त हुई है।

स्वार्थ भावना से प्रेरित प्रेम

पुरुष स्वभाव से ही स्वार्थी होता है, और नारी उसकी स्वार्थ भावना को अपने आंचल में समेटती जाती है। पुरुष शिकारी की भाँति अपना जाल बिछाता जाता है, नारी उसमें छली जाती है। पुरुष प्रायः स्वार्थ भावना से प्रेरित होकर नारी से प्रेम करता है, और अपनी वासना की शाँति प्राप्त करने पर नारी को जन्म भर का दारुण दुख देकर किनारे हो जाता है, और अपने ऊपर प्रगाढ़ विश्वास रखने वाली नारी को दर-दर की ठोकरें खाने के लिए बाध्य कर देता है, जिससे वह बेचारी नारी दुनिया भर के लिये एक तमाशा बन जाती है। यदि नारी में दृढ़ संकल्प हुआ, गहन् विश्वास हुआ, और ऊपर उठने की प्रवृत्ति हुई, तब तो वह उस कठोर आघात को सहने के पश्चात् भी परिस्थितियों से ऊपर उठने का प्रयत्न करती है, और नये सिरे से अपने जीवन के निर्माण का प्रयत्न करती है। पर यदि उसमें इतनी शक्ति न हुई तब तो उसे आत्महत्या या वेश्यावृत्ति अपनाने के सिवाय कोई अन्य मार्ग नहीं रह जाता है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास "प्रेत और छाया" (१९४६) की नायिका मंजरी इसी प्रकार की नारी है जो पुरुष के स्वार्थ में छली जाती है।

मंजरी को अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् अपनी माँ का उत्तरदायित्व भी वहन करना पड़ता है। उसकी अपनी भी उत्कट अभिलाषा बी० एस० सी० पास करने की है। पर आय का कोई विशेष साधन न होने पर, अपनी माँ के भरण पोषण एवं दवा की व्यवस्था तथा स्वयं अपनी शिक्षा का क्रम बनाये रखने के लिये

उसे एक कुख्यात होटल में अपने रूप और यौवन का नग्न प्रदर्शन करना पड़ता है। यह उसकी विशेषता ही है, नहीं तो वह कालेज की छात्रा है, होटल में खाना नहीं खाती क्योंकि वहां गोश्त पकता है, पर वह न धार्मिक है, न कट्टर। स्वभावतः उसे मांस से अरुचि भर है[1]। पर परिस्थितियां में मंजरी के प्रतिकूल थीं। उसकी माता की मृत्यु हो जाती है। उस दुख के समय में पारसनाथ ने मंजरी की काफी सहायता की थी। और मां की मृत्यु के पश्चात् वह पारसनाथ के घर चली आई। और आने के बाद सारा संकोच छोड़ मंजरी स्वयं पारसनाथ की चारपाई पर लेट जाती है, उससे लिपट जाती है, उसी रात दोनों में पति-पत्नी सम्बन्ध स्थापित हो गया[2]।

उस रात के बाद मंजरी को अपने में विचित्र परिवर्तन का अनुभव होता है। उसे प्रतीत हुआ जैसे अभी तक वह अन्धियारे में गलत रास्ते पर भटक रही थी और अब ठीक रास्ते पर आ गई है, यही उसकी स्वाभाविक राह है। मृदुलता एवं सहनशीलता मंजरी में कूट-कूटकर भरी हुई है। पारसनाथ अक्सर बात-बात में मर्मान्तक बातें कह जाता है, जिससे मंजरी के अन्तस पर मार्मिक चोट पहुंचती है। पर उसके स्वभाव में कहीं भी कटुता नहीं आती। यह स्वभाव की मृदुलता उसकी परिस्थितियों के कारण ही नहीं है, वरन् उसकी अपनी स्वाभाविक जन्मजात गति है। मंजरी भावुक भी है, भूखी भी। उसमें विचारों की गहन शृंखला व्याप्त है। तीव्र तर्क-शक्ति है और उसका ज्ञान भी यथेष्ट है। उसमें आशा है, विश्वास है, निर्माण की लालसा है, विध्वंश की प्रवृत्ति नहीं। वह पारसनाथ से कहती है—"आपके साथ यहां आने पर मेरे मन में यह विश्वास हो चुका है कि नरक की जमीन पर ही स्वर्ग की स्थापना हो सकती है। नरक से घबराकर भाग निकलने से ही कोई यह समझे कि वह नारकीय भावनाओं से छुट्टी पा जावेगा, तो इससे बड़ी भूल जीवन में दूसरी नहीं हो सकती।"[3] वास्तव में अचेतन की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न बाह्य प्रवृत्तियां व्यक्ति के लिए सर्वथा अपरिचित रहती हैं। परिस्थितियों के अनुकूल होने से ही अचेतन प्रवृत्तियां सचेतन हो सकती हैं।[4] मंजरी में इसी अचेतन और सचेतन का परस्पर द्वन्द्व चलता रहता है।

---

१. इलाचन्द्र जोशी : प्रेत और छाया, (१९४६), इलाहाबाद, पृष्ठ ५४।

२. वही, पृष्ठ १४६।

३. इलाचन्द्र जोशी : प्रेत और छाया :, (१९४६), इलाहाबाद, पृष्ठ १६०।

४. "...always and everywhere the meaning of the symptoms is unknown to the sufferer......these symptoms are derived from unconscious mental processes, which can however, under various favourable conditions become conscious."

—फ्रायड : इन्ट्रोडक्टरी लेकचर्स ऑन साइको—एनालिसिस, (१९५२), लंदन, पृष्ठ २३५।

मंजरी का स्वभाव विचित्र है। उसकी मनःस्थिति के दो रूप हैं। एक तो वह इस हद तक शुष्क रहने वाली है कि घन्टों पत्थर की भाँति जड़ रहती है, दूसरी तरफ उसके हृदय की संवेदन शीलता इतनी गहरी है कि जरा-जरा सी बात के लिए वह आंसू बहाना शुरू कर देती है, और दूसरों को भी आँसू में डूबने के लिये बाध्य कर देती है। एक ओर तो वह बातें इस प्रकार की करेगी मानों वह पुरखिन हो, वर्षों का संचित अनुभव उसने प्राप्त किया है, पर दूसरी ओर हल्की परिस्थितियों में वह इस प्रकार रहेगी मानों कोई नन्हा-सा भोला अबोध शिशु। एक ओर जब वह चुप रहेगी तो बोलने का नाम ही नहीं लेगी, घण्टों शान्त रहेगी। पर जब बोलना शुरू करेगी तब उसकी वाग्धारा का अटूट प्रवाह रोके नहीं रुकता।

मंजरी में महत्वाकांक्षाएं भी हैं। पर उसमें सिर्फ भावनाएं ही नहीं, उन महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण रोकने की उत्कट लालसा भी है। बचपन से ही वह बी० एम० सी० पास कर डाक्टरी बनने के सपने देखती आई है, पर प्रत्येक बार अपनी परिस्थितियों से पराजित होती आई है। किन्तु इस सृष्टि में अपनी विषम परिस्थितियों से पराजित होना कोई नई बात नहीं है, ऐसा होता आया है, होता रहेगा। बहुत कम ऐसे लोग हैं जिनमें अपनी परिस्थितियों से उबरने की, अपने को बनाने की शक्ति है। मंजरी उन्हीं में से एक है। पारसनाथ नन्दिनी के साथ लखनऊ भाग जाता है। मंजरी की गोद में छोटा-सा बच्चा है, पर वह हिम्मत नहीं हारती, अपना धैर्य नहीं खोती। वह नारी—संस्कृति-निकेतन की संचालिका महोदय की सहायता से कलकत्ते के मैडिकल कालिज में प्रवेश पाने में सफल हो जाती है। वहाँ उसे दो मारवाड़ी सेठों की लड़कियों को एक-एक घण्टे पढ़ाने का ट्यूशन भी मिल जाता है। वहीं कालेज में उसकी जान-पहचान एक अधेड़ उम्र के प्रोफेसर राय से हो जाती है। अपनी लगन और तन्मयता से एक दिन मंजरी डाक्टरनी बन गई। राय महाशय ने विवाह का प्रस्ताव रखा, और मंजरी ने उसे स्वीकार कर लिया, दोनों का विवाह हो जाता है। इस प्रकार जो बीज बचपन से ही मंजरी के हृदय में अंकुरित हो पनप रहा था, इतनी विषम परिस्थितियों के पश्चात् पूर्णता प्राप्त करता है।

इलाचन्द्र जोशी ने अपने अन्य औपन्यासिक कृतियों की भाँति इस उपन्यास में भी मंजरी को ऐसी परिस्थितियों में रखा है जिनमें निरन्तर संघर्ष उत्पन्न होता रहता है चेतन और अचेतन मन की प्रक्रियाएं मंजरी के जीवन गतियों को संचालित करती रहती हैं। मंजरी की असफलता (प्रेम में) का मुख्य कारण पारसनाथ का दुर्बल चरित्र ही है। वह दुविधा में पड़ा व्यक्ति है। वह मंजरी को चाहता भी है, और उससे दूर भी भागता है। जिम्मेवारी शब्द से वह बेहद घबड़ाता है और यही कारण है कि वह मंजरी से विवाह नहीं करता और मंजरी के शिशु उत्पन्न होने पर वह प्रायः बाहर ही रहता है और अन्त में नन्दिनी के साथ लखनऊ भाग जाता है। इसके साथ ही मंजरी ने पारसनाथ को लेकर जो कामनाएं की थी, जो सपने पाल

रखे थे, सब टूट जाते हैं। उसका प्यार हार जाता है, वह असफल रहती है, पर तब भी वह हार नहीं मानती। उन विषम परिस्थितियों में भी अपनी भावी दिशा निश्चित करती है।

अन्त में जब अस्पताल में अचानक उसकी पारसनाथ से भेंट हो जाती है और पारसनाथ क्षमा याचना का भाव प्रदर्शित करता है तो मंजरी के अंतस का बलबलाता सैलाब फूट पड़ता है, उसके स्वभाव में कर्कशता आ जाती है और वह दृढ़ता से कहती है—"......तुम उसी सनातन पुरुष समाज के नवीन प्रतिनिधि हो जिसने युगों से नारी को छल से ठगकर, बल से दबा कर, विनय से बहलाकर और करुणा से गलाकर उसे हाड़-मांस की बनी निर्जीव पुतली का रूप देने में कोई बात उठा नहीं रखी है। पर याद रखो, विश्वव्यापी क्रान्ति के इस युग में आततायी और कामाचारी पुरुष जाति की सत्ता अब निश्चित रूप से मूलतः ढहने को है, और युगों से दलित नारी जाति आज तक अपनी छायात्मकता के भीतर भी शक्ति का जो महाबीज सुरक्षित रखे हुये थी, उसके विस्फोट को दबाने की समर्थता अब ब्रह्मा में भी नहीं रह गई है[1]।"

मंजरी में जो यह विद्रोही स्वर फूटता है, वह अचानक ही नहीं हुआ है। सीधी सादी मंजरी के चरित्र का यह महत्वपूर्ण परिवर्तन मनोवैज्ञानिक कारणों की आधार भूमि पर हुआ है। उसने अपने हृदय की निश्छलता, अपना सारा प्यार, अपनी सारी पवित्रता एक व्यक्ति को सौंप दी, पर उसने सदैव उसे प्रताड़ित किया उसे धोखा दिया, और अन्त में अपनी सारी दृढ़ता से मंजरी परिस्थितियों से ऊपर उठती है तथा अपूर्व आत्म विश्वास और आत्मिक बल का परिचय देती है। वास्तव में संसार का कर्मक्षेत्र केवल पुरुषों के लिये ही नहीं है, वरन् नारी का भी उसमें समानाधिकार है। पुरुष नारी के ऊपर अपना स्वत्वाधिकार समझता है, और उस पर अपना पूर्ण अनुशासन चाहता है, पर जैसे-जैसे पश्चिमी शिक्षा का प्रसार होने लगा और भारतीय नारियाँ पश्चिमी देशों की नारियों के सम्पर्क में आई, उनकी स्थिति तथा अधिकारों से परिचित हुई तो उन्हें यह अनुभव हुआ कि उनकी तुलना में अभी वे बहुत पीछे हैं। अपने विकास की दिशा में अभी उन्हें बहुत आगे जाना है। वे अपनी प्रगति के लिये तत्पर हो उठीं, और अपने पैरों पर खड़ी हो सकने का प्रयत्न करने लगीं। यही परिस्थितियाँ मंजरी की परिकल्पना का परिणाम थी। मंजरी जब तक अपने पाँवों पर नहीं खड़ी थी तब तक पुरुष उस पर नियन्त्रण चाहता था, उसे अपनी वासना और हवस का शिकार बनाना चाहता था क्योंकि वह पुरुष के आश्रय पर थी, उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व न था। किन्तु जब वह अपने पैरों पर खड़ी हुई, उसने अपनी एक जगह बना ली तो पुरुष उसके पाँवों पर गिरने तक को तैयार

१. इलाचन्द्र जोशी: प्रेत और छाया, (१९४६), इलाहाबाद, पृष्ठ २०८।

हो गया। यह नारी की बहुत बड़ी विजय थी। मंजरी की परिकल्पना में लेखक का उद्देश्य यह चित्रित करने का था कि अब नारियों को अधिक दिनों तक अन्धकार में नहीं रखा जा सकता, उसकी प्रगति की राहें कुंठित नहीं की जा सकतीं। वे केवल वासना एवं हवस की सामग्री मात्र ही नहीं हैं, वरन् कुछ और भी हैं, और समाज को उनके उस अस्तित्व को पहचानना ही होगा।

प्रेम में अनिश्चियात्मक स्थिति

कभी-कभी प्रेम में अनिश्चयात्मक स्थिति आ जाती है, जब कि एक ही नारी के जीवन में दो पुरुष आ जाते हैं। तब उसके सम्मुख एक समस्या उत्पन्न हो जाती है कि वह किससे प्रेम करें ? यह समस्या तब तो और भी विचित्र हो जाती है जब नारी जिस प्रकार के प्रेमी की कल्पना करती है, वह कुरूप होता है, और दूसरा पुरुष उन कल्पनाओं का साकार रूप तो नहीं होता, पर उसमें सौंदर्य प्रचुर मात्रा में होता है, और वह धनी होता है। ऐसी स्थिति में नारी का असमंजस में पड़ा मन कुछ विशेष निश्चय नहीं कर पाता, और प्रेम का एक त्रिकोणात्मक संघर्ष उत्पन्न होता है। तीनों का जीवन नष्ट होता है, इस प्रकार प्रेम का भयंकर दुष्परिणाम होता है। नीलिमा (निर्वासित), (१९४६) इसी प्रकार की नायिका है। वह अपनी प्रेमी में जिन गुणों की कल्पना किया करती थी, वे महीप में मिलते हैं, पर महीप दुर्भाग्य से नाटा है, और अधिक सुन्दर नहीं है, जबकि ठाकुर साहब उन गुणों से सम्पन्न तो थे, पर सुन्दर अवश्य थे, और जमींदार थे। नीलिमा के प्रेम की अनिश्चयात्मक स्थिति अन्त में तीनों का जीवन नष्ट कर देती है।

नीलिमा की परिकल्पना का स्रोत वह निम्न मध्यवर्गीय क्रान्ति थी जो सन् बयालिस के अगस्त आन्दोलन और द्वितीय महायुद्ध काल में हुई थी। इस उच्च तथा निम्न मध्यवर्गीय क्रान्ति ने जो सबसे बड़ा चमत्कार दिखाया, वह था नारी की मूल आत्मा की कायापलट। अगस्त आन्दोलन, युद्ध जनित प्रभाव, बंगाल का अकाल आदि कारणों से एक ऐसी रासायनिक प्रतिक्रिया मध्यवर्गीय भारतीय नारी की अंतरात्मा में हुई कि उसके भीतर युगों से दबी हुई प्रचन्ड प्रतिहिंसात्मिका शक्ति पूरे विस्फुर्जन के साथ जग उठी। वह माता, वधू, कन्या कुछ भी न रह कर सहसा रण-चन्डी भैरवी का खप्पर और त्रिशूल हाथ में लिए खड़ी हो गई : विश्व स्तब्ध विस्मय के साथ उसकी ओर ताकता रह गया, परिवारिक जीवन की स्नेह शृंखला से छिन्न नवयुवकों को एक नई रहस्यात्मक-प्रायः आध्यात्मिक—और रोमांचक प्रेरणा मिली, किसी भी शांतिवादी दार्शनिक में न तो इतना बल रह गया कि उस नवदुर्गा की प्रशंसा करे, न इतना साहस ही कि उसकी निन्दा करें।[1] नीलिमा का चरित्र भी इसी पृष्ठभूमि पर निर्मित हुआ है। वह पढ़ी लिखी सुशिक्षित युवती है, और कांग्रेस की स्वयंसेविका है। वह महीप नामक एक युवक कवि की कविताओं, विशेषतया

---

१. इलाचन्द्र जोशी : निर्वासित : (१९४६), इलाहाबाद, पृष्ठ २।

उसकी रोमांटिक कविताओं से अत्यन्त प्रभावित है। महीप का नाटा कद है, और उसका बाह्य रूप भी बहुत अधिक आकर्षक नहीं है। नीलिमा की मां उसका विवाह ठाकुर लक्ष्मी नारायण सिंह नामक एक धनी युवक से करना चाहती हैं, जबकि महीप स्वयं नीलिमा को अपनी पत्नी बनाने की लालसा रखता है। नीलिमा का चरित्र दो विपरीत तत्वों से निर्मित हुआ है। जिसके प्रति उसके मन में प्रेम की भावना है, उसका व्यक्तित्व उसे आकर्षक नहीं प्रतीत होता और जिसका व्यक्तित्व उसे आकर्षक प्रतीत होता है, उसके प्रति उसके मन में कोई प्रेम नहीं, अपितु दबी हुई घृणा ही है।

नीलिमा प्रारम्भ में चंचल है, तीव्र व्यंग कसने वाली है, तथा उसमें वाक् चातुर्य है। वह ठाकुर साहब और महीप दोनों को ऐसे भ्रम में रखती है कि दोनों अपने को उसके प्रेम का अधिकारी समझते हैं। उसका चरित्र इसीलिए रहस्यात्मक प्रतीत होता है कि वह स्वयं भी इस बात से आश्वस्त नहीं है कि वस्तुः वह महीप से प्रेम करती है, अथवा ठाकुर साहब से। अपनी इसी बहक में वह महीप के साथ कानपुर भाग जाने के लिए स्टेशन तक पहुंच जाती है, और पुलिस के हस्तक्षेप करने पर उसे अपना "हस्बेंड" तक मान लेती है। घर आने पर वह पुनः पश्चाताप करती है कि वह महीप के साथ स्टेशन क्यों गई। उसके चरित्र के इस विरोधाभास के कई कारण हैं। वह जीवन में पति के रूप में ऐसा व्यक्ति चाहती है, जो महीप के समान सुकुमार भावनाओं वाला हो, उसके पास कला हो, विनोद प्रियता हो, ख्याति हो, पर साथ ही उसका व्यक्तित्व महीप की तरह बकुआ न हो, वरन् ठाकुर साहब की तरह प्रबल आकर्षक हो। महीप अपने तज्जनित हीनभाव के कारण नीलिमा पर प्रभाव डाल सकने में असमर्थ रहता है, जो वस्तुतः उसे डालना चाहिए था, क्योंकि यह सत्य है कि ठाकुर साहब की तुलना में नीलिमा का प्यार महीप के लिए अधिक था। इसमें एक तीसरी परिस्थिति भी क्रियाशील रहती है। नीलिमा की मानसिक चेतना पर उसकी माँ बुरी तरह छाई रहती है, और वह अपनी माँ की इच्छा का तिरस्कार नहीं) करना चाहती है, उससे विद्रोह नहीं करना चाहती। वह जानती है कि माँ की हार्दिक इच्छा है कि वह ठाकुर साहब से विवाह कर ले। इसे वह स्वयं स्वीकार करती है, "मैं कैसी ही "प्रोग्रेसिव" क्यों न होऊं, पर मैं अपने भीतर इतना साहस नहीं पाती कि माँ की एकान्त इच्छा के विरुद्ध विद्रोह करूं। माँ के प्रति ममता स्वाभाविक हैं, पर मेरी माँ केवल माँ ही नहीं है, बल्कि हम लोगों के पिता के स्थान में भी वही हैं। सांसारिक तथा सामाजिक विषयों में उनकी दक्षता और अनुभवशीलता के फलस्वरूप हम लोगों ने कभी पिता जी के अभाव का अनुभव नहीं किया। ऐसी हालत में यह कैसे सम्भव है कि ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न पर उनका विरोध करूं।"[1] और वह वास्तव में अपनी माँ का प्रतिरोध कर सकने में अपने को असमर्थ

---

१. इलाचन्द्र जोशी : निर्वासितः (१९४६), इलाहाबाद, पृष्ठ १२४।

पाती है , पर महीप और ठाकुर साहब को लेकर उसके मन में घात-प्रतिघात चलता रहता है। भावना कहती है, महीप अच्छा है, मन कहता है, नहीं ठाकुर साहब अच्छे हैं। चेतना दोनों को परास्त कर कहती है, कोई अच्छा नहीं है, कोई बुरा नहीं है। किसी की अच्छाई बुराई से तुम्हें क्या लेना ? तुम वही करो जो तुम्हारी माँ कहती हैं। इस संघर्ष की चरम परिणति तब होती है, जब एक दिन चाय में माँ द्वारा चीनी अधिक डाल दिये जाने के कारण वह अपनी माँ से झगड़ पड़ती है, और उन्हें पहली बार अशोभनीय शब्द कह बैठती है। यही नहीं वह माँ से झगड़ कर घर से भाग भी जाती है, पर पुलिस पुनः उसे घर वापस ले आती है। अन्त में नीलिमा अपनी माँ की हार्दिक भावना के आगे परास्त होकर ठाकुर साहब से विवाह कर लेती है। पर ठाकुर साहब से उसकी निभ नहीं पाती और थोड़े ही दिनों पश्चात् उसे वहाँ से अपमानित होकर पुनः लौटना पड़ता है। महीप को यह ज्ञात होता है तो वह एक बार फिर प्रणय निवेदन के लिए जाता है, पर नीलिमा उसे अस्वीकार कर देती है। वस्तुतः नीलिमा अन्त में एकदम से टूट सी जाती है।

नीलिमा की असफलता का एकमात्र कारण उसकी अनिश्चयात्मक स्थिति ही थी। उसे अपने प्रेम में एक दृढ़ता स्थापित करनी चाहिए थी। संसार में कोई भी व्यक्ति जो कुछ भी चाहता है, वह सब का सब कहाँ पूर्ण हो पाता है। फिर यही क्या कम था कि नीलिमा अपने प्रेमी में जिन गुणों की कल्पनाएं किया करती थीं, वे संयोग से महीप में विद्यमान थी, फिर यदि दैवयोग से वह नाटा था, और अधिक सुन्दर नहीं था, तो इसका यह तात्पर्य तो नहीं था कि वह प्रेम करने योग्य ही न था ? नीलिमा के पतन की कहानी नारी पाठिकाओं के समक्ष एक उदाहरण उपस्थित करती है, और उनकी आँखें खोलने का महत्वपूर्ण कार्य करती है।

मूल्यांकन

इन सभी नायिकाओं के अध्ययन के पश्चात्, चाहे वे अपने प्रेम में सफल रही हो, या असफल, हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं, कि अधिकांश नायिकाओं में प्रेम की पवित्रता के प्रति विश्वास है, अपनी परम्पराओं, नारीगत मर्यादाओं में अगाध विश्वास है। पश्चिम में प्रेम का आदर्श यहाँ के आदर्श से पूर्णतया भिन्न है। वहाँ विश्वास है कि प्रेम और सेक्स दो अभिन्न बातें हैं। जहाँ प्रेम होगा, वहाँ सेक्स भी अनिवार्यतः होगा, और उस सेक्स की हत्या करना, प्रेम का नाश करना होता है। यद्यपि इस प्रश्न को लेकर पश्चिमी विद्वानों में काफी वादविवाद हुए हैं, पर यह

निश्चित है कि वहाँ प्रेम की आधारशिला सेक्स पर ही निर्मित की जाती है।[1] पर हमारे यहाँ स्थिति इसके विपरीत है। यहाँ प्रेम में सेक्स की प्रधानता नहीं होती है, और यदि प्रेम में सेक्स का भाव आ भी जाता है, तो भारतीय परम्पराएं उसे सहन नहीं कर सकतीं, उनका नियन्त्रण करने का प्रयत्न किया जाता है, शारीरिक सम्बन्ध विवाहोपरान्त ही मान्य है, उसके पूर्व इस प्रकार का सम्बन्ध सामाजिक दृष्टि से अवैध समझा जाता है। पर यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं बनी रही। हम जैसे-जैसे पश्चिम के सम्पर्क में आते गए, वहाँ की सभ्यता और संस्कृति ने हमें इतना प्रभावित किया, कि हम स्वयं अपनी ही गौरवशाली सभ्यता एवं संस्कृति भूल गए। प्रेम की एक नवीन शैली निर्मित हुई, जिसमें सेक्स अत्यधिक मात्रा में सम्मिलित हुआ। इस नए पन पर चित्रपटों का भी काफी प्रभाव पड़ा। भारतीय चित्रपटों की कहानियों का मूलाधार प्रेम ही होता है।[2] इन फिल्मों में प्रेम का एकमात्र उद्देश्य सेक्स ही होता है। चूंकि फिल्मों का भारत में प्रारम्भ से ही बड़ा प्रचार है, इस सेक्स प्रधान प्रेम ने भारतीय मनोवृत्ति को अत्यधिक मात्रा में प्रभावित किया। परिणाम स्वरूप धीरे-धीरे भारत में भी प्रेम और सेक्स दो अभिन्न बातें समझी जाने लगी, ठीक पश्चिम की भाँति, और समाज की नई पीढ़ी उस मोहाच्छन्न के प्रवाह में बह चली।

पर उपन्यासकारों का दायित्व सामाजिक निर्माण और नैतिकता के उत्थान का होता है। उनका यह प्रमुख कर्तव्य होता है कि वे ऐसे स्वस्थ पात्रों की कल्पना करें, जो पाठकों के सम्मुख आदर्श उपस्थित कर सकें, और वे उनको प्रेरणा के अन्यतम स्रोत के रूप में ग्रहण कर सकें। जैनेन्द्र, वृन्दावन लाल वर्मा तथा प्रेमचन्द

---

१. "By a common euphenism the word 'Love' is used to cover any manifestation of the sexual impulse. That, is, needless to say, incorrect. We must distinguish between lust, or the physiological sexual impulse, and love, or that impulse in association with other impulses...while love apparently becomes in its most deve'oped forms a completely altruistic impulse, it springs out of an egoistic impulse and even when it involves self sacrifice there is still an egoistic gratification. In developing into love, the sexual impulse, which at the outset is predominantly egoistic, becomes also consciously altruistic There are under normal and natural conditions, altruistic element, from the outset of its sexual development."
हैवलाक एसलिसः द साइकलॉजी ऑव सेक्स, (१६३३), लन्दन, पृष्ठ २७३-२७४।

२. युनेस्को द्वारा आयोजित फिल्म सेमिनार गोष्ठी (स्क्रीन, साप्ताहिक) बम्बई, अगस्त, २६ पृ० १।

ने ऐसी ही नायिकाओं की कल्पना की है, जो सामाजिक दृष्टि से पूर्णतया स्वस्थ हैं। मनोरमा, कट्टो, पूर्णिमा आदि ऐसी ही नायिकाएं हैं, जिन्होंने प्रेम में महान् आदर्श तथा त्याग की अनुपम भावनाएं प्रदर्शित की हैं। वे नारियों के सम्मुख एक ऐसी धारणा उपस्थित करती हैं, जिसके माध्यम से उनके स्वयं के जीवन निर्माण की प्रेरणा प्राप्त होती है, और जैसे उन्हें अन्धकार से प्रकाश की ओर जाने का मार्ग प्रशस्त करती हैं। कट्टो का त्याग, पूर्णिमा की देशभक्ति, तथा मनोरमा की श्रद्धा सभी कुछ नारियों में जीवन के प्रति मर्यादा उत्पन्न करने तथा परिस्थितियों से ऊपर उठने की प्रेरणा प्रदान करती हैं। इसके विपरीत जीवन के अस्वस्थ पक्ष को उभाड़ने वाली शैलबाला है, जिसके जीवन में सब कुछ बस सेक्स ही है। ऐसी नायिकाएं नारियों को गुमराह करने, उन्हें पथ-भ्रष्ट करने और पारिवारिक मर्यादाओं को छिन्न-भिन्न करने के लिये काफी हैं। वे समाज की दृष्टि से अशोभनीय कल्पनाएं तो हैं हीं, नैतिक उत्थान के मार्ग में बड़ी बाधाएं हैं। सौभाग्यवश हिन्दी के आलोच्य काल के उपन्यासकारों ने प्रथम कोटि की नायिकाओं का चित्रण ही अधिक किया है। मानव जीवन में नैतिकता के उत्थान एवं आदर्श के लिये वह आवश्यक भी था।

अध्याय ६

गृहस्थ नायिकाएं

भारतीय जीवन में गृहस्थ जीवन का महत्व

भारत में पारिवारिक जीवन का महत्व आदिकाल से ही अत्यधिक रहा है। विशेष रूप से नारियों के लिए तो परिवार का बड़ा ही महत्व होता है। उनके लिए स्वतन्त्र जीवन की तो पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। विवाह के पूर्व वे अपने माता-पिता के संरक्षण में रहती थीं, और विवाहोपरान्त पति के घर में वे इस आशा से भेजी जाती थीं, कि वहाँ जाकर वे अपनी नवीन गृहस्थी का संचालन करेंगी, और सबको सुख एवं संतोष प्रदान करने का प्रयत्न करेंगी। यहाँ तक कि भारतीय परम्परा में यह बात अनिवार्य समझी गई है कि हर लड़की को प्रारम्भ से ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए, जिससे कि वह अपने भविष्य के जीवन में सफल गृहिणी बन सके। सफल गृहिणी बनकर अपना परिवार संभालना, अपने पति को सुख संतोष प्रदान करना, और अपने बच्चों का भविष्य बनाना तथा संवारना हर लड़की अपना कर्तव्य समझती है, और सद्‌गृहिणी बनने का प्रयत्न करती है। वास्तव में नारी का अस्तित्व परिवार में ही बनता-बिगड़ता है, ऐसी धारणा अंग्रेजों के आगमन के पूर्व व्याप्त थी, और एक नारी के जीवन की सफलता उसके परिवार की सफलता से ही मापी जाती थी।

किन्तु यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं बनी रह सकी। अंग्रेजों के भारत आगमन के पश्चात् जैसे-जैसे हम पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति के सम्पर्क में आते गए, इस परिस्थिति में परिवर्तन होता गया। पाश्चात्य जीवन के बढ़ते हुए प्रभाव से हमारे अपने जीवन की विषमताएं बढ़ती गई, और दिन-प्रतिदिन अनेक कठिनाइयाँ हमारे सम्मुख उपस्थित होती गई। पश्चिमी प्रभाव ने सबको आकर्षित किया हो, ऐसी बात नहीं। अनेक लोग उसे घृणा एवं तिरस्कार की भावना से देखते रहे, और वह उन्हें कभी भी रुचिकर न प्रतीत हुआ। नारियों का एक वर्ग पश्चिमी प्रभाव से प्रभावित हो वहाँ की नारियों की ही भाँति स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना चाहता था, और पति की दासता न स्वीकार कर आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनना चाहता था, यह वर्ग पति को सहयोगी तो मानना चाहता था, पर पति का वह रूप उसे स्वीकृत

न था, जो शताब्दियों से भारतीय परम्पराओं में मान्यता प्राप्त करता आ रहा था। ये अपने अहं भाव के सम्मुख पति का अहं भाव नहीं सहन करना चाहती थी, और न उनकी तुलना में अपने को हेय अथवा पराजित होते ही देखना चाहती थीं। नारी यदि उग्र स्वभाव की हुई, तो रोज एक के दो अपने पति को सुनाती थी, जिससे अच्छा खासा पारिवारिक कलह उत्पन्न हो जाता था, जैसा कि अंचल के उपन्यास "चढ़ती धूप" (१६४५) की नायिका ममता ने किया था। पर इसके विपरीत यदि नारी शांत स्वभाव की एवं सहनशील प्रकृति की हुई, तो वह सारी बातें चुपचाप सहन करती जाती थी, और जब इसका चरमोत्कर्ष आ जाता था, तो या वह आत्मपीड़न में ही जीवन व्यतीत कर कल्याणी और मृणाल की तरह अपनी जान दे देती थीं, या जयन्ती की भांति आत्महत्या कर लेती थीं।

पिछले एक अध्याय में यह बताया जा चुका है, कि अंग्रेजों के भारत आगमन के पूर्व नारियों में शिक्षा की कोई विशेष व्यवस्था न थी, और न उनका बाहर निकलना ही खास होता था। पहले तो यह लोकोक्ति प्रसिद्ध थी, कि नारी घर से केवल दो बार निकलती थी—एक बार विवाह के समय डोलि पर बैठ पति के घर जाती थी, दूसरी बार मृत्यु के पश्चात् उसकी अर्थी निकलती थी। इसके अतिरिक्त नारियों को घर से बाहर निकलने की आवश्यकता ही नहीं समझी जाती थी। पर भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के पश्चात् जब इस स्थिति में परिवर्तन हुआ, और नारियों की शिक्षा की विशेष व्यवस्था हुई, तभी नारियाँ बाहर निकल समाज के अन्य वर्गों एवं व्यक्तियों से अपना सम्पर्क स्थापित करने लगीं। पुरुषों के विशेष सम्पर्क में आने का अवसर उनके सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में आने पर हुआ, और चूंकि नारी एवं पुरुष में स्वाभाविक आकर्षण होता है, नारियों का प्रेम सम्बन्ध भी स्थापित हो जाता था। किन्तु ये प्रेम प्रायः सफल नहीं होते थे, और नारियों का विवाह अन्य पुरुषों से हो जाता था, क्योंकि वे अपने माता-पिता के कठोर अनुशासन में रहती थीं, और तब समाज में आज जैसी स्वच्छंदता व्याप्त न थी। ऐसी अवस्था में गृहस्थ जीवन की सफलता संदिग्ध ही होती थी। कभी-कभी प्रेम सम्बन्ध की बात नहीं भी होती थी। पर विवाह सम्बन्धी स्वतन्त्रता न प्राप्त होने के कारण नारियों का विवाह प्रायः ऐसे व्यक्तियों से हो जाता था, जिससे उनके विचारों का सामंजस्य नहीं होता था। ऐसी अवस्था में भी वे प्रायः कम सफल गृहिणी बन पाती थीं।

हिन्दी उपन्यासों में इन दोनों प्रकार की नारियों-सफल गृहिणी, एवं असफल गृहिणी की खूब कल्पनाएं की गई हैं, और निम्नलिखित उपन्यासों में हमें ऐसी ही नायिकाएं प्राप्त होती हैं—

१. किशोरीलाल गोस्वामी : हृदयहारिणी (१८६०), त्रिवेणी, (१८८८), लवंगलता (१८६०), २. प्रेमचन्द : निर्मला, (१९२२-२३), गबन, (१९३०), ३. जयशंकर प्रसाद : तितली, (चैत्र सं० १९९१), ४. जैनेन्द्रकुमार : कल्याणी (१९३२), सुनीता (१९३६), त्यागपत्र (१९३७), ५. निराला : अलका (१९३३),

६. सियारामशरण गुप्त : नारी (सं० १६६४ वि०), ७. पांडेय बेचन शर्मा : "उग्र": जीजी जी (१६४३), ८. अंचल : चढ़ती धूप (१६४५), ६. अंचल : उल्का, (१६४७), १० श्रद्धाराम फिल्लोरी : भाग्यवती : (१८८७ ई०) ११. जयनारायण गुप्त : लक्ष्मी देवी (१६१४), काशी।

इन उपन्यासों की नायिकाओं के अध्ययन के पश्चात् हमें उनकी निम्नलिखित विशेषताएं प्राप्त होती हैं—

१. पातिव्रत धर्म का पालन
२. गृहस्थ जीवन में प्रेम का संघर्ष
३. अनमेल विवाह और पारिवारिक अशांति
४. विवाहित जीवन में पति की अपेक्षा प्रेमी को अधिक महत्व प्रदान करना
५. आभूषण प्रेम और गृहस्थ जीवन की असफलता।

पातिव्रत धर्म का पालन

हिन्दू नारियों के जीवन में पातिव्रत धर्म के पालन का अत्यधिक महत्व होता है। वे अपने पति को ईश्वर से कम नहीं समझतीं, और उन पर अपनी समस्त श्रद्धा एवं भक्ति के पुष्प अर्पित करती हैं। वे उनके लिए व्रत रखती हैं, उनके स्वास्थ्य, उनकी सफलता और लम्बी आयु के लिए ईश्वर से प्रार्थनाएं करती हैं। उनके जीवन में इस प्रकार से पति ही सब कुछ होता है, और उसी को लेकर वे अपना अस्तित्व मानती हैं। वे पति की प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता और पति के दुःख में अपना दुःख समझती हैं। उनके सामने सीता और सावित्री जैसी नारियों के महान् आदर्श हैं, जिससे वे प्रेरणा ग्रहण करती हैं, और अपने जीवन को उसी के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करती हैं। रजपूती नारियों के जौहर की कहानियाँ इसी सन्दर्भ में अमर हैं। अपने पति के अतिरिक्त किसी पर-पुरुष की छाया से भी वे बचना चाहती थीं, और ऐसी विषम परिस्थिति में, जब उनके पति युद्ध में पराजित होकर मारे जाते थे, अथवा उनके हारने की पूर्ण संभावना होती थी, वे वीर नारियाँ हंसते-हंसते अग्नि शिखाओं को आत्मसात कर लेती थीं। इसकी पृष्ठभूमि में उनके पातिव्रत धर्म की शक्तिशाली भावना क्रियाशील थी। यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि, प्राचीन काल से ही पातिव्रत धर्म के पालन के प्रति हिन्दू-नारियों का विशेष आग्रह रहा है। जब पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति का प्रभाव भारतीयों पर पड़ा, और नारी शिक्षा का प्रसार होने लगा, तब भी इस धारणा में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ, और नारियाँ इस दिशा में वैसे ही प्रवृत रहीं। यद्यपि आगे चलकर धीरे-धीरे यह भावना परिवर्तित होने लगी, पर तब भी उस धारणा को कुछ विशेष आघात नहीं पहुंचा। हिन्दी उपन्यासों में ऐसी अनेक नायिकाओं की कल्पना की गई है, जिन्होंने अपने पति के अस्तित्व के सम्मुख अपना अस्तित्व मिटा दिया, और जीवन पर्यन्त पति के सुख एवं संतोष के लिए ही सब कुछ करती रहीं। ऐसी नायिकायों के रूप में भाग्यवती (भाग्य-

वंती) त्रिवेणी (त्रिवेणी), लवंगलता (लवंगलता), कुसुमकुमारी, (हृदयहारिणी), लक्ष्मी (लक्ष्मी देवी), तितली (तितली), कल्याणी (कल्याणी), आदि में प्राप्त होते हैं।

श्रद्धाराम फिल्लौरी कृत 'भाग्यवती' की नायिका भाग्यवती वास्तविक अर्थों में आदर्श नारी है। पूर्व-प्रेमचन्द काल की सभी नायिकाओं में भाग्यवती का व्यक्तित्व जितना निखरा हुआ है और उसमें जितनी सबलता एवं आकर्षण है, उतना इस युग की किसी अन्य नायिका का नहीं। भाग्यवती हिन्दी की पहली कर्मठ व्यक्तित्व वाली आदर्श नायिका है। भाग्यवती के परिकल्पना के स्रोत के सम्बन्ध में स्वयं लेखक ने स्पष्ट करते हुए लिखा है, "बहुत दिनों से इच्छा थी कि कोई ऐसी पोथी हिन्दी भाषा में लिखूं कि जिसके पढ़ने से भारत खण्ड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो, क्योंकि यद्यपि कई स्त्रियाँ कुछ पढ़ी-लिखी तो होती हैं; परन्तु सदा अपने ही घर में बैठे रहने के कारण उनके देश-विदेश की बोलचाल और अन्य लोगों से बात व्यवहार की पूरी बुद्धि नहीं होती। और कई बार ऐसा भी देखने में आया कि जब कभी उनको विदेश में जाना पड़ा तो अपना गहना कपड़ा बरतन आदि पदार्थ खो बैठीं और घर में बैठीं भी किसी छली स्त्री-पुरुष के बहकाने से अपने हाथ से अपने घर का नाश कर लिया। फिर यह भी देखा जाता है कि बहुत स्त्रियाँ अपनी देवरानी, जेठानियों से आठों पहर लड़ाई रखतीं और सास-सुसरे और अपने भर्त्ता का निरादर करने लग जाती हैं। कई स्त्रियों को अपने घर के हानि लाभ की ओर कुछ ध्यान न होने के कारण घर का सारा ठाठ बिगाड़ लेतीं और कइयों के घरों को नौकर-चाकर लूट-लूट खाते और उनको संयम और यत्न से कुछ काम नहीं होता। कई स्त्रियां विपत काल में उदास होके अपनी लाज को बिगाड़ लेतीं और अयोग्य और अनुचित कार्यों से अपना पेट पालने लग जाती हैं। और कई विद्या से हीन होने के कारण सारी आयु चक्की और चरखा घुमाने में समाप्त कर लेती हैं। इस कारण मैंने यह ग्रंथ सुगम हिन्दी भाषा में लिख के इसका नाम "भाग्यवती" रखा। इस ग्रंथ में मैंने एक कल्पित कहानी ऐसी सरल रीति से लिखी है कि जिसके पढ़ने—हारे का मन समाप्ति पर पहुँचाये बिना तृप्त न होवे। और जो-जो व्यवहार उन पर गिने उन सबमें शिक्षा प्राप्त होती रहे।"[1] भूमिका में व्यक्त किए गए लेखक के इन विचारों से स्पष्ट है कि भाग्यवती की परिकल्पना का स्रोत भी लेखक का सुधारवादी दृष्टिकोण, आदर्शवादी मान्यताएं एवं समकालीन समाज में नारी की हेय एवं शोचनीय परिस्थितियां थीं। लेखक भाग्यवती के माध्यम से एक आदर्श स्थापित करना चाहता था और तत्कालीन नारी समाज को शिक्षा एवं नैतिक उपदेश देना चाहता था।

पर इसके बावजूद भी प्रशंसनीय बात यह है कि भाग्यवती का चरित्र कहीं भी कठपुतली नहीं बनने पाया है। उसके चरित्र चित्रण का जिस प्रकार स्वतन्त्र

१. श्रद्धाराम फिल्लौरी : भाग्यवती, (१८८७ ई०), काशी, भूमिका।

विकास हुआ है, वह इस युग के उपन्यास शिल्प की दृष्टि से भी एक अभूतपूर्व बात थी। भाग्यवती काशी नगरवासी पंडित उमादत्त जी की पुत्री थी। जब वह बड़ी हो जाती है और उसके विवाह का प्रश्न उठता है तो पंडित जी कहते हैं, "स्त्रियों को इस बात की बुद्धि नहीं कि छोटी अवस्था में पुत्र का विवाह करना श्रेष्ठ नहीं होता। सुनो, विवाह उस समय करना चाहिए कि जब बालक आप ही स्त्री का भूखा हो। जिसकी छोटी अवस्था में विवाह हो जाये उसका स्त्री में अत्यन्त प्रेम कभी नहीं होता।"[1] भाग्यवती बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि की थी। अपने भाई का विवाह हो जाने से उसकी भाभी घर का सारा काम संभाल लेती है और उसे पढ़ने का यथेष्ट अवसर मिलता है। उसने आत्म चिकित्सा के साथ ही कुछ साहित्य-शास्त्र पढ़ना भी प्रारम्भ किया। जिससे छन्द प्रवन्ध रचने की सामर्थ्य हो जाती हैं। थोड़े ही दिनों में उसे नायिका भेद और अलंकारों का ज्ञान हो गया तो कविता भी करने लग गई। भाग्यवती का विवाह मनोहरलाल से हो जाता है। लिखने-पढ़ने, सीने-पिरोने, व्यजन बनाने आदि सभी नारी के आदर्श गुणों में वह सम्पन्न थी और शीघ्र ही सुसराल में पास-पड़ोस वाली महिलाओं तक की वह श्रद्धा की पात्री बन जाती है। उसमें मितव्ययता की भावना है, गृहस्थ जीवन की पारिवारिक कुशलता है। पर धीरे-धीरे सुसराल में उसकी स्थिति बिगड़ जाती है और उसे अलग कर दिया जाता है। वह पति-परित्यक्ता नारी बन जाती है। उस समय उसके पास जल पीने के लिए भी कोई बर्तन नहीं था, केवल लोहे का एक तसला अपनी पड़ोसिन के यहाँ से माँग लाती है। वह सोचने लगी, "...चुपचाप बैठने से निर्वाह नहीं होगा, कुछ उद्यम और यत्न करना मनुष्य का धर्म है।"[2] वह अनेक प्रकार के कार्य और उद्यम करती है, जिससे उसका जीवन पुनः सुखी होता है। उसका परिवार पुनः साथ होता है और उसे एक पुत्री भी उत्पन्न होती है। भाग्यवती में, जैसा कि ऊपर ही स्पष्ट किया जा चुका है, कर्मठता है, क्रियाशीलता है। वह सदैव ही सक्रिय जीवन में विश्वास रखती है। जीवन की निष्क्रियता के प्रति उसकी अनास्था है। हिन्दी उपन्यास जगत की वह पहली ऐसी नायिका है, जो आर्थिक रूप से स्वावलम्बिनी बनने का प्रयत्न करती है। लगभग चालीस वर्षों के बाद जिस आर्थिक समस्या की ओर जैनेन्द्रकुमार तथा इलाचन्द्र जोशी आदि उपन्यासकारों ने चित्रण कर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया, उसकी यथार्थता श्रद्धाराम फिल्लौरी ने सन् १८७७ ई० (भाग्यवती लिखा सन् १८७७ में लिखा गया था पर प्रकाशित १८८७ ई० हुआ) में ही समझ लिया था। उन्होंने यद्यपि परोक्ष रूपसे इसे कहीं प्रचारवादी ढंग से उपन्यासमें प्रचारित नहीं किया है, पर भाग्यवती के चरित्र मे नारी की विवशता की वह मूल समस्या निहित है, जो उसकी आर्थिक परतन्त्रता से सम्बन्धित है और जिसके कारण भाग्यवती ही नहीं,

---

१. श्रद्धाराम फिल्लौरी : भाग्यवती, (१८८७ ई०), काशी, पृ० ६।
२. श्रद्धाराम फिल्लौरी : भाग्यवती, (१८८७ ई०), काशी, पृ० ५५।

समस्त नारी जाति का जीवन दुःखी एवं प्रताड़ित है। भाग्यवती के चरित्र से लेखक ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि नारियाँ यदि अपनी आर्थिक दासता की शृंखलाओं को विच्छिन्न करें, तो उनका जीवन सदैव ही सुखमय होगा। लेखक ने नारी की उच्च शिक्षा का भी समर्थन किया है। भाग्यवती के चरित्र में पूर्ण आधुनिकता होते हुए भी उच्छृंखलता नहीं है। उसके चरित्र का विकास पूर्णतया यथार्थवादी ढंग से हुआ है। यह इस युग के लिये एक अप्रत्याशित बात थी। उसमें सजीवता कूट-कूट कर भरी हुई है और लेखक के आदर्शवादी या सुधारवादी दृष्टिकोण के होते हुये भी उसमें कहीं भी कृत्रिमता या अस्वाभाविकता का समावेश नहीं हुआ है। उसका कर्मठ एवं सबल व्यक्तित्व एक ऐसे सन्धिस्थल पर खड़ा होता है जहाँ एक ओर सामन्ती रूढ़ियाँ विरोध में चूर-चूर हो जाती हैं, तो दूसरी ओर पहले से चली आती हुई रूढ़िग्रस्त एवं जर्जरित सामाजिक जीवन क्षयग्रस्त होकर मनोवांछित रूप में एक भिन्न तथा लोकोत्तर दिशा की ओर उन्मुख हो जाता है। सामंती ढाँचा उसके आदर्श के सम्मुख ठहर नहीं पाता, ध्वस्त हो जाता है। सामंती वातावरण से वह निःसंकोच कृषक जीवन एवं साधारणता की ओर प्रयाण करती है; इसमें उसे लज्जा, या खिन्नता का अनुभव होता है। अपनी रूढ़ि विमुखता क्रियाशीलता एवं विचार-बुद्धि के कारण वह अपने युग में तो अकेली नायिका है ही, प्रेमचन्द युग एवं प्रेमचन्दोत्तर युग की नायिकाओं में भी वह अपने ढंग की अकेली ही है। उसके चरित्र-प्रकाशन में लेखक को अपार सफलता इसलिये प्राप्त हुई है कि उसने अपने दृष्टिकोण को आदर्शवादी बनाए रखते हुये भी यथार्थवाद का दामन कहीं नहीं छोड़ा, जिससे भाग्यवती का चरित्र यथार्थवादी सृजन प्रक्रिया का श्रेष्ठ कलात्मक कौशल बन पड़ा है।

बाबू जयराम दास गुप्त कृत लक्ष्मीदेवी (१६१४) की नायिका लक्ष्मी भी इसी श्रेणी की नायिका है। वह काशी निवासी बाबू अयोध्या दास की पुत्री थी। श्यामा उसकी बहन थी। पिता की मृत्यु के उपरान्त सरकार ने दोनों के लिये व्यक्तिगत रूप से सौ-सौ रुपये की आर्थिक सहायता नियत कर दी जिसे लक्ष्मी अपनी बहन श्यामा के साथ इलाहाबाद के गर्ल्स स्कूल में डॉक्टरी पढ़ने के लिये आती है। लक्ष्मी आदर्श युवती थी, तीव्र कुशाग्र बुद्धि वाली थी। उसमें अध्ययन के प्रति विशेष रुचि थी. इसलिये वह अपना अध्ययन छोड़ कर मोतीलाल नामक युवक से विवाह कर लेती है। दोनों की प्रवृत्तियों में 'परस्पर' सामंजस्य नहीं हो पाता इसलिए उसका विवाहित जीवन भी सुखी नहीं रहता और सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। वह एक के बाद एक पति बदलती जाती है और अन्त में दर-दर भटकती है। पर इसके विपरीत लक्ष्मी अपना अध्ययन समाप्त कर 'योग्य, सरल और कार्यकुशल' डॉक्टर बनकर नारायण प्रसाद के साथ विवाह कर लेती है। उसमें सतीत्व के गुण हैं और वह मानव सेवा को अपना आदर्श बनाती है। हिन्दी उपन्यासों की वह पहली इतनी शिक्षित एवं डॉक्टर नायिका है। पर इसके बावजूद भी विस्मय होता है, लेखक

उसे पर्दे में रखना चाहता है। "पर्दे का यथार्थ मतलब तो यही है कि जहाँ तक सम्भव हो न तो सूरत दिखाई जाय और न आवाज सुनाई जाय और इसी प्रकार यथा सम्भव न पर पुरुष का मुख देखा जाय न शब्द सुना जाय।"[1] नारी के लिये यह कठोर मर्यादा है। आश्चर्य है उच्च शिक्षा का समर्थन करके भी लेखक ने इतनी रूढ़िवादिता प्रदर्शित की है।

किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास "त्रिवेणी", (१८८८) की नायिका त्रिवेणी प्रेमदास की तेरह वर्षीया पुत्री है। उसका विवाह मनोहर दास वैश्य से हो जाता है। पिता की मृत्यु के पश्चात् मनोहरदास अपनी पत्नी के साथ तीर्थयात्रा पर निकलता है। वे लोग पैदल और बाद में नाव से यात्रा करते हैं। उसका उद्देश्य काशी जाने को था, किन्तु मार्ग में बक्सर में ही नाव टूट जाने से सभी यात्री वह गए। मनोहरदास किसी प्रकार गाजीपुर पहुँच गया, और त्रिवेणी भी बच जाती है, पर पति से नहीं मिल पाती है। उसे इसका अत्यन्त शोक होता है, और वह बराबर दुःखी रहती है। वह पति के नाम की माला जपती है, और उसके अच्छे होने की प्रार्थना किया करती है। अन्त में कुम्भ के मेले के अवसर पर दोनों पुनः मिल जाते हैं। वस्तुतः इस उपन्यास में लेखक ने अपनी सुधारवादी वृत्तियों को ही अधिक प्रश्रय दिया है, और चरित्र चित्रण पर अधिक बल नहीं दिया है। इसीलिए त्रिवेणी का चरित्र अधिक नहीं निखर सका है।

गोस्वामी जी के दो अन्य उपन्यास "हृदयहारिणी" (१८९०) की नायिका कुसुमकुमारी तथा "लवंगलता" की नायिका लवंगलता भी इसी श्रेणी की नायिकाएं हैं। कुसुमकुमारी यवनों के हाथ पड़ जाती है, पर वह अपने सतीत्व की रक्षा कर सकने में सफल हो जाती है। इसी प्रकार लवंगलता अपने को सिराजुद्दौला के चंगुलों से बचाने में सफल होती है। कथानक में तिलिस्म और ऐयारी का भी काफी अंश है। कुसुमकुमारी और लवंगलता के रूप में लेखक ने हिन्दू समाज के सामने दो ऐसी वीरांगनाओं के उदाहरण रखे, जिन्होंने प्राणों की बाजी लगाकर अपने पतिव्रत और धर्म तथा जाति पर किए गए मुसलमानी अत्याचार का विरोध किया।[2] यदि लेखक इन दोनों उपन्यासों में मनोरंजक तत्वों एवं ऐयारी और तिलिस्म के अत्यधिक समावेश के अतिरिक्त कुसुमकुमारी और लवंगलता के चरित्र चित्रण पर बल देता, तो दोनों नायिकाएं और भी प्रभावशाली हो पातीं, और समाज की नारियों के सम्मुख जातीय गौरव एवं अपनी मर्यादाओं की रक्षा तथा पतिव्रत धर्म के पालन के अनुपम उदाहरण और भी शक्ति के साथ प्रस्तुत कर सकने में समर्थ होतीं।

---

१. जयराम दास गुप्त : लक्ष्मीदेवी, (१९१४), काशी, पृ० ६

२. डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय: आधुनिक हिन्दी साहित्य, (१९४८), इलाहाबाद पृष्ठ २०६।

जयशंकर प्रसाद के उपन्यास "तितली" (संवत् १६६१) की नायिका तितली भी इसी कोटि की नायिका है। तितली रामनाथ की पोषित पुत्री है। रामनाथ के ही समान उसके विचार आदर्शवादी ढंग के हैं और उसमें बौद्धिक चेतना आ गई थी। उसमें अदम्य साहस है, धैर्य है, और परिस्थितियों का सामना कर वातावरण से ऊपर उठने की शक्ति है। उसके विवाह के समय विरोध उत्पन्न होता है, पर तितली की दृढ़ता से उसके आत्मगौरव की रक्षा होती है। मधुबन कलकत्ते भाग जाता है तो तितली पर एक के पश्चात् एक दुःख आते जाते हैं, पर कभी वह अपना साहस नहीं खोती, संघर्ष कर परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने का वह प्रयास करती है। उसकी दृढ़ता और धीरज देखते ही बनता है। तितली में किसी प्रकार की विद्रोह भावना नहीं है। वह परम्पराओं में विश्वास रखने वाली नारी ही है। उसे परम्पराओं के प्रति विद्रोह का मोह नहीं है। मधुवन के आने की आशा लगभग धूमिल ही हो जाती है। उसके संबंध में अनेक कथाएं ग्राम में प्रचारित होती रहती हैं, जिससे तितली को गहरी आत्मव्यथा होती है, पर उसका विश्वास कभी नहीं टूटता। वह अपने पति का कभी अनिष्ट नहीं सोचती, उसके संबंध में कभी उन प्रचारित कथाओं पर विश्वास नहीं करती—"संसार भर उनको चोर, हत्यारा और डाकू कहे, किन्तु मैं जानती हूँ कि वह ऐसे नहीं हो सकते। इसीलिए मैं कभी उनसे घृणा नहीं कर सकती। मेरे जीवन का एक एक कोना उनके लिए, उस स्नेह के लिए संतुष्ट है। मैं जानती हूं कि वह दूसरी स्त्री को प्यार नहीं करते। कर भी नहीं सकते।"[1]

इस प्रकार गहन आत्मविश्वास की परिधि में तितली आगे बढ़ती है। वह स्वावलम्बी बनने का प्रयत्न करती है ताकि मधुवन की अनुपस्थिति में वह जी सके, परिस्थितियों के साथ चल सके। वह अपनी पूर्ण कर्त्तव्यपरायणता के साथ अपने पुत्र मोहन को पालती-पोसती है और उसे भी कर्त्तव्यशील बनाने का प्रयास करती है। उसके सामने प्रमुख समस्या रहती है—आर्थिक समस्या। मधुवन की अनुपस्थिति में आर्थिक संकटों को झेल सकने और मोहन को लेकर जीवन आगे बढ़ाने की समस्या उसके सम्मुख प्रमुख रूप से रहती है। यह समस्या उसकी एक नहीं, बल्कि सारे देश के नारी समाज के सम्मुख थी और है। तितली इससे पलायन नहीं करती बल्कि कुशल गृहिणी बन आत्मविश्वास और साहस से इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करती है। उसमें आत्मगौरव है, और उसकी रक्षा की उत्कट लालसा है। वह किसी के सम्मुख झुकती नहीं। उसमें दूसरों के प्रति स्नेह, उनके दुःख दर्दों के प्रति पूर्ण सहानुभूति है। उसमें तीव्र बौद्धिक चेतना है और अपने दुःख में किसी को जबर्दस्ती विवश कर सम्मिलित करना उसे अभिष्ट नहीं। वह स्वयं ही कहती है—"......मैंने यही समझा कि मुझे दूसरों के महत्व प्रदर्शन के सामने अपनी

---

१. जयशंकर प्रसाद : तितली, (संवत् १६६१), इलाहाबाद, पृष्ठ २५६।

लघुता न दिखानी चाहिए। मैं भाग्य के विधान से पीसी जा रही हूँ, फिर उसमें तुमको, तुम्हारे सुख से घसीट कर, क्यों अपने दुःख का दृश्य देखने के लिए बाध्य करूँ ? मुझे अपनी शक्तियों पर अवलम्ब करके भयानक संसार से लड़ना अच्छा लगा। जितनी सुविधा उसने दी है, उसी की सीमा में मैं लड़ूँगी, अपने अस्तित्व के लिए……।"[1]

तितली के यही गुण उसके व्यक्तित्व को इस भाँति श्रेष्ठ बनाते हैं कि उसके आकर्षण से प्रभावित हो शैला जैसी नारियाँ भी उससे आदर्श ग्रहण करने का प्रयत्न करती है। पर यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि तितली के चरित्र-चित्रण में प्रसाद की आदर्शवादिता ही अधिक झलकी है। प्रसाद ने तितली को निरन्तर उच्चता प्रदान करने और गौरव गरिमा से उसे अलंकृत करने का प्रयास किया है। उन्होंने उसके दुर्बल पक्षों की ओर एक प्रकार से बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया है, इसी कारण तितली से पूर्ण तादात्म्य भी नहीं स्थापित हो पाता। शैला और अन्य पात्र भले ही उससे आदर्श ग्रहण करते रहें, और वह हमारी भावना के क्षेत्र में भले ही अपने आकर्षण की चमक-दमक उत्पन्न करती रहे, पर उसकी स्वाभाविकता में अनेक कमियाँ रह गई हैं। तितली में केवल एक बार ही दुर्बलता दिखाई गई है, जब कि वह व्यंग-प्रताड़नाओं और आर्थिक संकटों को झेल सकने की कठिनाइयों से घबराकर आत्महत्या के लिए चल पड़ती है। इस एक घटना के अतिरिक्त कोई भी ऐसा महत्वपूर्ण स्थल नहीं आता जिससे तितली के चरित्र के दोनों पक्षों पर प्रकाश पड़ सके। तितली का चरित्र अधिकांश रूप में आदर्शवादिता के ताने-बाने में ही निर्मित किया गया है।

जैनेन्द्रकुमार के उपन्यास "कल्याणी" (१९३२) की नायिका कल्याणी भी इसी श्रेणी में रखी जा सकती है। कल्याणी व्यक्तिगत जीवन में अत्यन्त पतिव्रता, धर्मपरायणा एवं सद्विचारों वाली महिला हैं। वे सदैव स्वच्छंदता की गोद में पली थीं, और जीवन पर्यन्त उस स्वच्छन्दता को वे स्थायी बनाए रखना चाहती हैं। किन्तु अपनी स्वच्छन्दता को स्थायित्व प्रदान करने के लिए वे कभी अपने पति की उपेक्षा नहीं करतीं। इसके विपरीत उनके पति संकीर्ण विचारों वाले हैं। दोनों का वैवाहिक जीवन बिल्कुल ही सफल नहीं रह पाता। वहाँ बार-बार प्रश्न आर्थिक संघर्ष का उत्पन्न होता है। डा० असरानी यह तो चाहते हैं कि कल्याणी की प्रैक्टिस खूब चल निकले, यथेष्ट मात्रा में धनोपार्जन हो सके। वे केवल यहीं तक कल्याणी की स्वतन्त्रता चाहते हैं, इसके बाद प्रत्येक पग पर कल्याणी पर वह अपना अधिकार चाहते हैं। कल्याणी का नाम डा० भटनागर और रायसाहब के साथ जोड़ कर जब अनेक दोषारोपण कल्याणी पर किए जाते हैं, तो डा० असरानी असन्तुष्ट हो अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठते हैं और कल्याणी को चरित्रहीन

१. जयशंकर प्रसाद : तितली, (संवत् १९९१), इलाहाबाद, पृष्ठ २४१-२४२।

समझ बैठते हैं। वे कल्याणी को बुरी तरह पीटते हैं, पर वह इसे चुपचाप सहन कर जाती है। कल्याणी के पति चाहते हैं कि वह गृहिणी बने, पर यहीं एक समस्या उठ खड़ी होती है पारिवारिक आय की। बेचारी कल्याणी अपने पति की प्रसन्नता के लिए अपने निजत्व को मिटा देती है।

कल्याणी का वैवाहिक जीवन सफल न था। वह अपने इस जीवन से असंतुष्ट थी। उसमें जीवन को नये सिरे से प्रारम्भ करने की उत्कट लालसा है। पर उसमें कोई विद्रोह की प्रवृत्ति नहीं है। वह विवाह संस्था को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती थी। अपितु जीवन जिस रूप में भी था वह उसे ही संवार कर अपने अनुरूप बनाने का प्रयास करती थी, बल्कि अपने को उन परिस्थितियों में ढालने का भी प्रयास करती थी। असंतुष्टि में भी वह कोई राह खोज निकालना चाहती थी, नहीं तो उसका विचार था कि यदि ये पारिवारिक बन्धन न होते, उसकी गृहस्थी का भार उस पर न होता, तो वह किन्हीं भी परिस्थितियों में डाक्टरी न करती। वह चाहती थी कि अगर उसे नया जन्म पुनः मिले तो वह अपने को अस्वीकार करके न चले, फिर चाहे उसका कोई भी परिणाम हो। वह जीवन का आरम्भ जैसे नये सिरे से करना चाहती थी और प्रस्तुत जीवन को गलत शुरू हुआ समझकर मानों उसे यहीं खत्म हुआ देखना चाहती थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि वह कोई क्रान्ति नहीं चाहती थी, विवाह संस्था को तोड़-फोड़ विध्वंस नहीं चाहती थी पर वह अपने जीवन से पूर्णतया असंतुष्ट थी। वह मानसिक विक्षिप्तियों से दूर शान्ति चाहती थी। पारिवारिक उलझनों से दूर व्यवस्था चाहती थी। और पति व्यवहार की विच्छृंखलता से दूर पति प्रेम चाहती थी पर उसके जीवन में कहीं कुछ यह सब था नहीं और अपनी इस सारी व्यथा को वह चुपचाप सहन करती हुई उसी में घुलती जा रही थी, अपने को मिटाती जा रही थी। वह स्वयं ही कहती है, "मैं जानती हूं कि मैं अधिक काल नहीं जीऊंगी। ऐसा जीना कठिन है, व्यर्थ है।"[1]

धीरे-धीरे परिस्थितियों से विवश होती जा रही कल्याणी की स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है और वह अपने जीवन को दूसरी ही दिशा देती है। अब वह दिन में एक बार खाती है, चार बार स्नान करती है और कम-से-कम चार घंटे मन्दिर को देती है। वह भक्ति साधना में अपने को लय कर देना चाहती है। पति चाहते थे कि धनोपार्जन के अतिरिक्त कल्याणी स्वच्छन्दता की मांग न करे। सो कल्याणी अपने को पति इच्छा के अनुकूल ही नये सांचे में ढालने का प्रयास करती है। वह पतिधर्म का पालन करने और पति को प्रसन्न करने के लिये अपना निजत्व धीरे-धीरे मिटाती चलती है। पर अपने पति को किसी प्रकार अपमानित नहीं किया चाहती। वह कहती है "उनका मुझ पर बहुत आभार है। कृपापूर्वक उन्होंने मुझे स्वीकार किया है। मैंने कहा, मैं आपके मन की गृहलक्ष्मी बनकर स्वयं भी रहना

---

१. जैनेन्द्रकुमार—कल्याणी, (१९३२), बम्बई, पृ० २२।

चाहती हूं, पर वह तभी रह सकती हूँ जब डाक्टरनी न रहूँ। डाक्टर होकर अन्तःपुर की शोभा मुझसे बहुत न बढ़ेगी। उस हालत में हर किसी के सामने मुँह उघाड़े मिलना और बोलना होता है। यह आर्य नारी के योग्य नहीं है, यह मैं नहीं कहती हूँ। बल्कि उस आर्य परम्परा पर चलने की मैं अब इच्छा रखती हूँ······दोनों में से कोई एक चुनकर मुझे दे दो—पातिव्रत या डाक्टरी। मैं पति में परायण हो जाऊँ, या डाक्टरी की कमाई करके दूँ, दोनों साथ होना कठिन हैं। पैर दो नावों पर रहेंगे तो हालत डगमग रहेगी। और जो मेरे चुनने की बात हो तो मैं कहूँगी, डाक्टर मैं नहीं बनना चाहती।"[1]

शुरू की कल्याणी का इस कल्याणी में बदल जाने पर कदाचित आश्चर्य हो? वह कल्याणी जो सभा सोसायटी में जाती है, अपनी स्वतन्त्रता चाहती है, करती है और पूरे रूप में "मार्डन" है, उसका सहसा आर्य ललना बनने की बात करना, डाक्टरी छोड़ गृहस्थिन बनने की बात अविश्वास पूर्ण भी हो सकती है। पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। कल्याणी का यह भाव परिवर्तन शान्ति एवं व्यवस्था के प्रति उत्कट लालसा, पारिवारिक अतृप्ति एवं असन्तोष तथा पति सुख की मंगल कामना की प्रतिक्रिया स्वरूप ही उत्पन्न हुआ था। और जो परिस्थिति डा० असरानी ने कल्याणी के सामने प्रस्तुत कर दी थी, उसमें सिवाय इसके कि कल्याणी इसी मार्ग का अवलम्बन करे, उसके सम्मुख और चारा भी क्या था? बीच बाजार में डा० असरानी कल्याणी को जूते से मारते हैं क्योंकि वह एक सभा में निश्चित समय पर नहीं पहुंच पाती और डा० भटनागर की पत्नी को देखने चली जाती है। किन्तु इस अपमान को भी कल्याणी चुपचाप बिना किसी प्रतिरोध के पी जाती है। और वह पति परायण तब भी बनी रहना चाहती है।

बाद में पता चलता है कि प्रीमियर मित्र को विदेश में कल्याणी ने निराश किया था, जिसकी उसके मन पर गहरी प्रतिक्रिया हुई है। इसीलिए कल्याणी में इतना अन्तर्विरोध मिलता है। उसमें आदर्श और प्रवृत्ति का संघर्ष बराबर बना रहता है। एक ओर वह अपना निजत्व मिटा कर पति को संतुष्ट करना चाहती है, पातिवृत धर्म का पालन करना चाहती है। दूसरी ओर अतृप्ति और अवसाद भी उसे मथता रहता है। इन दो असंगतियों के बीच कल्याणी आगे बढ़ती है। भारतीय तपोवन की स्थापना कल्याणी का एक सपना है। इस स्वप्न को साकारता प्रदान करने के लिए वह अपने इष्टमित्रों के समक्ष हाथ फैलाती है, यहाँ तक कि प्रीमियर तक के समक्ष भी, पर सभी जगह उसे निराशा की प्राप्त होती है। इस वितृष्णा, कुंठा, अपमान और अतृप्ति के साथ कल्याणी अपने पातिव्रत धर्म का सामंजस्य स्थापित करना चाहती है—पूर्णतया अतुकान्त सी बात, और कल्याणी इसमें असफल ही रहती है। एक दिन वह खीझ कर कहती भी है—"तुम साफ-साफ कह क्यों नहीं

---

१. जैनेन्द्रकुमार—कल्याणी, (१९३२), बम्बई, पृ० ३९।

देते कि तुम क्या चाहते हो ? मुझे तिल-तिल कर बेचना चाहते हो—सो वह तो हो रहा है। आखिरी सांस तक मेरा बिक जायगा, तब भी मैं इंकार नहीं करूँगी।"[1]

कल्याणी के इस असन्तोष का एक अन्य मनोवैज्ञानिक पहलू भी है। वह क्यों एक असफल गृहिणी बनी, इसका कारण तो स्पष्ट है। डाक्टरी और गृहस्थी दोनों का सामंजस्य कल्याणी के लिए दुष्कर था। उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति कि डाक्टरी अलग चीज है, पातिव्रत्य अलग चीज है, पूर्णतया निराधार नहीं है। इन दो असंगतियों का समन्वय डा० असरानी चाहते थे, जबकि कल्याणी केवल गृहस्थी चाहती थी, पातिव्रत्य धर्म का पालन कर पति को संतुष्ट करना चाहती थी, और इसी परस्पर अन्तर्विरोध के कारण ही कल्याणी असफल गृहिणी बन कर रह जाती है। कल्याणी का अपने पति से उन्मन रहना मनोविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली में अचेतन अंह (Ego) और अचेतन (ID) के परस्पर घात प्रतिघात एवं अंत में अचेतन (ID) की विजय ही है। जैनेन्द्र की कथाकृतियों में इसी अचेतन अंह (Ego) और अचेतन (ID) का संघर्ष चलता रहता है। कभी ऐसी परिस्थिति आती है कि अचेतन अंह (Ego) विजयी परिलक्षित होता है। और कभी अचेतन (ID) की विजय का आभास होता है। प्रत्येक में घर (Ego) की बाहर (ID) के प्रति उत्कट लालसा है, आकांक्षा है, और परिस्थितियां प्रायः इस प्रकार की होती हैं, कि घर बाहर के प्रति आत्मसमर्पण के लिए विवश रहता है। और इसी आधार पर यह स्पष्ट है कि कल्याणी का पति से उन्मन रहना अचेतन (ID) की विजय ही है। अंत में कल्याणी की मृत्यु एक तीखा विषाद छोड़ जाती है।

कल्याणी की परिकल्पना तत्कालीन समाज में पति-पत्नी के मध्य परस्पर अन्तर्विरोध का परिणाम है। पश्चिमी शिक्षा के प्रसार से नारियों में अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाए रखने की प्रबल भावना जन्म ले रही थी, पर साथ ही वे अपनी परम्पराएं भी नहीं त्यागना चाहती थीं। ये दो परस्पर विरोधी बातें थीं क्योंकि भारतीय परम्परा में नारी पति के सम्मुख अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रख सकती, वह अपने पति की पूर्ण रूप से सहचरी होती थी, और भारतीय मनोवृत्ति इस प्रकार की निर्मित भी हो गई थी कि पुरुष नारी पर अपना पूर्ण अधिकार और नियन्त्रण चाहता था। वह नारी को अपनी दासी समझता था, और चाहता था कि नारी प्रत्येक क्षेत्र में उसकी आज्ञाओं का पालन करे। नारी में जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार होता जा रहा था, इस भावना के विरुद्ध उसके अन्तरमन में विरोध भी उत्पन्न होता जा रहा था। परिणामस्वरूप ऐसे विवाहित जीवन अशांतिपूर्ण और हलचलों से व्याप्त रहते थे। लेखक का उद्देश्य ऐसी ही परिस्थिति का चित्रण करना था, और कल्याणी का चरित्र इसी सन्दर्भ में विकसित हुआ है।

---

१. जैनेन्द्रकुमार—कल्याणी, (१९३९), बम्बई, पृ० ८७।

गृहस्थ जीवन में प्रेम का संघर्ष

भारत में नारियों को विवाह सम्बन्धी वह स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी, जो पश्चिमी देशों में साधारण सी बात थी। इसीलिए नारियों को जीवन पर्यन्त अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। यों भी यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें, तो हर व्यक्ति की भावनाओं में कोई-न-कोई विशेषता होती है। उसके सोचने का ढंग भिन्न होता है, उसकी कार्य-प्रणाली भिन्न होती है, उसकी कल्पनाएं, धारणाएं सभी कुछ भिन्न होती हैं। यद्यपि कई चीजों में उसकी अन्य व्यक्तियों से समानता हो सकती है, पर कोई न कोई विशिष्टता उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का निर्माण करती है। प्रकट है कि अपने जीवन साथी के रूप में वह अपनी रुचि एवं अपने विचारों वाली नारी को चाहेगा, जिससे उसका जीवन स्वर्ग के सदृश निर्मित हो सके। यही बात नारियों के सम्बन्ध में होती है। चूंकि अंग्रेजों के भारत में आगमन के पश्चात् चतुर्दिक परि-वर्तन लक्षित हुआ, और धीरे-धीरे प्रगतिशीलता की भावना का प्रसारण हुआ, तो समाज के कठोर एवं कुछ सीमा तक रूढ़ नियमों में भी शिथिलता आई तथा नारियों को समाज में अपना स्थान बनाने का अवसर भी मिला। इसमें उनका सम्पर्क अपने रुचि एवं विचारों के अनुकूल पुरुषों से प्रायः स्थापित हो जाता था, और धीरे-धीरे उनमें प्रेम भाव का भी उदय हो जाता था। यह तो हुई प्रेम होने की बात, पर यह आवश्यक नहीं था, कि प्रेम का अन्त विवाह में ही हो जाय। समाज विवाह सम्बन्धी नियमों के शिथिल करने को तत्पर न था, और विशेषतया नारी के सम्बन्ध में तो वह किंचित मात्र भी झुकने को तैयार न होता था। परिणाम यह होता था, कि नारियाँ विवशताओं की शृंखलाओं में आबद्ध समाज की कठोरता से समझौता कर लेती थीं। और इस प्रक्रिया में उन्हें अपने जीवन से सुख एवं संतोष को सदैव के लिए तिलांजलि दे देनी पड़ती थी। यही नहीं, उनका विवाहित जीवन भी प्रायः असन्तोषपूर्ण ही रहता था। वहाँ कर्त्तव्य एवं प्रेम के बीज बराबर संघर्ष वर्तमान रहता था, और यदि कहीं पति को पूर्व प्रेम सम्बन्ध का आभास हो जाता था, तो बेचारी नारियाँ संदेह का शिकार बनी रहती थीं। कभी-कभी तो ऐसा होता था, कि पति स्वयं दूसरी नारी से प्रेम करने लगता था, ऐसी अवस्था में तो नारियों को और भी विषम परिस्थिति का सामना करना पड़ता था। पर नारियाँ कभी भी अपने पातिव्रत धर्म को नहीं त्यागती थीं। उनका प्रेम उनकी राहों पर अंधकार की भाँति आच्छादित रहता था, पर उनका कर्त्तव्य उन्हें सदैव आलोक प्रदान करता था, और वे कभी कर्त्तव्य के सम्मुख अपने प्रेम को महत्व नही देती थी, पति के सम्मुख प्रेमी महत्वहीन होता था। कभी-कभी ऐसी भी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती थी, जब पति का मित्र उनसे प्रेम करने लगता था, और उनका भावुक मन उसे अस्वीकृत प्रदान कर उनका जीवन नष्ट नहीं करना चाहता था। यद्यपि इसका यह तात्पर्य नही है कि वे अपने पातिव्रत धर्म को त्याग देती थीं। वे उसका भी पालन करती थीं और अपने प्रेमियों का जीवन निर्माण करने का भी प्रयत्न करती थीं। हिन्दी उपन्यासों में ऐसी नायिकाओं

के रूप सुनीता (सुनीता), मृणाल (त्यागपत्र), जमना (नारी) तथा अलका (अलका) आदि में प्राप्त होते हैं।

"निराला" के उपन्यास "अलका" (१९३३) की नायिका शोभा कृषक परिवार से सम्बन्धित है। वह एक विवाहित युवती है, जिसका पति विजय बम्बई विश्वविद्यालय में पढ़ता है। गाँव में इन्फ्लूएंजा का प्रकोप तेजी से है जिसमें शोभा के माता पिता दोनों की मृत्यु हो जाती है। अकेली शोभा एक व्यक्ति के बहकाने से कठिनाइयों में फंस जाती है, पर आने वाले दुर्भाग्य का संकेत पाकर वह भाग जाती है। एक वीरान जगह पर वह बेहोश होकर गिर पड़ती है। वहाँ पं० स्नेहशंकर उसे अपने घर ले जाते हैं। शोभा वहीं अलका बन जाती है। स्नेहशंकर उसे अपनी पुत्री की तरह पालते हैं और सांत्वना देते हैं। अलका वहीं पढ़ने का सिलसिला शुरू करती है और दर्शन की अच्छी खासी ज्ञाता बन जाती है। वह बहुत ही सरल स्वभाव की है। छल कपट से बिल्कुल अनभिज्ञ उसके हृदय में उदारता है, दया है। वह गम्भीर स्वभाव की है और जब कभी उसे अपने अकेलेपन में विजय की याद आती है, पं० स्नेहशंकर का पितृ-तुल्य स्नेह उसे दबा देता है।

अलका क्लब वगैरह भी जाने लगती है। ऊँचे तबके के लोगों के समाज में आने के कारण वह एक प्रकार से पूर्ण आधुनिक बन जाती है। एक दिन वह क्लब में प्रभाकर नामक युवक को देखती है, और उससे प्रभावित होती है। वह मन ही मन उसके प्रति आकर्षित होती चलती है, और प्रभाकर के कहने से ही श्रमिकों के एक स्कूल में पढ़ाने भी जाने लगती है। वहाँ से लौटते समय एक दिन मुरलीधर आदि कुछ दुष्ट लोग उसे कार में बैठा कर उड़ा ले जाना चाहते हैं, पर अलका पिस्तौल से उनकी हत्या कर देती है। पर खुद भी बेहोश हो जाती है। संयोग से उसी राह प्रभाकर भी गुजर रहा था। वह उसे उठा कर घर ले आता है। वहीं प्रभाकर का पुराना मित्र अजीत भी आता है जो प्रभाकर को पहचान लेता है। वह प्रभाकर और कोई नहीं स्वयं अलका का पति विजय था।

इस प्रकार अलका का चरित्र एक छोटे से, धूल में लिपटे हुए बीज के निखरने की कहानी सदृश ही है। अलका का चरित्र और भी स्पष्ट होकर निखरता, यदि लेखक उसे अपने हाथों की कठपुतली न बना डालता। अलका के चरित्र का स्वतन्त्र विकास कहीं नहीं हो पाया है। वह लेखक की दिशाओं में उसके संकेतों के अनुसार ही घूमती रहती है। वास्तव में अलका की परिकल्पना की पृष्ठभूमि में लेखक का उद्देश्य भारतीय नारियों के समक्ष यह आदर्श रखना था, कि उनमें तीव्र प्रतिभा एवं चेतना सोई हुई है, जिसका देश के लिए उन्हें विकास करना होगा। वे आधुनिकता की ओर चाहे जितना बढ़ सकती हैं, पर उसका तात्पर्य यह नहीं, कि वे अपने परम्परागत आदर्शों को भी त्याग दें, और उच्छृंखलता की सीमा का अति-

क्रमण कर दें। वे उस आधुनिकता से भी अलका की भाँति अपनी पवित्रता और सतीत्व की रक्षा कर सकती है। अलका नहीं जानती थी, कि प्रभाकर ही उसका पति है, और जाने-अनजाने वह उसकी ओर आकर्षित हो जाती है, उसके विवाहित जीवन में संघर्ष उत्पन्न होता है, पर वह भरसक अपने पति के साथ विश्वासघात नहीं करती, जिसकी याद वह परिवर्तित परिस्थितियों में अपनी पूर्ण आधुनिकता के बावजूद भी सीने से चिपकाए रहती है। अलका की कल्पना कदाचित् तत्कालीन कट्टरपंथियों के लिए विचित्र लगी होगी, पर तब उपन्यासकार नवीनता के प्रति अपना अधिक आग्रह प्रकट करने लगा था, और वह प्राचीनता के प्रति आस्थावान रहकर अपनी प्रगति कुंठित नहीं करना चाहता था।[1] अलका भारतीय नारी के विकास की कहानी ही है, जो तत्कालीन परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में कुशलतापूर्वक प्रस्तुत की गई है।

इस श्रेणी में जैनेन्द्र के उपन्यास "सुनीता" (१९३६) की नायिका सुनीता का भी अध्ययन किया जा सकता है। सुनीता की तुलना प्रायः रविन्द्रनाथ के "घरे बाहिरे" की मधुरानी से की जाती है, पर दोनों के सूक्ष्म तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् सरलता से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सुनीता, मधुरानी की अपेक्षा अधिक सशक्त है। सुनीता में भाव प्रवणता, त्याग की अनुपम प्रवृत्ति और आदर्शवाद कूट-कूट कर भरा हुआ है। "सुनीता" में हरि प्रसन्न नामक अपने एक मित्र के जीवन प्रवाह को एक निश्चित गति प्रदान करने में श्रीकान्त अपनी पत्नी सुनीता को साधन बनाना चाहते हैं। नारी में जो जन्मजात लज्जा होती है, उसका पाश्चात्य परम्परा में चाहे कुछ भी स्थान न हो, पर अपनी भारतीय परम्परा में वह नारी का आभूषण समझी गई है। अपने इसी आभूषण को वह आधुनिक सभ्यता एवं संस्कृति के चौराहे पर नीलाम कर उससे प्राप्त त्याग एवं आत्मोसर्ग के धन से हरिप्रसन्न की दमित-शमित वासनाओं की तृप्ति करती है।

सुनीता पतिपरायण है, गृहस्थ जीवन में कुशल है और अपने पति के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करती है। पर "उसकी पति परायणता इतनी दुष्प्राप्य किसी स्थल पर नहीं हुई है कि प्रायश्चित का सहारा उसे दरकार हो। पति में उसकी निष्ठा उसे "हरिप्रसन्न" के प्रति और भी स्नेहशील और उद्यत होने का बल देती है,

---

१. However the novels of present age still testify to a persistant moral disquietude. In this respect the generation of today more definitely continues that of yesterday. It remains as viewed in far the greater number of interesting works, instinct with a mood of revolt against the existing order of ideas and the fact. Already in the years before the first world war it was evincing a tendency to pessimism.'

—लैगुई कैजेमियाँ : ए हिस्ट्री ऑव इंगलिश लिट्रेचर, लन्दन, पृ० ४५२।

आरम्भ से उसकी आँख खुली है और अन्त तक जो उसने किया है या उससे हुआ है, उसमें वह मोह मुग्ध नहीं है। आरम्भ से वह जागरूक है और कहीं गृहिणी धर्म से च्युत नहीं है। उस "घर" में अंत तक इतना स्वास्थ्य है कि "हरिप्रसन्न" को हठात् स्मृति से दूर रखना उसके लिए जरूरी नहीं है। प्रत्युत "हरिप्रसन्न" के प्रति सदा वह घर अपना ऋण मानेगा और उसकी याद रखेगा[1]।"

"सुन्दरी, सुशीला, सुनीता, उच्च शिक्षिता है। घर के अपने नौकरों चाकरों को हटाकर घर का काम धन्धा भी स्वयं अपने हाथों से करती है। ऊँची शिक्षा भी उसके पूर्ण गृहस्थिन बनने की राह में नहीं आती, यहाँ तक कि वह चौका बासन भी अपने हाथों से करती है। सृष्टि के दो मूल पक्ष प्रधान रूप से हैं—"स्व" अर्थात् भोग्य या ज्ञेय। इस "स्व" और "पर" का भेद माया है। मैं और मेरा से मिलकर घर बनता है। पर सुनीता और श्रीकान्त ने जो घर बनाया है, वह घर ही उन दोनों के संयुक्त अस्तित्व को अपने में लय कर लेता है। काम काज की बात जहाँ तक है, दोनों एक हैं, पति पत्नी हैं पर उसके बाद दोनों अलग-अलग ही अपनी बुद्धि प्रति-भाओं से संघर्ष करते रहते हैं। सुनीता के पास सशक्त मन है। मन की सशक्तता का अर्थ है सृजनशीलता, कल्पनाशीलता। वह केवल काम-धन्धों की बातों से ही सम्बन्ध रखती है, बाकी सब कुछ उसका "स्व" है।

सुनीता दूसरे की भावनाओं का भी ध्यान रखती है, यही नहीं सभी कुछ उसका "स्व" है। वह यह भी जानती है कि किस बात से किसको दुख पहुँचेगा। हरिप्रसन्न सुनीता से पूर्ण रूप से मिल नहीं पाया है, और दोनों में स्पष्टता नहीं आ पाई है। हरिप्रसन्न को पन्द्रह रुपये की आवश्यकता है। सुनीता श्रीकान्त को रुपये देते हुए अपना आग्रह प्रकट करती है कि हरिप्रसन्न को यह बिलकुल भी नहीं ज्ञात होना चाहिये कि मुझे भी यह रहस्य ज्ञात है।

सुनीता केवल साधारण नारी ही नहीं है, अपने कर्त्तव्यों को पहचानने की, अपने उत्तरदायित्वों को निबाहने की उसमें पूर्ण शक्ति है। वह नारी के महान् रूप को ही अपनाने का प्रयास करती है। त्याग......, और त्याग जैनेन्द्र के स्त्री-पात्र यही चिल्लाते रहते हैं और करते भी हैं। सुनीता उनसे परे नहीं है : नारी क्या है? वह सही माने में इसे पहचान पाई है। हरिप्रसन्न से वह कहती है, "......हमारा यह काम है कि हम पुरुषों को सामने चलावें। जब तक वह सामने बढ़ता है, हम पीछे पीछे हैं। जब वह पीठ की ओर भागना चाहे, तब हम सामने सामने हो आती है। हमसे पार होकर वह नहीं जा सकेगा। स्त्री यह न सहेगी कि पुरुष उसके आगे मार्ग स्पष्ट न करता जाये। पुरुष इस दायित्व से भागना चाहेगा तो पीछे स्त्री में गिरफ्तार होकर फिर उसे आगे-आगे चलना होगा। पुरुषों के इस अधिकार के आगे स्त्री कृतज्ञ है। किन्तु स्त्री का भी यही अधिकार है कि पुरुष को पदच्युत न होने दे।"[2]

---

१. जैनेन्द्रकुमार : "जैनेन्द्र के विचार", पृष्ठ ३५।
२. जैनेन्द्रकुमार : सुनीता (१९३६), बम्बई, पृष्ठ ६६।

यों सुनीता मननशील है, चिन्तनशील है पर वह वाक्शून्य नहीं है, उसमें अच्छी खासी तर्क शक्ति भी है और विवादों में भली भाँति भाग ले सकती है। उसके स्वभाव में शुष्कता भी है, सरसता भी। पर दोनों का कहीं अतिक्रमण नहीं हुआ है। वह न कहीं पूर्ण रूप से नीरस ही है और न कहीं सरस है। चुप रहेगी तो बस चुप, लेकिन बोलना जब शुरू करेगी तो सरसता का वातावरण उत्पन्न कर देती है।

सुनीता सदैव घर की चार दीवारी में रही है, मर्यादाओं से बंधी रही है, इसीलिये उसे ऐसे चरित्रों के प्रति आकर्षण है, सहानुभूति है, जिसमें अजब-सी आवारगी है। यों भी यह मानव स्वभाव है कि दूरी, दृश्य में रुचिरता रहती है। वह हरिप्रसन्न को राह पर लाने के लिए कटिबद्ध हो जाती है। यदि नारी यह नहीं कर सकती, तो, "वह सोचती है कि स्त्री फिर किसलिये है, यदि पुरुषों को प्रयोजन-दान फल-दान में नियोजित नहीं करती। क्या स्त्री इसलिये है कि पुरुष को अपने से निरपेक्ष रहने दे और महाप्रकृति को वन्ध्या? क्योंकि दुनिया को रेगिस्तान नहीं होना है, क्योंकि उसका लहलाकर हरियाली हो उठना है, इसीलिए क्या पुरुषों के इस जगत् में विधाता ने हम स्त्रियों को नहीं सिरजा है?—नहीं-नहीं, हरिप्रसन्न यों खुला-ही-खुला छूटा-ही-छूटा, एक-ही-एक, कैसे रहने दिया जायेगा[1]।"

और जब सुनीता से हरिप्रसन्न राष्ट्र के कार्यों में संलग्न होने को कहता है तो सुनीता की अपनी परिस्थिति, तथा यह महत्ती कार्य दोनों, उसकी चेतना को मथ जाते हैं। वह परिवार को विश्रृंखलित नहीं करना चाहती, वह परिवार की शान्ति भंग नहीं करना चाहती, पर उसके अन्तरमन का विद्रोह उसे जैसे चेतावनी देता है कि वह बड़ा हित इतना लघु इतना सीमित तो नहीं कि उसे परिवार की परिधि के आगे न ले जाया जाय। पर नहीं, वह भारतीय नारी है और नारीत्व के सारे गुण उसमें कूट-कूटकर भरे हुये हैं। नारी का सभी कुछ अपने पति में है। स्वामी ही उसके जीवन की सारी प्रक्रियाओं का लक्ष्य होता है! आधुनिक सभ्यता में यह बात कुछ लोग रूढ़िवादी भले ही कह लें, यशपाल, अश्क, आदि "प्रगतिशील" लेखक उसका तिरस्कार भले ही कर लें पर यह बात उतनी ही सच है, जितनी यह सृष्टि, और इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सुनीता इससे परिचित है। वह हरिप्रसन्न से कहती है, "तुम राष्ट्र के लिये मेरा स्वत्वदान मांगते हो। मैं इससे चूकती नहीं, लेकिन मैं अपना स्वत्व पति की सेवा में अर्पण कर दूँ तो क्या अन्तर है? मेरे लिए तो इतना ही इष्ट है कि अपना स्वत्व अपने पास न रखूँ, उसे लोगों के चरणों को सहारने वाली धूल में मिला दूँ?......मेरे लिए तो सारा राष्ट्र, सारा समाज, सारा श्रेय जिस व्यक्ति में समा जाना चाहिए, वह तो मुझे प्राप्त मेरे स्वामी हैं।"[2]

और रात्रि के निर्जन वातावरण में जब हरिप्रसन्न सुनीता को अपनी बाहों

१: जैनेन्द्रकुमार : सुनीता: (१९३६), बम्बई, पृष्ठ ७४-७५।
२. जैनेन्द्रकुमार : सुनीता: (१९३६), बम्बई, पृष्ठ १६७।

में समेट लेता है तो सुनीता विक्षिप्त हो अपने सारे वस्त्र उतार कहती है—"हरी, मुझे लो, मुझे पाओ। इस एक आवरण को भी हटाये देती हूं। वही मुझको ढक रहा है। मुझे चाहते हो न ? मैं भी इन्कार नहीं करती। यह लो…"[1]

ऐसे स्थल सुनीता के चरित्र को दुरूह बना देते हैं पर उसके आकर्षण को कम नहीं करते, यह निर्विवाद है। उसमें बौद्धिक पक्ष अत्यन्त प्रबल है, इसलिये वह अपनी भावनाओं, अपनी परिस्थितियों, अपनी विवशताओं से पीड़ित रहती है। उसमें विद्रोह भी प्रस्फुटित होता है तो उसकी परम्परा उसका दमन कर देती है, पर वह अन्दर ही अन्दर नासूर की भांति उसकी अशान्ति का कारण बन जाती है। एक तरफ श्रीकान्त के प्रति उसका कर्त्तव्य है, दूसरी ओर हरिप्रसन्न के प्रति उसका उत्तरदायित्व और फिर तीसरी ओर हरिप्रसन्न उत्पन्न कर देता है राष्ट्र के प्रति उसका महत्ती उत्तरदायित्व। वह इन्हीं तीनों के संघर्ष में डूबती उतराती रहती है, पर अन्त में विजय उसके कर्तव्य की होती है। वह श्रीकान्त के कदमों में ही शरण पाती है। प्रारम्भ में सुनीता यों गृहस्थी का भार उठाती तो चलती है, पर पति से खींची-खींची से रहती है। यही हाल श्रीकान्त का भी था। इसे यों भी कह लें, घर एक प्रकार से उजड़ा हुआ सा था। "घर" में "बाहर" (हरिप्रसन्न) का प्रवेश होता है, और फिर "घर" की स्थिति ही बदल जाती है। अन्त में सुनीता और श्रीकान्त का वैवाहिक जीवन उचित दिशा प्राप्त कर लेता है, इसीलिए 'घर" एक प्रकार से "बाहर" का ऋणी ही है।

सुनीता का चरित्र दो अन्तर्विरोध के मध्य निर्मित हुआ है। एक ओर वह पति परायण है, विवाह संस्था को भी नहीं तोड़ना चाहती क्योंकि वह निबाहने योग्य संस्था है, और ईश्वर में विश्वास रखती है। दूसरी ओर वह अपने प्रेमी को उचित राह पर लाने और सही माने में पुरुष बनाने में भी कोई कसर नहीं रखती, यहां तक कि यदि वह कामाग्नि से उत्पीड़ित हो संघर्ष कर रहा है, तो उसकी कामवृत्ति को भी पूर्ण करने को तत्पर हो जाती है। लेकिन अन्त में अचेतन (ID) की ही विजय होती है। सुनीता की परिकल्पना के पीछे लेखक का उद्देश्य परस्पर विरोधी परिस्थितियों में नारी को रखकर उसकी परीक्षा करना, तथा उसका आत्म-विश्वास, उसकी पवित्रता, एवं पातिव्रत-धर्म के पालन की उत्कट लालसा को प्रकट करना था। इस कल्पना का एक मनोवैज्ञानिक उद्देश्य भी था। कुछ लोग जीवन में रोमांच (Sensation) चाहते हैं। प्रायः पति अपनी पत्नी को तब तक प्यार नहीं कर पाता, जब तक वह पूर्ण रूप से पति-परायण रहती है। पर जब एक अन्य पक्ष भी आ उपस्थित होता है, और पत्नी उसकी ओर बढ़ने लगती है, तो चोट खाया हुआ (Injured thirty party) पक्ष सजग होता है, और अपनी पत्नी को पूरे रूप में

---

१. जैनेन्द्रकुमार : सुनीता (१९३६), बम्बई, पृष्ठ २०८।

प्राप्त करना चाहता है, उससे प्रेम करता है। सुनीता और श्रीकान्त के साथ यही होता है।

जैनेन्द्र के एक अन्य उपन्यास "त्याग पत्र" (१९३७) की नायिका मृणाल की माँ की बचपन में ही मृत्यु हो गई थी। अतः वह अपने भाई के साथ रहने लगी। मृणाल के पास प्रचुर मात्रा में सौंदर्य था। एक दिन स्कूल में उसकी एक सहेली मास्टर साहब की कुर्सी में एक पिन चुभो देती है। मास्टर साहब के बैठते ही वह पिन जब उन्हें गड़ी तो वे अत्यन्त ही क्रोधित हुए। शीला को मास्टर साहब की क्रोधाग्नि में झुलसने से बचाने के लिए सारा अपराध अपने सिर ले लेती है। और शारीरिक दंड भी सह लेती है। इससे शीला और मृणाल दोनों एक दूसरे के और भी निकट हो गईं, दोनों में और भी घनिष्ठता हो गई। छोटी अवस्था से ही मृणाल अपने भतीजे प्रमोद से बेहद प्यार करती थी और जैसे-जैसे वह बड़ी होती गई, वह प्यार गहनतम ही होता गया। बड़ी होने पर वह प्रमोद को कभी सीने से लगा लेती, कभी अपने आलिंगन में जकड़ कर प्यार करती। पर कुछ ही दिनों पश्चात् मृणाल परायी हो गयी, उसका विवाह हो गया। कुछ वर्षों पश्चात् प्रमोद को पता चलता है कि मृणाल अपने पति-गृह से निष्कासित हो चुकी है और वह एक कोयले वाले के साथ रहने लगी है। कुछ दिनों पश्चात् जब मृणाल गर्भवती हो गई तो वह कोयले वाला भाग गया। अनेक यन्त्रणाएँ सहने के पश्चात् वह एक डाक्टर के यहाँ मास्टरनी हो गई। उसी डाक्टर साहब के यहाँ प्रमोद के विवाह की बातचीत चल रही थी। मृणाल के बहुत मना करने पर भी प्रमोद डाक्टर साहब से सारी वास्तविकता बता देता है। परिणामस्वरूप डाक्टर साहब का परिवार प्रमोद के विवाह की बातचीत भंग कर देता है, और बेचारी मृणाल नौकरी से भी निकाल दी गई। उसे एक बच्ची होती है पर वह भी जैसे विषाद को तीखा करने के लिए काल कवलित हो जाती है। अनेक वर्षों तक दर-दर की ठोकरें खाने के पश्चात् आखिरकार मृणाल की मृत्यु हो जाती है।

जैनेन्द्र के मृणाल के चरित्र को मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किया है। वह प्रारम्भ से अन्त तक अभुक्त वासना से आलोड़ित है, पर इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति न कर वह भी आत्मत्याग के मार्ग को अपनाती हैं। मृणाल के अन्तरमन में अपनी जिन्दगी के प्रति, इस व्यवस्था के प्रति एक जबर्दस्त विद्रोह की भावना है, जो पाठकों के दिलोदिमाग को चीरती चलती है। तप और साधना—मृणाल ने अपने जीवन के यही दो चरम लक्ष्य बना लिए हैं। वह अपनी व्यथा को स्वयं ही चुपचाप सहन करती चलती है। समाज की अव्यवस्था और पुरुष की वासनात्मक भूख वह सहज रूप में सहन करती है, पर उसके मन में जो विद्रोह है, जो असंतोष है, वह कभी हिंसात्मक रूप नहीं लेने पाता। वह समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती। क्योंकि—"समाज टूटा कि फिर हम किसके भीतर बनेंगे? या किसके भीतर

बिगड़ेंगे ? इसलिए मैं इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में खुद ही टूटती रहूँ ।[1]"

यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न होता है कि मृणाल अपने को ही क्यों तोड़ना चाहती है ? यह मात्र इसीलिए नहीं कि उसमें कहीं भीरुता है या संघर्ष करने की क्षमता नहीं है, समाज की अव्यवस्था को दूर करने की प्रवृत्ति नहीं है ? जैनेन्द्र की धारणा है कि ब्रह्माण्ड और पिण्ड में एक ही सत्ता की प्रधानता है। वे जीवन को समग्र रूप में देखना चाहते हैं, उसकी खण्डता के पक्षपाती नहीं हैं। इसके लिए आवश्यक तत्व है प्रेम। प्रेम का ही एक रूप अहिंसा है और जैनेन्द्र के नारी पात्र इसी अहिंसात्मक तत्व से निर्मित हुए हैं। वे सभी यातनाएं सहन करती जायेंगी, एक के बाद एक व्यथा ग्रहण करती जायंगी, पर सभी कुछ चुपचाप होता चलता है, कहीं उनके मुख से आह तक नहीं प्रकट होगी। आत्म त्याग ही उनका प्रधान उद्देश्य होता है। मृणाल इसका अपवाद नहीं बल्कि एक जबर्दस्त उदाहरण है। जैनेन्द्र स्वभावतः गेस्टाल्टवादी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं। गेस्टाल्ट मनोविज्ञान में सम्पूर्ण आकृति को पहले महत्ता दी गई है, रेखाओं को बाद में। क्योंकि उनके मतानुसार अलग-अलग रेखाओं का न तो कोई अस्तित्व ही है, न कोई महत्व ही है। हम स्वभावतः किसी वस्तु को एक समष्टि या इकाई के रूप में देखते हैं। हम उसे खंडित रूप में नहीं देखते। गेस्टाल्ट मनोविज्ञान में उत्तेजना और प्रतिक्रिया के शब्दों में व्यवहार की व्याख्या पसन्द नहीं की जाती। जैनेन्द्र ने यही ग्रहण किया है और तदनुकूल मृणाल का चरित्र निर्मित होता है। वह गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों के अनुरूप है। ऊपर कहा जा चुका है कि प्रेम का ही एक रूप अहिंसा है। मृणाल उसी अहिंसा में विश्वास करते-करते आत्मव्यथा चुपचाप सहन करती चलती है, और उसी में उसकी मृत्यु भी होती है। शुरू की सीधी-सादी मृणाल में धीरे-धीरे चलकर इसीलिए इतना ज्ञान और दर्शन की गूढ़ बातें आ जाती हैं, क्योंकि सचमुच जो शास्त्र में नहीं मिलता, वह ज्ञान आत्मव्यथा में मिल जाता है।

मृणाल के जीवन में प्रारम्भ से ही अतृप्ति है। उसके माता पिता की मृत्यु हो गई होती है। माँ की ममता उसे प्राप्त नहीं हुई, पिता के स्नेह से भी वह वंचित हो रही है। वह अपने भाई के यहाँ रहती है और ले देकर उसे जो भी थोड़ा बहुत प्रेम मिला है वह केवल अपने भाई का ही। पर जिस सीमा तक वह प्रेम की अपेक्षा करती है, भाई का प्रेम उसे पूर्ण नहीं कर पाता। भाई का जो स्नेह मिलता है, भाभी का व्यवहार उसे उल्टा ही करता चलता है। शीला के भाई से उसका प्रेम सम्बन्ध भी स्थापित होता है पर वह भी केवल क्षणिक ही था, मानसिक चेतना में एक हिलोर उठाकर अपनी गहरी विषादमयी प्रतिक्रिया छोड़ शांत हो जाता है। इसके पश्चात् उसका बेमेल विवाह, पति से विचारों का परस्पर सामंजस्य न होना और

१. जैनेन्द्रकुमार : त्यागपत्र, (१९३७), बम्बई, पृष्ठ ८०।

पति द्वारा दी जाने वाली यन्त्रणाएं, सभी कुछ जैसे मृणाल की अतृप्ति को एक व्यापक परिवेश में आवद्ध कर विद्रूपता का रूप धारण कर लेती है। घर तव भी मृणाल सव कुछ सहन करती चलती है। पति धर्म का भी पालन करती चलती है। पति उसे घर से निष्कासित कर देते हैं तो भी वह अपना पति धर्म नही छोड़ती। 'पति को मैंने नहीं छोड़ा। उन्होंने ही मुझे छोड़ा हैं। मैं स्त्री धर्म को पतिव्रत धर्म ही मानती हूँ। उसका स्वतन्त्र धर्म मैं नही मानती। क्या पतिव्रता को यह चाहिये कि पति उसे नही चाहता तव भी वह अपना भार उस पर डाले रहे? वह मुझे नहीं देखना चाहते, यह जानकर मैंने उनकी आँखों के आगे से हट जाना स्वीकार कर लिया। उन्होंने कहा—"मैं तेरा पति नहीं हूँ, तव मैं किस अधिकार से अपने को उन पर डाले रहती? पतिव्रता का यह धर्म नहीं है।[1]"

पर अंत में वह कोयले वाले को आत्म समर्पण कर ही बैठती है। वह परिस्थितियों से निरन्तर पराजित होते रहने पर भी साहस और धीरज नहीं खोती है। आत्महत्या करके अपने जीवन को सारी यन्त्रणाओं से मुक्ति नहीं दे देती है। वह आत्मसमर्पण करती है एक कोयले वाले को। यही एक व्यक्ति ऐसा था जिसने डूवती मृणाल को जैसे तिनके का सहारा दिया। हारती मृणाल को आलम्वन दिया। उसका यह आत्मसमर्पण अनायास ही नहीं है, किसी हिस्टीरिया ग्रस्त रोगी का उन्माद नहीं है। उसने यह सव उत्तेजना में नहीं बल्कि ठन्डे मस्तिष्क से किया है। क्योंकि मृणाल अपने पति गृह से निष्कासित हो चुकी थी, पति से समझौते का उसका प्रयत्न भी असफल हो चुका था और वह निराश्रित हो चारों ओर से हारती, ठोकर खाती जा रही थी। ऐसे ही कठिन समय में वह कोयले वाले के सम्पर्क में आती है। कोयले वाला अपना सव कुछ भूल,-अपना परिवार छोड़ मृणाल के साथ रहता है। मृणाल स्वयं ही कहती है—"उसका प्रेम स्वीकार करने की कल्पना भी दुर्विसह्य थी। पर उसका दायित्व क्या मुझ पर न था? और यह भी ठीक है कि उस समय उसका (कोयले वाले का) सर्वस्व मैं ही थी। मैं उसके हाथ से निकलती तो वह अनर्थ ही कर बैठता। अपने को मार लेता, या शक्ति होती तो मुझे मार देता। सच कहती हूँ प्रमोद, कि उस समय उस आदमी पर मुझे इतनी करुणा आई कि मैं ही जानती हूँ। मैं उसके इस भ्रम को किसी भाँति न तोड़ सकी कि मैं उसकी हूँ, उस पर मुग्ध हूँ। ऐसा करना निर्दयता होती, मेरे पास जो कुछ वचा खुचा था, मैंने उसे सौंप दिया।"

इस प्रकार प्रारम्भ से अंत तक मृणाल का चरित्र आत्म त्याग पर ही निर्भर करता है। जीवनशक्ति का मूलस्रोत आत्मव्यथा में है। दुख उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों, और पीड़ा उत्पन्न करने वाले वातावरण से घृणा न करनी चाहिए। विषाद कोई अभिशाप नहीं है, और उससे दूर न भाग उसमें आनन्दोल्लास की

---

१. जैनेन्द्रकुमार: त्यागपत्र, (१९३७), बम्बई, पृष्ठ ६८-६९।

सम्भावना खोज निकालना ही अहिंसा का चरम लक्ष्य है। अभुक्त वासना को संजो कर रखना नहीं बल्कि उसका विवरण करते रहना भी अहिंसा के अंतर्गत है। मृणाल को इसीलिए अपनी मुक्ति का एक मात्र मार्ग आत्मसमर्पण में ही दृष्टिगोचर होता है, और एक बार जब उसे राह मिली तो वह हिचकती नहीं। मृणाल की संवेदनशीलता, उसकी भावुकता, चरित्र की गम्भीरता सभी कुछ जैसे पैने अस्त्र की भांति पाठकों के हृदय को चीरते चलते है, और सभी जैसे यह समस्या प्रस्तुत करते चलते है कि नारी क्या इसीलिए प्रताड़ित है, निर्दयता का शिकार है, कि आर्थिक रूप से वह परतन्त्र है, पुरुष के आश्रित है? आत्मपीड़न की साधना में ही अंत में मृणाल की मृत्यु हो जाती है और वह जैसे इस जीवन्त समस्या के सम्मुख प्रश्नसूचक चिन्ह लगाकर जाती है। मृणाल की परिकल्पना का स्रोत वे भारतीय परम्पराएं थीं, जिनके शिकंजे में नारी कुछ इस तरह जकड़ी हुई थी, कि उसका अस्तित्व दासी के अतिरिक्त कुछ और न रह गया था। उसे विवाह में अपनी हार्दिक इच्छा प्रकट करने की स्वतन्त्रता न थी। माता पिता उसे अपनी इच्छानुसार चाहे जिसके गले मढ़ सकते थे, वह कुछ कह भी न सकती थी। फिर नारी की आर्थिक समस्या भी भीषण रूप से उपस्थित थी। नौकरी आदि की वह व्यवस्था नारियों के लिए उस समय सुलभ न थी जो आज अति सामान्य है। वे आर्थिक रूप से विवाह के पूर्व अपने अभिभावकों और विवाहोपरान्त अपने पति पर आश्रित रहती थीं, जिससे उनके रहे सहे स्वतन्त्र अस्तित्व का भी लोप हो जाता था। जैनेन्द्र मृणाल के माध्यम से इन्हीं परिस्थितियों का चित्रण करना चाहते थे, जिससे समाज इस भीषण समस्या के समाधान के लिए कोई दिशा निकाल सके। वे स्वयं किसी क्रान्ति के पक्ष में न थे, और गांधीवादी होने के नाते स्वतः इस समस्या का धीरे-धीरे शान्तिपूर्ण ढंग से बिना किसी क्रान्ति के कोई समाधान चाहते थे। मृणाल इसीलिए घुट-घुट कर मर जाना अधिक समझती है। अपने उद्देश्य में जैनेन्द्र को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

इसी दृष्टि से सियारामशरण गुप्त के उपन्यास "नारी" सं० (१९९४) की नायिका जमना का भी अध्ययन किया जा सकता है। जमना का पति घर से भाग गया है। वह अपने एकमात्र पुत्र हल्ली के साथ अकेले गाँव में रहती है। उसमें अभी यौवन है, वह सुन्दर है, और इसीलिए उसके सम्मुख फिर से घर बसाने के अनेक प्रलोभन आ चुके थे, पर वह यह न चाहती थी। उसका मन कहता था कि उसका पति एक दिन अवश्य वापस आयगा और वह बेसब्री से उस दिन की प्रतीक्षा कर रही थी। वह निरन्तर अपने से संघर्ष करती रहती है। कभी दुर्बल पड़ जाती है, पर साहस और धैर्य नहीं खोती। उसका धैर्य और परिस्थितियों से संघर्ष करने की हिम्मत सचमुच बड़ी प्रशसंनीय है। वह दयावान है, अपनी विवशता और निर्धनता में भी उसका हृदय दयालु है, वह गैरईमानदारी की बात सोच ही नहीं सकती। मोतीलाल महाजन को वह रुपये बराबर देती आई है, पर उनसे रसीद नहीं लेती थी और जब मोतीलाल ने एक अच्छी खासी रकम बकाया के रूप में दिखा दी तो भ

अजीत के लाख कहने पर भी वह मोतीलाल को बेईमान कहने या रुपया देने से अस्वीकार करने की बात नहीं सोच पाती।

जमना में ममता का भाव कूट-कूट कर भरा है। अपने हल्ली के अच्छे चरित्र चित्रण पर तो वह बल देती है, साथ ही उसे प्यार भी करती है। यही नहीं वह गाँव के अन्य बच्चों को भी ममता भरी दृष्टि से देखती है। हीरा हल्ली के रुपये चुरा लेता है। पंडित जी उसे मारने को कहते हैं तो वह हल्ली से कहलाती है, रुपये गये तो गये, हीरा को न मारें। पर अजीत जैसे जमना के बारे में सच ही कहता था—"देखो जमना, तुम सतजुग की रहने वाली हो, परन्तु समय तो सतजुग का नहीं है। कलयुग के लिये कलजुग का ही बनना पड़ता है।[1]"

और जमना सचमुच इसी के अनुरूप ही थी। वह परिस्थितियों से संघर्ष तो करती गई, पर अकेली बेबस नारी कब तक संघर्ष करती? उसे चाहिये था किसी का आलम्बन, किसी का विश्वास, किसी की शक्ति, यह सब उसे न प्राप्त थे, और एक दिन हार कर वह अजीत से विवाह के लिये भी कहती है, पर तभी एक दिन सुनाई पड़ता है कि आज उसका पति वापस लौटने वाला है, और फिर भी अस्थिर हो जाती है। वह दुविधा में पड़ जाती है, पर पति केवल कुंए और जमीन की रजिस्ट्री मोतीलाल के नाम कर चला जाता है, गाँव नहीं आता है। यह जमना की बेबसी की सबसे बड़ी हार थी। और आखिर में हल्ली कहता है—"......माँ, अब तुम यह घर छोड़ दो। हम लोग अजीत काका के घर यहाँ से भी अच्छी तरह होंगे। इस घर में रंज के मारे तुम बच न सकोगी। अब मैं अपने बप्पा को बप्पा न कहूँगा।"[2]

यही बात जमना के मन में भी विद्रोह के रूप में फूट रहा था, पर वह स्पष्ट नहीं कर पाती थी। हल्ली ने सब कुछ समझ लिया, और उसके कथन से जैसे उसे ताकत मिली, उसकी दिशा स्पष्ट हुई- और वह चल पड़ी। जमना के व्यक्तित्व के मूल में अतृप्ति की भावना है। वह अभुक्त वासना को लिये ही पाठकों के सम्मुख उपस्थित होती है। वह अभुक्त वासना के वितरण में ही अपनी सफलता मानती है। अपनी व्यथा और अपनी अतृप्ति को वह चुपचाप पीकर संघर्ष में आगे बढ़ती है, और साहस से उसका सामना करती है। जमना का प्रेम की ओर झुकना उसकी विवशता की बड़ी मार्मिक कहानी है। वह आशा की अंतिम किरण तक अपने कर्तव्य पथ का पालन करती रही, और जब हर तरफ से निराश हो जाती है, तभी वह जीवन में एक आलम्बन की ओर झुकती है। जमना की धैर्यशीलता, उसका साहस एवं आत्मविश्वास नारियों के समक्ष एक अनुकरणीय आदर्श रखते हैं, जिनके प्रकाशन में लेखक को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

---

१. सियारामशरण गुप्त : नारी, (सं० १९९४), झांसी, पृष्ठ ७१।
२. सियारामशरण गुप्त : नारी, (सं० १९९४), झांसी, पृष्ठ १९०।

अनमेल विवाह और परिवारिक अशान्ति

गृहस्थ जीवन की सफलता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा अनमेल विवाह होता था। दहेज की समस्या, सामान्य रूप से व्याप्त निर्धनता तथा ऐसे ही अनेक कारणों से विवश माता-पिता को उपनी लड़कियों का विवाह प्रायः ऐसे व्यक्तियों से कर देना पड़ता था, जो स्वयं उनकी ही आयु के होते थे, और जिनकी संतानें उसी आयु की होती थीं, जितनी आयु स्वयं लड़की की होती थी। ऐसी अवस्था में बेचारी लड़की की सारी कल्पनाएं और इच्छाएं कालगति के साथ ही झुलस जाती थीं, और आत्मव्यथा के साथ ही उसका जीवन असन्तोषपूर्ण हो जाता था। उसके सम्मुख सबसे बड़ी विवशता तो यह रहती थी कि यदि वे अपने पति के पहले के पुत्रों को प्यार न करें, उनकी देख-भाल न करें, तो समाज उन्हें घृणा की दृष्टि से देखता था, और उन्हें अपयश प्राप्त होता था। इसके विपरीत यदि वे उन पुत्रों को प्यार करती थीं, तो पति उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखता था। ऐसे वातावरण में पारिवारिक अशांति की स्थिति बराबर बनी रहती थी, और असन्तोष की ज्वाला परिवार के सभी सदस्यों के मन में भीतर सुलगती रहती थी। परिणाम यह होता था कि अच्छा खासा परिवार नष्ट हो जाता था। समाज में ऐसी नारियों का बाहुल्य पहले भी था, आज भी है, और कदाचित् आगे आने वाले उस युग तक रहेगा, जब तक कि वर्तमान मान्यताओं और व्यवस्था में पूर्ण रूप से परिवर्तन नहीं हो जाता। पर उपन्यासों में ऐसी नारियों के चित्रण के प्रयास बहुत ही कम क्या, नहीं के बराबर हुए हैं। आलोच्य-काल में इस प्रकार की दो ही नायिकाएं निर्मला, (निर्मला), तथा प्रभा (जीजी जी) के रूप में प्राप्त होती हैं। अनमेल विवाह के कुछ अन्य भी दुष्परिणाम होते हैं, जिनमें सबसे प्रमुख है नारी की स्वतन्त्रता का अपहरण। इसका चित्रण अंचल की नायिका मंजु (अलका) प्रस्तुत करती है।

प्रेमचन्द के उपन्यास "निर्मला" (१६२२-२३) की नायिका निर्मला एक ऐसी नारी के रूप में चित्रित की गई है जो अपने अनमेल विवाह के कारण जीवन भर करुणा एवं दुःख ग्रस्त रहती है। इस असंगति के कारण एक भरा पूरा हँसता परिवार विनाश की कालिमा के नीचे ढक जाता है, उसकी सुख शांति समाप्त हो जाती है। निर्मला के पिता का देहान्त हो जाता है और परिवार का सम्पूर्ण बोझ उसकी माता कल्याणी पर आ जाता है। वह परिवार का बोझ ही सरलता से नहीं उठा सकती तो निर्मला का विवाह कैसे करे? अच्छे विवाह के लिए अच्छा दहेज चाहिए और कल्याणी यह न कर सकने के कारण निर्मला का विवाह बाबू तोताराम से कर देती है, जिनके पहले से ही तीन पुत्र हैं। सबसे बड़े पुत्र मनसाराम की आयु १६ वर्ष की है, और निर्मला इससे छोटी है। भाग्य की विडम्बना और समाज की क्रूर परम्पराओं ने बेचारी निर्मला को अपने से अधिक आयु वाले पुत्र की माता बना दिया। निश्चित था कि विवाह के पश्चात् निर्मला और तोताराम के जीवन

में असन्तोष उत्पन्न हो, कटुता उत्पन्न हो और परिस्थितियाँ ऐसी थी कि दोनों उससे बच न सके। निर्मला की परिस्थितियों का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण लेखक ने प्रस्तुत किया है—"वह अपना रूप और यौवन उन्हें न दिखाना चाहती थी, क्योंकि वहाँ देखने वाली आँखें न थीं। वह इन्हें इस रसों का आस्वादन करने के योग्य न समझती थी। कली प्रभात समीर ही के स्पर्श से खिलती है। दोनों में समान सारस्य है। निर्मला के लिए वह प्रभात समीर कहाँ था?"[1]

निर्मला के पास सौन्दर्य की कमी न थी। वह एक खिलती हुई कली थी और उसके मुखमण्डल पर एक स्वर्गीय आभा प्रदीप्त रहती थी। वह जब कभी भी अपने आभूषण पहनती, शृंगार करती और दर्पण के सम्मुख खड़ी होती तो जल उठती। उसका सारा बनाव शृंगार किस लिए? उसका सौन्दर्य किस लिए? उस अनमेल विवाह में एक सुन्दर युवती की मनोरम कल्पनाएं, दुल्हन बनने के सपने, सुख संतोषपूर्ण जिन्दगी की इच्छाएं और अपनी संतानों को पाल-पोस कर ऊँची शिक्षा देने की सारी हसरतें जल कर राख हो गई थीं। और यही नहीं, समस्या सिर्फ विवाह तक ही न सीमित थी। उसके चारों ओर की परिस्थितियाँ भी अजब की थीं। यदि वह अपनी सौत के पुत्रों को प्यार देती है, अपने मन का सारा दुलार उन पर उड़ेलती है, ममता देती है तो पति की संशयावस्था का कारण बनती है और यदि ऐसा नहीं करती है तो समाज की प्रताड़नाओं का शिकार बनती है। ऐसी विषम परिस्थितियों में मानसिक सन्तुलन बनाए रखना बड़ा कठिन होता है और निर्मला के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के कुशल चित्रण के कारण ही निर्मला का चरित्र इतना स्वाभाविक और प्रभावशाली बन पड़ा है।

निर्मला के चरित्र की दो बातें मुख्य हैं। उसके एक ओर कर्त्तव्य है, दूसरी ओर प्रेम। धैर्य एवं सहनशीलता के साथ अपनी विषम परिस्थितियों से संघर्ष करती हुई वह कर्त्तव्य की ओर उन्मुख होती है। प्रायः विवाह की बात से लड़कियाँ उत्सुकता की परिधि में आ जाती हैं। भावी जीवन क्या होगा, कैसे होगा, पति कैसे होंगे, घर वाले कैसे होंगे, आदि के प्रति उनकी सहज जिज्ञासा होती है। पर निर्मला अपने विवाह की बात से अत्यन्त गम्भीर हो जाती है। उसकी यह गम्भीरता ही मानो उसके भावी जीवन का संकेत देती है। बाबू तोताराम के यहाँ वह गृहस्थी का भार सम्भाल लेती है और अपना कर्त्तव्य पथ पहचानने की कोशिश करती है। एक बार जब वह अपना कर्त्तव्य पथ पहचान लेती है तो बराबर उस पर चलती है। हाँ, वह पत्नीत्व के धर्म का पालन करने में असमर्थ रहती है। बाबू तोताराम के प्रति जो आकर्षण उसमें होना चाहिए, उसका अभाव हमें प्रारम्भ से ही मिलता है। इसका कारण स्पष्ट है। प्रेमचन्द ने प्रारम्भ में ही उसके मुख से कहलवाया है कि, "अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था, जिसके सामने वह सिर

---

१. प्रेमचन्द : निर्मला, (१९२२-२३), बनारस, पृष्ठ ३८।

झुका कर, देह चुराकर निकलती थी, अब उसकी अवस्था का एक आदमी उसका पति था। वह उसे प्रेम की वस्तु नहीं, सम्मान की वस्तु समझती थी।"[1]

तोताराम खर्च बहुत करता है, निर्मला को खजान्ची बना देता है, उसके एक संकेत मात्र पर कुछ भी कर सकने को तैयार हो जाता है, दाम्पत्य प्रेम का व्यावहारिक उपयोग भी करता है पर तब भी निर्मला को वह सुख-संतोष नहीं दे पाता, जिसकी वह अधिकारिणी है और जो लड़कियों की चिर-संचित अभिलाषा होती है—वह यह, कि वे महसूस कर सकें कि पति हम उम्र हों, सुन्दर हों, प्रेम करने वाले हों आदि और यह चीज़ जब तोताराम के पास थी ही नहीं तो वे बेचारे निर्मला को कहाँ से देते ? और सियाराम जब एक दिन बहुत मार खाता है तो उस दिन से मानो अंधियारे में छिपा हुआ उसका कर्त्तव्य पथ सामने आ जाता है। उसकी ममता जाग पड़ती है और वह उन बालकों को प्यार कर अपना कर्त्तव्य पूरा करना चाहती है, "······बालक को गोद में लिए हुए उसे वह तृप्ति हो रही थी, जो अब तक कभी न हुई थी। आज पहली बार उसे वह आत्म वेदना हुई, जिसके बिना आँखें नहीं खुलती, अपना कर्त्तव्य मार्ग नहीं सूझता। वह मार्ग अब दिखाई देने लगा।"[2]

इस प्रकार उसके हृदय का जो विकास अवरुद्ध हो गया था, वह बच्चों के पालन-पोषण और कर्तव्य पालन में प्रकट होता है। बच्चों के प्रति उसके मन में कोई कुभावना दृष्टिगोचर नहीं होती और इसी कारण पति उस पर सन्देह करता है, पर वह इसकी परवाह नहीं करती। वास्तव में एक अतृप्त नारी हृदय किस प्रकार मातृ-हृदय में परिणत हो सकता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण निर्मला का चरित्र है। यह एक प्रकार से अतृप्त हृदय के लिए संतोष का साधन था, वैसे अपने पति के घर आने पर उसे सही माने में कभी सुख सन्तोष नहीं मिला। और अपनी इस दारुण निराशा एवं व्यथा का समाधान वह यह कह करती है—"संसार में सबके सब प्राणी सुख सेज ही पर तो नहीं सोते। मैं भी उन्हीं अभागों में हूं। मुझे भी विधाता ने दुख की गठरी ढोने के लिये चुना है। वह बोझ सिर से उतर नहीं सकता······उम्र भर का कैदी कहाँ तक रोयेगा ? रोए भी तो कौन देखता है ? किसे उस पर दया आती है ? रोने से काम में हर्ज होने के कारण उसे और यातनाएं तो सहनी ही पड़ती है।"[3]

वह मन्साराम से अंग्रेजी पढ़ती है, बात करती है तो 'उसकी विलासिनी कल्पना उत्तेजित भी होती थी और तृप्त भी। उससे बातें करते हुए उसे एक अपार सुख का अनुभव होता था, जिसे वह शब्दों में प्रकट न कर सकती थी। कुवासना की

---

१. प्रेमचन्द : निर्मला, (१९२२-२३), बनारस, पृष्ठ ३७।
२. प्रेमचन्द : निर्मला, (१९२२-२३), बनारस, पृष्ठ ४३।
३. प्रेमचन्द : निर्मला, (१९२२-२३), बनारस, पृ० ५०।

उसके मन में छाया भी न थी। वह स्वप्न में भी मन्साराम से कलुषित प्रेम करने की बात न सोच सकती थी।"[1]

यही पति के सन्देह का कारण बनती है, पर निर्मला सहनशील है, धैर्यवान है। मन्साराम को लेकर किए गए सन्देह को वह केवल इसलिये सन्देह बना रहने देना चाहती है कि सफाई देने की चेष्टा में पति का सन्देह कहीं और न दृढ़ हो जाय? परिणामस्वरूप वह मन की भावनाओं को मन में दबे रहने देना चाहती है। रुक्मिणी जो बराबर निर्मला के चरित्र पर आघात करती है, उन्हें भी निर्मला चुपचाप सहन कर लेती है। अपने कर्तव्य पर उसने अपना आत्म गौरव, अपनी इच्छाएं, कामनाएं सभी कुछ स्वाहा कर दी थीं। सियाराम को गहने लिये जाते देखती है पर वह चुप रहती है। मन्साराम को ताजा खून देने का निर्णय करती है। पर कभी अपनी परिस्थितियों की विषमता से दूर नहीं भागती, साहस नहीं खोती। जब तक वह जीवित रही वह अपनी सहनशीलता को चरम सीमा पर ले जाती है। उसमें कहीं भी कटुता, आक्रोश, ईर्ष्या या द्वेष का चिन्ह तक हम नहीं पाते।

निर्मला का चरित्र सचमुच बहुत ही आकर्षक है, मार्मिक है और आँखें खोलने वाला है। वह एक टाइप (Type) है जो समाज में नारियों के उस वर्ग की प्रतिनिधि बन कर आती है जो दहेज की कुप्रथा, अनमेल विवाह और असंगतियों के कारण जीवन भर असंतोष, मानसिक अन्तर्द्वन्द्व और विषम परिस्थितियों से संघर्ष करती रहती हैं और अन्त में उसी में मर जाती हैं। निर्मला के रूप में हम उस नारी को पाते हैं जो कर्तव्य पथ पर चल कर अपना जीवन समाप्त करती है। उसका न तो अपना अहं है, न अपनी लालसा, सभी कुछ ऐसा है जैसे वह कर्तव्य की पुतली बन गई हो। निर्मला का परिकल्पना को स्रोत भारतीय नारियों की गौरवशाली परम्पराओं में निहित है, जिनमें नारी परिवार और पति के लिये ही जीती है और मरती है। साथ ही विवाह की वह कुप्रथा भी, जिसमें नारियों को विवाह सम्बन्धी स्वतन्त्रता न प्राप्त थी, दहेज का कुप्रभाव और नारियों की आर्थिक समस्या आदि ने मिलकर निर्मला की रचना की प्रेरणा दी, और प्रेमचन्द ने उसे पूर्ण सफलता के साथ प्रस्तुत भी किया। निर्मला का चरित्र समाज की उन सारी कुरीतियों को गहराई से कुरेद कर रख देता है, जिसमें नारी अपना अस्तित्व खोती जा रही थी।

"उग्र" उपन्यास "जीजी जी" (१९४३) में जीजी जी का वास्तविक नाम प्रभा है। इस उपन्यास में नारियों की तत्कालीन सामाजिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए लेखक ने वस्तुतः यह चित्रित करने का प्रयत्न किया है, कि घर में जब तक कोई पुत्र नहीं रहता, तब तक तो लड़कियों को बड़ा मान मिलता है, पर ज्यों ही घर में किसी पुत्र का जन्म होता है, वे सर्वथा उपेक्षणीय समझी जाने लगती हैं।

---

१. प्रेमचन्द : निर्मला, (१९२२-२३), बनारस, पृ० ६३।

प्रभा का पालन पोषण भी बिल्कुल पुत्र के समान होता था। जब तक परिवार में कोई पुत्र नहीं था, पर एक पुत्र के जन्म लेते ही वह इस कदर उपेक्षणीय हो जाती है, कि उसका व्यक्तित्व अन्दर ही अन्दर खण्डित होने लगता है। फ्रायड ने इसके लिए निश्चित तर्क दिये हैं। उसके अनुसार लड़कियाँ अपने भाइयों और पिता को देखकर बराबर इस भावना से प्रताड़ित होती रहती हैं कि अन्ततः इस सृष्टि में जन्म लेकर उन्होंने ऐसा कौन सा भीषण पाप किया है, जिससे वे उपेक्षणीय समझी जाने लगती हैं। प्रभा को अपनी इच्छा के विरुद्ध एक ऐसे व्यक्ति के साथ, जो उसकी विमाता द्वारा चुना गया है, विवाह करना पड़ता है, जिसके सम्बन्ध में वह जानती है कि उसकी पहली पत्नी मर चुकी है, वह वेश्यागामी है शराब पीता और आवारा तथा लम्पट है। विवाह के पूर्व से लेकर और विवाह तक उसके ऊपर जो अत्याचार किए गए हैं, वे अत्यन्त निन्दनीय हैं, पर प्रभा उनका विरोध नहीं करती। उसमें विद्रोह की भावना किंचित् मात्र भी नहीं है, क्योंकि "अभागी नारी जाति कहें तो युगों से विद्रोह से विलग कर दी गई है और अब विद्रोहिणी नारी को शृंखलित नारियाँ ही अनारी कहने लगती हैं, फिर वह मीराबाई ही क्यों न हों। विद्रोह से मंगल नहीं······।"[1] इस प्रकार चुपचाप सारा अत्याचार सहन कर जब वह पति-गृह आती है, तो प्रत्येक चीज अव्यवस्थित पाती है। दहेज में उसे अपने पिता के घर से जो सामान मिला था, उसे रखने तक की जगह वहाँ न थी। यही नहीं उसे अपने पति के अत्याचार भी सहन करने पड़ते हैं, जिसे वह चुपचाप सहती जाती है, क्योंकि, "···शादी होने के बरसों पहले मैंने पत्नी जीवन का प्रोग्राम बना लिया था, जिसका मोटो है—सहन, सो बिना किसी शोरोगिला के मैंने जो भी पाया, उसे चमकाने की कोशिश शुरू की थी।"[2] किन्तु प्रभा की सहनशीलता उस दिन परा-काष्ठा पर पहुँच जाती है, जब उसका पति दीनानाथ उससे पूर्णतया नंगी होने को कहता है और वह अस्वीकार कर देती है। वह क्रुद्ध कर प्रभा को त्याग देता है और अन्त में उसकी व्यथा में ही मृत्यु हो जाती है।

प्रभा का चरित्र पूर्णतया आदर्शवादी है, उसमें सहनशीलता है, सहिष्णुता है, विनय और दया की भावना है। उसके रूप में एक ऐसी नारी का चरित्र प्रकाशित हुआ है, जो पीड़ा में ही जन्म लेती है, पीड़ा में ही उसकी मृत्यु हो जाती है, पर वह अपने आदर्शों का त्याग नहीं करती। यदि प्रभा का अनमेल विवाह न होता, तो उसकी गृहस्थी इस प्रकार न उजड़ती, और न विवाहित जीवन में इस प्रकार का संघर्ष ही उत्पन्न होता। उसमें बहन की भी सारी पवित्र भावनाएं साकार हुई हैं, और वह अपनी विमाता के पुत्र को उसी प्रकार अपना स्नेह देती है, जैसे वह उसकी अपनी ही माता का पुत्र हो। प्रभा का चरित्र बड़ा सहानुभूतिपूर्ण है।

---

१. पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र" : जीजी जी, (१९४३), बनारस, पृ० ५०-५१।
२. पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र" : जीजी जी, (१९४३), बनारस, पृ० ८३।

अनमेल विवाह का और भी दुष्परिणाम नारी की स्वतन्त्रता के अपहरण के रूप में होता है। नारी सहिष्णुता की राह अपनाता है, पर अन्ततोगत्वा उसे पति की वासना एवं अन्याय के समक्ष विद्रोह करना पड़ता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो अंचल कृत 'उल्का' (१९४७) में नारी जीवन की पीड़ा एवं व्यथा से युक्त समस्याओं का मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। आत्म चरितात्मक शैली में लिखे गये इस उपन्यास की नायिका मंजु एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार में जन्म लेती है और कुण्ठाग्रस्त निराशा एवं अवसाद से परिपूर्ण तथा रूढ़ियों एवं परम्पराओं से ग्रस्त पारिवारिक वातावरण में उसका चरित्र विकसित होता है। वह चाँद नामक युवक से प्रेम करती है जो उसके जीवन का निर्देशक एवं साथी है। दोनों का प्रेम व्यक्तिवादी धरातल पर विकसित होता है। उन दोनों की अपनी व्यक्तिगत सृष्टि होती है, जिसमें उनके सपने पलते हैं, उनके विश्वासों को प्राण मिलता है और उनकी जीवन संवेदनाएं विकसित होती हैं। पर एक दिन उनकी यह सृष्टि ध्वस्त हो जाती है, जब दोनों का परस्पर विवाह नहीं हो पाता। मंजु का विवाह किशोर से हो जाता है। किशोर के जीवन का एक मात्र लक्ष्य वासना तृप्ति है। उसके लिये नारी केवल भोग की एक सामग्री मात्र है। उसके विचार अत्यन्त जड़ एवं असंस्कृत हैं। वह पूर्णतया असभ्य है। इस प्रकार अनमेल विवाह की वलिवेदी पर मंजु चढ़ा दी जाती है। विवाह की सामाजिक स्वीकृति एवं तत्सम्बन्धित परतन्त्रता की छाया में विकसित होने वाली नारी की विवशताएं, पारिवारिक कर्तव्य, परम्पराओं की गहरी दीवालें एवं जाति भेद की विषमताएं—मंजु के जीवन में विनाश के लिए यथेष्ट थीं। पर वह अपनी आत्मिक शक्ति खोती नहीं और निरन्तर संघर्ष करती रहती है अपने अधिकारों के लिए, अपनी स्थिति की स्वीकृति के लिये। चाँद की आदर्शवादिता उसके और मंजु के परस्पर प्रेम को भैया और बहन के प्रेम का रूप प्रदान कर देता है, और मंजु कर्तव्य की वलिवेदी पर प्रेम का उत्सर्ग कर देती है। वह स्वीकार कर लेती है, "मेरा शरीर स्त्री का शरीर है। मेरा मन लाचारी का मन है। जो मिलता है वह मिलेगा। मुझे तो जन्मावधि सहते जाना है। चाहने न चाहने का कोई मूल्य नहीं है।"[1] यह नारी जीवन की चरम सहिष्णुता हो सकती है, पर प्रश्न उठता है कि क्या नारी जीवन का यही एक मात्र लक्ष्य है कि वह अन्याय सहन करे? अन्याय सहन करना पाप है। संसार के किसी भी व्यक्ति ने अन्याय सहन का समर्थन नहीं किया है। पर मंजु प्रारम्भ में काफी सहिष्णु बनने का प्रयत्न करती है। उसका मन कदाचित् इस बात के प्रति आशान्वित रहता है कि एक दिन उसका कामुक और लम्पट पति एक दिन उसके मन की भावनाओं को वास्तविक रूप से समझकर उसका सम्मान करेगा। पर किशोर पत्नी को अपनी निजी सम्पत्ति समझता है, और वह भी निर्जीव गठरी मात्र। उसकी कामुकता से धीरे-धीरे मंजु के मन में घृणा पल्लवित

१. अंचल : उल्का, (१९४७), इलाहाबाद, पृष्ठ ७०।

होने लगती है और उसी के साथ उसके मन में विद्रोह भी जन्म ले लेता है। वह सोचती है, "नारी केवल शरीर नहीं—केवल स्थूल क्षुधा और तृषा की गठरी नहीं। उसकी आत्मा में रहने के लिये भी कुछ चाहिये।"[1] इस प्रकार पति की कामुकता मंजु के जीवन में नया मोड़ उत्पन्न करती है।

मंजु के जीवन की विषमताओं का यहीं अन्त नहीं होता। किशोर अत्यन्त शंकालु और ईर्ष्यालु स्वभाव का व्यक्ति है। वह मंजु की प्रत्येक स्वतन्त्रता का हनन करता है। उसे किसी से मिलने या बोलने तक की मनाही कर देता है। वह प्रकाश नामक एक व्यक्ति से भी नहीं मिल पाती, जिससे उसका परिचय एक बार बनारस में हुआ था, और जो यह स्वीकारता है कि विवाह कहीं किसी के लगाने से लगता है या करवाने से होता है। जो इस प्रकार होते हैं, उन्हें मैं विवाह नहीं केवल परम्परा की गुलामी और चर्वितचर्वण मानता हूं।[2] प्रकाश के सहारे ही चांद भैया मंजु को छोड़कर विदेश गया था। अन्त में मंजु के मन का विद्रोह अपनी चरम सीमा पर पहुंचता है। वह पति का घर छोड़ देती है। मायके आकर आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बिनी बनने का प्रयत्न करती है। उसकी धारणा है: मैं उन औरतों में नहीं हूं जो अपने व्यक्तित्व का बलिदान करती घूमती हैं। जिनकी कोई मर्यादा और शील नहीं होता। मैं उनमें नहीं जिनका चरित्र अभी घूंघट के अन्दर ही पनप रहा है और पर-पुरुष की हवा लग जाने से ही बराबर हो जाता है। पत्नी को पति की आज्ञा माननी चाहिए। पर मैं पति की गुलामी करने को ही सच्चरित्रता नहीं मानती।... मुझमें आत्मनिर्भरता की कमी नहीं।"[3] मंजु इस प्रकार उस नयी नारी के स्वरूप का प्रतीक बन जाती है, जो अपनी स्वतन्त्रता का हनन किन्हीं भी परिस्थितियों में नहीं करना चाहती और मात्र पति की दासी बन कर झूठी सच्चरित्रता की बलिवेदी पर अपने जीवन को तोड़ना चाहती। वे आर्थिक समस्याओं को समाधान में अपने जीवन की दूसरी समस्याओं का समाधान खोजती हैं। मायके आकर अध्यापिका बन जाती है। प्रकाश उसकी सहायता करता है। पर समाज उन दोनों पर भी लांछन लगाने से बाज नहीं आता। क्षुब्ध होकर मंजु नागपुर चली जाती है। वहां एक होटल में अत्यन्त नाटकीय परिस्थितियों में उसकी भेंट अपने पति से हो जाती है, जो इस बीच विवाह कर चुका होता है। यह नारी की स्थिति पर बड़ा विद्रूप बन कर रह जाता है।

इस प्रकार मंजु की परिकल्पना की पृष्ठभूमि में प्रेम का वास्तविक स्वरूप, सामाजिक रूढ़ियों एवं विषमताओं के कारण उसकी विफलता और आदर्श की अनिवार्यता, अनमेल विवाह की असफलता एवं उसकी यातनाएं, नारी की पीड़ा

१. अंचल : उल्का (१९४७), इलाहाबाद, पृष्ठ १०९।
२. वही, पृष्ठ १६६।
३. वही, पृष्ठ १०१।

एवं अवसादग्रस्त जीवन, पुरुष की वासना, हवस एवं अन्याय तथा नारी की सम्भाव्य सीमाओं तक सहिष्णुता और फिर अतिक्रमण की स्थिति में अन्याय का विरोध, विद्रोह एवं आर्थिक रूप से स्वावलम्वी बनने की प्रयत्नशीलता अधिकांश रूप में क्रियाशील रहती है। मंजु ने इस सृष्टि का अन्याय सहा था, उसकी यातनाओं एवं पीड़ाओं को भोगा था। इसने उसकी चेतना को अनेक अनुभव प्रदान किये थे। तभी वह इसकी छाया में अपनी बच्ची का चरित्र विकसित करने का प्रयत्न करती है। वह कहती है, "फिर आज मेरे जीवन-धारण का एक उद्देश्य है। मुझे अपनी सन्तान को पालना है...उसे दुनिया से संघर्ष करना सिखाना है। जन्म से वह सामाजिक कलंक के आवरण से ढंकी-ढंकी आयी...लेकिन मैं जानती हूँ वह क्या है?—कैसी है—कहाँ से आयी है।"[1] पर इतना सब होते हुए मंजु पूर्णतया आधुनिक नहीं है। आधुनिक इस अर्थ में—जिससे सामान्यतः हम आज परिचित हैं। अर्थात् परम्पराओं, रूढ़ियों से युक्त फैशनपरस्ती एवं विलासिता में जीवन व्यतीत करना और पुरुष की सत्ता के प्रति अनावश्यक विद्रोह, अपने अन्तरमन के स्नेह, दया एवं कोमलता का नाश करना मंजु का ध्येय नहीं है। उसका ईश्वर पर भी कभी विश्वास नहीं टूटता। यद्यपि वह उससे दान के रूप में बराबर यातनाएं ही पाती है, पर वह उसकी सत्ता के प्रति आस्थावान् ही बनी रहती है। उसमें अद्भुत आत्मशक्ति भी है, साथ ही वह अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की घोषणा बराबर करती रहती है, पर उसके मन की कोमलता बराबर बनी रहती है। यहाँ तक कि नागपुर में प्रकाश द्वारा अपने पति की दुर्गति किए जाने के बावजूद और यह जानते हुए भी कि उसके पति ने दूसरा विवाह कर लिया है, उसके मन में अपने पति के प्रति कोमलता और संस्कार जन्य सहानुभूति उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार मनोवेगों द्वारा मंजु के व्यक्तित्व का विकास होता है। वह उस उल्का की भाँति है, जो अंधकार में प्रकाश की रश्मियाँ बिखेरती है, अंधे युग में अपनी जगह बनाने का प्रयत्न करती है और अन्तहीन राहों पर चलकर अपना लक्ष्य प्राप्त करती है। वह नई नारी की स्वतन्त्रता का प्रतीक बन जाती है।

विवाहित जीवन में पति की अपेक्षा प्रेमी को अधिक महत्व प्रदान करना

प्रत्येक व्यक्ति में अपना अहं, अपना आत्म सम्मान होता है, कुछ उसे महत्व देते हैं, कुछ नहीं देते हैं। जहाँ तक नारियों का सम्बन्ध है, जब उनमें नवीन चेतना एवं जागृति नहीं उत्पन्न हुई थी, उनकी शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार नहीं हुआ था, तब तक उन्हें स्वयं कदाचित् यह नहीं ज्ञात था कि व्यक्ति का अहं, और उसका आत्म-सम्मान भी कोई चीज़ होती है, जिसे व्यक्ति अधिकाशतः अत्यधिक महत्वपूर्ण मानता है। पर ब्रिटिश शासन की स्थापना के पश्चात् धीरे-धीरे स्थिति में जब परिवर्तन हुआ तो नारियों में भी अपने अहं एवं आत्मसम्मान की भावना उदित

---

१. अंचल : उल्का, (१९४७), इलाहाबाद, पृष्ठ २२३।

होने लगी, और उनकी रक्षा के प्रयत्न भी आरम्भ हुए। नारियों में पुरुष की तुलना में हीनता की जो ग्रंथि थी, वह भी समाप्त होने लगी, और वे पुरुषों की अपेक्षा अपने को अधिक प्रगतिशील एवं तीव्र चेतना-शक्ति सम्पन्न सिद्ध करने की चेष्टा करने लगीं। यह भावना यहाँ तक शक्ति प्राप्त करने लगी कि, नारियाँ किसी भी मूल्य पर पुरुषों के समक्ष अपने को पराजित होते नहीं देखना चाहती थीं, चाहे वे उनके पति ही क्यों न हों। वे पति के सम्मुख भी अपने स्वाभिमान एवं आत्मसम्मान की रक्षा तथा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रखने की चेष्टा करने लगीं, जिससे कि प्रायः पारिवारिक अशांति उत्पन्न हो जाती थी, और गृहस्थ जीवन की असफलता निश्चित ही रहती थी। ये नारियाँ पति को अपने विवाहित जीवन में विशेष महत्व नहीं देती थीं, और उनकी उपेक्षा तक करती थीं, कभी-कभी तो ऐसी भी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती थी, कि पति का कोई विशेष महत्व न होने पर, उसकी मृत्यु के पश्चात् एक वर्ष के अन्दर ही नारियाँ दूसरा विवाह भी कर लेती थीं। क्योंकि विवाहित जीवन में जब पति का विशेष महत्व होता है, वह परिवार का आलम्बन समझा जाता है, तो कम से कम उसकी मृत्यु के पश्चात् वर्ष दो वर्ष तो कोई नारी दूसरे विवाह की बात सोच भी नहीं सकती। कुछ नारियां तो विवाह के पश्चात् भी अपने प्रेमियों को पति से अधिक महत्व देती थीं, और कर्तव्य को तिलांजलि दे देती थीं। ऐसी नारियों को उपन्यासों में भी स्थान मिला है। अंचल के उपन्यास "चढ़ती धूप" (१९४५) की ममता ऐसी ही नायिका है, जिसके जीवन में पति का कोई विशेष महत्व नहीं है।

प्रेमचन्दोत्तर काल में नारियों का स्वतन्त्र अस्तित्व यथेष्ट मात्रा में विकसित हो चला था और अपने अधिकारों के प्रति वे पूर्ण रूप से सजग हो चुकी थीं। उनमें एक प्रकार का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण पनपने लगा था, और विवाह संस्था में वे आमूल चूल परिवर्तन की इच्छा प्रकट करने लगी थीं। वे केवल पति की दासी नहीं, अपितु दो स्वतन्त्र व्यक्तियों की तरह अपना जीवन-यापन करना चाहती थीं। अपने व्यक्तिगत जीवन में एक दूसरे का परस्पर हस्तक्षेप उन्हें पसन्द न था। ममता की परिकल्पना का स्रोत यही परिस्थितियाँ थीं। अपने घोर व्यक्तिवादी चरित्र के कारण वह हिन्दी साहित्य में अपने ढंग की अनूठी नायिका है। मोहन नामक एक युवक उसे पढ़ाता है, और दोनों अपने जीवन अधिकांश भाग एक साथ व्यतीत करते हैं, दोनों को अपने चरित्र पर पूर्ण विश्वास रहता है, दोनों के माता पिता का भी अपनी संतानों पर पूर्ण आत्मविश्वास है, और गाँव वालों को भी एक दूसरे की पवित्रता पर पूर्ण विश्वास है. तभी ममता अपने घर के द्वार पर खड़ी रहती है, उसकी प्रतीक्षा करती है, और मोहन जब वहाँ पहुँच जाता है तो उसे बड़े प्यार से पान का बीड़ा बनाकर खिलाती है, पर गाँव वालों को इस पर कोई आपत्ति नहीं होती, क्योंकि मन ही मन जानते हैं कि मोहन और ममता का परस्पर विवाह एक न एक दिन होगा ही। पहले तो ममता को मोहन के प्रति अपनी घनिष्ठता में प्रेम जैसी कोई चीज नहीं अनुभव होती, पर एक दिन उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह

मोहन के बिना एक पल भी नहीं रह सकती, क्या उसकी और मोहन की राहें एक नहीं हो सकतीं। वह मोहन से इसका जिक्र भी करती है पर मोहन बड़ा ही आदर्शवादी युवक है। वह श्रम संगठनों में भाग लेता है, और सेवा की उच्च भावनाएं उसके अन्तरमन में हिलोरें मारती रहती हैं। वह ममता की भावुकता को दबा सकने में सफल हो जाता है, पर ममता के मन में वह विद्रोह बराबर बना रहता है कि वास्तव में उसे मोहन से ही विवाह करना चाहिए, वही उसका वास्तविक जीवन साथी बन सकता है, उसके बिना वह नहीं रह सकती। मोहन यह विद्रोह नष्ट करने में असमर्थ रहता है, पर उसके समझाने बुझाने से वह जबर्दस्ती दूसरे से विवाह करने पर तैयार हो जाती है। विवाह के पूर्व उसमें विनय और सहनशीलता के गुण पर्याप्त मात्रा में रहते हैं। उसके स्वभाव में भी यथेष्ट मात्रा में गम्भीरता रहती है।

पर विवाह के पश्चात् उसका स्वभाव एक दूसरी ही भिन्न दिशा ग्रहण कर लेता है। वह अब विनयशीलता और सहिष्णुता का जरा भी परिचय न दे पाती थी, और अपने पति को संतोष देने की बात कौन कहे, उसका अपमान तक कर देती है। इस पर भी वह व्यंग से कहती है, "मैंने आपका कोई अपमान नहीं किया। आप तो मेरे पति परमेश्वर हैं—स्वामी हैं—और न जाने क्या क्या हैं। इस लोक और परलोक के उद्धारक हैं।"[1] कोई भी व्यक्ति ऐसे कटु व्यंग को सहन न कर सकता था, पर ममता का पति केवल मन ही मन कुढ़ कर रह जाता है। वह ममता की तुलना में कम शिक्षित है, और ममता की तुलना में उसके मन में कुछ हीनता की भावना (Inferiority complex) भी है, जिससे वह प्रारम्भ में बराबर ममता के सम्मुख अप्रतिभ सा रहता था। पर जब ममता के व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं आता है तो वह भी अपने पुरुष होने के अधिकार को नहीं भुला पाता और परिणामस्वरूप हर बात पर दोनों में झगड़ा और अनाप शनाप बातों का आदान प्रदान होने लगा। सुहागरात के दिन भी वह अपने पति को अपना शरीर तक नहीं स्पर्श करने देती और उससे बोलती भी नहीं। एक दिन अचानक मोहन दिखाई पड़ गया, तो वह चिल्ला-चिल्ला कर उसे बुलाती है, और मोहन के पूछने पर कि उसका विवाहित जीवन किस प्रकार है, वह उत्तर देती है कि, "रोज आठ दस बातें हो जाती हैं। यह उनकी चारपाई है—वह मेरी। प्रवृत्ति नहीं होती कि उनसे बात करूं। कभी कुछ पूछते हैं तो उत्तर दे देती हूं।······मैं उन्हें शरीर का स्पर्श भी नहीं करने देना चाहती। मन देना तो दूर रहा। उसका कभी प्रश्न ही नहीं उठता—न उठेगा। उन्हें तन देने में ऐसी ग्लानि और सत्यानाशी लज्जा आती है कि अपनी निगाह में मैं तत्काल जलकर क्षार हो जाती हूं।"[2] यह शब्द ऐसे हैं, जिन्हें प्रेमचन्द काल में कोई उपन्यासकार कदाचित् अपनी नायिका से कहलाना सोच

१. अंचल : चढ़ती धूप, (१९४५), इलाहाबाद, पृष्ठ १४६।

२. अंचल : चढ़ती धूप, (१९४५), इलाहाबाद, पृष्ठ १८५-१८६।

भी नहीं सकता था। उस समय समाज में नारियों की ऐसी स्थिति थी भी नहीं। मोहन ममता को समझाने का प्रयत्न करता है, और उसे उसके विवाहित जीवन के कर्त्तव्य के प्रति सचेत करता है तो ममता उत्तर देती है, "ऐसी बात न करो। मैं सदैव तुम्हारी थी—मेरे पूरे अस्तित्व पर—मेरी सम्पूर्ण सत्ता पर तुम्हारा अधिकार है। तुम जो कहोगे वही होगा। आज से मैं सारा शरीर उनके आगे फेंक दूंगी। पर मन—मन—मन के विषय में कोई "अन्डरटेकिंग" देने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है भैया। यहीं मैं विवश हूँ। यहीं संसार की प्रत्येक सती विवश हो जाती है। यही मैं लाचार हूँ। तुम विश्वास करो—मैं पूरा यत्न करूंगी कि अपनी सारी विषय-गामिनी वृत्तियों को एकाग्र कर अपने मन के भीतर बहते सारे उल्टे स्रोतों को उनकी ओर ले चलूं। आज तक उनसे अपने को बचाती फिरती थी। अब अपने से अपने को बचाऊंगी।"[1] यह ममता का एक प्रकार का झूठा दम्भ नहीं तो और क्या है? विवाहित होने पर भी अपने को पर पुरुष के सम्मुख इस रूप में प्रस्तुत करने के पश्चात् भी वह अपने को सही समझती है। यह भारतीय प्रचलित परम्पराओं से निश्चित रूप से एक विद्रोह था, और अंचल ने नारी को एक नये मार्ग पर ला खड़ा कर दिया था। जहाँ वह विवाहित होने के बावजूद भी दूसरे पुरुष से प्रेम कर उसका अपने ऊपर पूर्ण अस्तित्व सिद्ध करती है और तिस पर भी वह अपने को सती होने का दावा करती है। मोहन की बात का इतना प्रभाव ममता पर पड़ता है कि वह उसी रात अपने पति के बगल में स्वयं जा लेटती है, और पूर्ण आत्म-समर्पण कर देती है।

पर पति को मोहन के आने पर आपत्ति होती है, तो भी ममता ज़रा भी विचलित नहीं होती, और पति के लाख असन्तुष्ट और क्रोधित होने पर भी वह मोहन की महानता सिद्ध करती जाती है। वह तो यहाँ तक कह देती है, "आप मुझे धमकियाँ देते हैं। आपकी दो रोटियों के लिए मैं अपनी आत्मा के सबसे बड़े सौन्दर्य—जीवन के सबसे बड़े सत्य—छाती के सबसे बड़े अंग को काट कर फेंक दूंगी? जानते नहीं औरत का यही सबसे बड़ा धन होता है जो आसानी से नहीं छूटता। जिस महान् आत्मा के पैरों की धूल भी आप नहीं हैं—न हो सकते हैं—उस पर कलंक लगाने चले हैं। उस व्यक्ति पर आप आक्षेप करते हैं—मेरे सामने—मुझे सुना सुना कर—जो चाहता तो मुझे कोठे पर बैठा कर वेश्या का पेशा करा सकता है। जिसके एक इंगित पर मैं पशु को भी अपना तन दे सकती हूँ। (कदाचित हूँ?) जो मेरे जीवन के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक का स्वामी है। पर बात यहीं नहीं समाप्त होती।[2] गोली लगने से मोहन की मृत्यु हो जाती है तो ममता विलाप करते हुए कहती है—"...मैं लुट गई। हाय। मेरे भैया चले

१. अंचल : चढ़ती धूप, (१९४५), इलाहाबाद, पृष्ठ १८६।
२. अंचल : चढ़ती धूप, (१९४५) इलाहाबाद, पृ० २८२।

गये···चले गये···चले गये···अब कहाँ देखने को मिलेंगे···पूरे जन्म को चले गये···" में कहीं की न रही···मेरा सोहाग मिट गया···मेरी आत्मा कट गई···मेरा जीवन विधवा हो गया।···शोक में उन्मत्त ममता ने मस्तक का सिंदूर पोंछ डाला—हाथ की चूड़ियाँ एक एक कर तोड़ने लगीं।···मैं विधवा हो गई···यह सब अब न पहनूंगी···पहनूंगी तो···पागल हो जाऊंगी···।[1] ममता का यह रूप चाहे जितना ही "प्रगतिवादी" क्यों न हो, और उसके विचार चाहे कितने ही "क्रान्तिकारी" क्यों न हों वह भारतीय परम्पराओं के किंचित मात्र भी अनुकूल नहीं है। पति के रहते हुए भी वह मोहन की मृत्यु पर अपने माथे का सिन्दूर पोंछ डालती है, चूड़ियाँ तोड़ती है, और अपने को विधवा कहती है। भारतीय नारी कितनी भी विद्रोहिणी क्यों न हो जाए, अपने पति के सम्मुख यह कदापि नहीं कह सकेगी कि आपका मेरे ऊपर कोई अधिकार नहीं है, और एक पर पुरुष चाहे तो कोठे पर बिठा कर उससे वेश्यावृत्ति तक करा सकता है। वास्तव में लेखक का उद्देश्य नारी के नवीन दृष्टि-कोण को प्रस्तुत करना था, पर इसमें वे पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाए, क्योंकि विवाह के पश्चात् ममता प्रायः सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती है। और यह सभी स्वीकार करेंगे कि शिष्टता, मर्यादा और स्नेहपूर्ण ममता नारी के प्रधान गुण हैं, जिससे वंचित होने पर उसका अस्तित्व बस शून्य की भाँति ही रह जाता है।

आभूषण प्रेम और गृहस्थ जीवन की असफलता

भारतीय नारियों के जीवन में आभूषणों का अत्यधिक महत्व पहले से ही बहुत अधिक रहा है, और आज इतनी प्रगतिशीलता के बावजूद भी वह महत्व बहुत कम नहीं हो पाया है। हर नारी की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि उसके पास आधुनिकतम फैशन के अधिकाधिक आभूषण हो जाएं, और समाज की, पास-पड़ोस की अन्य नारियों के समक्ष उसका मस्तक गौरव से ऊंचा हो सके। आभूषण-प्रेम का होना कोई बुरी बात नहीं, पर जब सीमाओं का अतिक्रमण हो जाता है, तो वह प्रेम अत्यन्त हानिकर हो जाता है, और वह विवाहित जीवन में अभिशाप के रूप में व्याप्त हो जाता है, विशेष रूप से, जब कि पति की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं रहती, और उसे अपने पत्नी का मन रखने के लिए दूसरों से उधार लेकर आभूषण बनवाने पड़ते हैं। समाज में ऐसी नारियों की कमी नहीं, जो अपने पति की स्थिति भली-भाँति न समझकर आभूषणों पर जान दिये रहती हैं, पति से रूठती रहती हैं, अपना असंतोष प्रकट करती रहती हैं जिससे परिवार की सुख-शांति नष्ट हो जाती है। जालपा (गबन) ऐसी ही नायिका है, जिसका अत्यधिक आभूषण प्रेम एक दिन ऐसा रंग लाता है, कि पति को घर छोड़ कर भाग जाना पड़ता है।

जालपा सामन्ती वर्ग में पालित-पोषित युवती है। आभूषणों के प्रति उसे बचपन से ही अपार मोह है। चन्द्रहार की चाह उसे बाल्यावस्था से ही थी, और

---

१. अंचल : चढ़ती धूप, (१९४५), इलाहाबाद, पृष्ठ ३२८-३२९।

तभी से वह आशा करती थी कि उसके विवाह में भी वरपक्ष की ओर से चन्द्रहार आवेगा। पर विवाह में उसके दुर्भाग्य (?) से चन्द्रहार नहीं आता है। इसकी उसके मन पर गहरी प्रतिक्रिया होती है और वह मानसिक विक्षिप्त क्षोभ और गहन निराशा में बुझी हुई ही अपने ससुराल जाती है। उसका यह आभूषण प्रेम ही एक प्रकार से उसके मुख्य चरित्र को निर्मित करता है। आभूषणों का मोह उसके मन में अनायास ही नहीं उत्पन्न हुआ है। तीन वर्ष की अल्पायु में ही उसे सोने के कड़े बनवाए गए थे। वृद्धा दादी जब उसे गोद में लेकर खिलाती थी तो भी बात गहनों की ही करती थी। और उस अबोध और अजाने आयु की बालिका के मन में यह बात बैठती गई थी कि आभूषणों का नारी जीवन में बड़ा महत्व होता है। जिस नारी के पास ढेर सारे आभूषण होते हैं, वह सौभाग्यशाली होती है, बिना आभूषणों के जीवन नरक के सदृश होता है। जब वह अपनी आयु के साथ बढ़ती गई तो भी आभूषणों की चर्चा उसके सम्मुख बराबर ही बनी रही। वह बड़ी उम्र की महिलाओं के मध्य बैठ कर उनके आभूषण सम्बन्धी विचार सुनती। वह नारियों के जिस वर्ग से सम्बन्धित थी, वह जब भी मिलता था वहाँ केवल आभूषणों की चर्चा ही होती थी। इस प्रकार जाने-अनजाने इसकी गहरी प्रतिक्रिया जालपा पर होती गई।

यों जालपा बहुत ही स्पष्ट हृदय की है। उसके मन में किसी प्रकार का कोई मैल नहीं रहता। वह कोई गलत आचरण करती भी है तो अपनी त्रुटि का आभास होते ही वह उस पर पश्चाताप भी करती है। पर उसका आभूषण प्रेम सदैव ही उसकी चारित्रिक प्रगति की राह में आता है। वह अपनी सहेलियों को झोंक में पत्र लिखती है कि उसका जीवन पहाड़ हो गया है बिताए नहीं बीतता। न रात को नींद आती है, न दिन को आराम। मुझसे वादे रोज किए जाते हैं, रुपये जमा हो हैं, सुनार ठीक किया जा रहा है, डिजाइन तय किया जा रहा है, पर यह सब धोखा है, और कुछ नहीं। लिखने को तो वह यह पत्र लिख देती है, पर उसे बाद में अनुभव होता है कि एक विवाहित नारी को इस प्रकार का पत्र अपने पतिगृह के सम्बन्ध में किसी अन्य को नहीं लिखना चाहिए। वह इस पर पश्चाताप करती है, और अपने पति रमानाथ से कहती भी है—"मुझसे बड़ा भारी अपराध हुआ है। जो चाहे सज़ा दो, पर मुझसे अप्रसन्न मत हो। ईश्वर जानते हैं, तुम्हारे जाने के बाद मुझे कितना दुख हुआ। मेरी कलम से जाने कैसे ऐसी बातें निकल गयीं।"[1] यह बात केवल रमानाथ को प्रभावित करने के लिए ऊपरी तौर से नहीं कही गई थी। जालपा ने सच्चे हृदय से यह बात पूर्ण निश्छलता से कही थी।

जालपा में थोड़ा बड़प्पन भी है। वह अपनी कोई विशेष चीज़ अपने ही तक सीमित नहीं रखना चाहती, पास पड़ोस, पूरे मुहल्ले को उसे दिखा कर उन पर अपना बड़प्पन जताना चाहती है। वह अपना सम्मान चाहती है, अपने रूप और

१. प्रेमचन्द : गबन, (१९३०), बनारस, पृ० ५७।

सौन्दर्य की प्रशंसा चाहती है। जब उसके पास आभूषण आ जाते हैं तो वह पूरे मुहल्ले में आने जाने लगती है। लोगों के रिक्शे का किराया स्वयं दे उनके साथ घूमने जाती है। मुहल्ले वालियां उसे आदर एवं सम्मान का वह स्थान दे देती हैं जिसकी वह भूखी थी। पर एक दिन सराफ जब गहनों के लिए तकाजा करने आता है तो रमानाथ को उसके पिता कड़ी फटकार सुनाते हैं। जालपा को तभी अपने पति की वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है। उसकी बन्द आँखें तभी मानों खुलती हैं वह स्पष्टतया अपने पति से कहती है कि अगर मैंने गलती की है तो उसे पुरुष होने के नाते तो सोच समझ कर काम लेना चाहिए था। जालपा वस्तुतः मोम की बनी है। उसे पिघला कर किसी भी साँचे में ढाला जा सकता है। यद्यपि उसके मन पर आभूषणों की गहरी प्रतिक्रिया है और वह यदि स्पष्ट रूप से अपने पति से गहनों की माँग नहीं करती है, तो कभी उसने अपनी इस इच्छा को अस्वीकार भी नहीं किया। इसे वह स्वयं ही स्वीकार भी करती है। पर उसकी इस दुर्बलता के लिए स्वयं जालपा को दोषी नहीं सिद्ध किया जा सकता। इसमें सारा अपराध रमानाथ का ही था। वह यदि अपने परिवार की आर्थिक परिस्थिति का इतना लम्बा चौड़ा रूप बखान कर अपने को समर्थ और धनी न सिद्ध करता तो निश्चित रूप से वह उतनी ही आदर्श और दृढ़ जालपा सिद्ध होती जितनी कि आदर्श और दृढ़ जालपा अपने पति की वास्तविक स्थिति से परिचित होने के पश्चात् है। वह प्रारम्भ में कुछ दिन अवश्य ही आभूषणों के न होने से दुखी होती, उदास होती, इसके अतिरिक्त वह कुछ और न करती। कम से कम रमानाथ की वह स्थिति तो न होती जो बाद में होती है।

जालपा में आत्मसम्मान की भावना जबर्दस्त रूप में है। उसका पति रमानाथ भावुकता के प्रवाह में बहता चला जाता है, उसमें आत्मशक्ति जरा भी नहीं है पर जालपा में ऐसी बात नहीं है। उसमें आत्मशक्ति की दृढ़ता है। जब वह घर की वास्तविक परिस्थिति जान लेती है, तो वह अभूषणों के प्रेम को त्याग देती है और अपने पति को पूर्णतया विनाश के गर्त में गिरने से रोकने और उसे परिस्थितियों से ऊपर उठाने की दिशा में प्रयास करती है। यहाँ पर कदाचित् प्रेमचन्द की एक अन्य नारीपात्र निर्मला होती तो आत्मव्यथा में ही घुल घुल कर जान देती; मुँह से कुछ भी न कहती। पर इसके विपरीत जालपा क्रियाशीला नारी है। वह हाथ पर हाथ धर कर बैठी ही नहीं रह जाती। शतरंज सम्बन्धी विज्ञापन से उसने अपने पति को खोज निकाल कर अपनी बुद्धि की कुशलता का परिचय दिया है। प्रश्न है कि क्या किसी में इस प्रकार का आकस्मिक परिवर्तन हो सकता है। प्रायः कहा गया है कि जालपा का यह चरित्र परिवर्तन पूर्णतया अस्वाभाविक है। यह भी कहा गया है कि प्रेमचन्द ने उसे एक दुर्बल मानवी से सहसा एक अलौकिक दिव्यता दे दी है, जो कुछ अतिरंजित प्रतीत होती है। यह भी प्रायः कहा जाता है कि प्रारम्भ में तो जालपा का चरित्र यथार्थवादी है, पर बाद में चल कर वह यथार्थ की कठोरभूमि की नहीं रह

जाती। पर यदि जालपा के इस चरित्र परिवर्तन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाय तो सारे आरोप निराधार प्रमाणित होंगे। जालपा के चरित्र में बाल्यावस्था से केवल एक ही अवरोध है, उसका आभूषणों का प्रेम। उसके अवचेतन (unconscious) मन पर उसकी गहरी प्रतिक्रिया अंकित रहती है, और अवचेतन (unconscious) मन की यही कुंठा उनके चरित्र को पूर्णतया विकसित नहीं होने देती। उसका बहका हुआ मन एक आलम्बन चाहता था जिसके आश्रय से वह आगे बढ़ सकती। रमानाथ में उसकी यह इच्छा पूर्ण नहीं हुई, क्योंकि रमानाथ स्वयं ही दृढ़ इच्छा शक्ति का न था। उसे स्वयं ही आलम्बन की आवश्यकता थी, वह जालपा को भला क्या आश्रय देता? पर जब जालपा के मन की यह ग्रंथि खुल जाती है, उसकी कुंठा दूर हो जाती है तो जैसे उसे दिशा प्राप्त हो जाती है और फिर वह अपनी राह चलती है। उसका यह चरित्र अत्यन्त स्वाभाविक परिस्थितियों में हुआ है। यदि उसे असत्यता और अस्वाभाविकता से आरोपित किया जाय तो यह बुद्धि के दिवालिएपन के अतिरिक्त कुछ और न होगा।

जालपा आत्मगौरव की भावना से ओतःप्रोत है। वह अपयश नहीं लेना चाहती और न अपने पति के सिर पर अपयश की छाया देखना चाहती है। वह चरित्र निष्ठा और आत्मिक बल पर विश्वास करने वाली नारी है। जब वह सुनती है कि रमानाथ मुखबिरी करने पर तैयार हो गया है तो वह कहती है "दादा मैं उन्हें पुलिस के पंजे से बचाने का बीड़ा नहीं लेती। मैं केवल यह चाहती हूँ कि अपयश से उन्हें बचा लूँ। उनके हाथों इतने घरों की बरबादी होते नहीं देख सकती। अगर वह सचमुच डकैतियों में शरीक होते, तब भी मैं, यही चाहती कि वह अंत तक अपने साथियों के साथ रहें, और जो सिर पर पड़े, उसे खुशी से झेलें। मैं यह कभी पसन्द न करती कि वह दूसरों को दगा देकर मुखबिर बन जायं। लेकिन यह मामला तो बिल्कुल झूठा है। मैं यह किसी तरह नहीं बर्दाश्त कर सकती। कि वह अपने स्वार्थ के लिए झूठी गवाही दें? अगर उन्होंने खुद अपना बयान न बदला तो मैं अदालत में जाकर सारा कच्चा चिट्ठा खोल दूंगी, चाहे नतीजा कुछ भी हो, वह हमेशा के लिए मुझे त्याग दें, मेरी सूरत न देखें, यह मुझे मन्जूर है, पर यह नहीं हो सकता कि वह इतना बड़ा कलंक माथे पर लगायें।"[1]

जालपा में साहस एवं आत्मविश्वास के गुण अभूतपूर्व हैं। त्याग एवं सेवा भाव से ओतःप्रोत वह सहिष्णुता की जीवित मूर्ति बन जाती है। वही जालपा जो अपने घर में बात-बात पर मान करती थी, भुनभुनाती थी, किसी काम में हाथ न लगाती थी, अब अंधेरे सारे घर में झाड़ू लगा आती, चौका बरतन कर डालती, आटा गूंद कर रख देती, चूल्हा जला देती। उसके बाद वह उसी दिनेश के घर जाती है, जिसे फांसी की सजा रमानाथ के बयान पर हो जाती है। वह उसके दो बच्चे,

1. प्रेमचन्द : गबन, (१६३०), बनारस, पृ० २४७।

पत्नी और माँ के परिवार के भरण-पोषण के लिए बड़े-बड़े आदमियों से चन्दा एकत्रित करती है, उनकी सहायता करती है। इन सब बातों से ही प्रायः उसे देवी कहा गया और उसके चरित्र परिवर्तन को अस्वाभाविक बताया गया है। पर जैसे वह एक स्थान पर स्वयं ही अपने को इस आरोप से मुक्त करती हुई कहती है "यह मैं नहीं कहती कि भोग विलास से मेरा जी भर गया, या गहने कपड़े से मैं ऊब गई या सैर तमाशे से मुझे घृणा हो गई। यह सब अभिलाषाएँ ज्यों की त्यों हैं। पुरुषार्थ से, अपने परिश्रम से, अपने सदुद्योग से उन्हें पूरा कर सको, तो क्या कहना, लेकिन नीयत खोटी करके, आत्मा को कलुषित करके एक लाख भी लाओ, तो मैं ठुकरा दूंगी।"[1] सच तो यह है कि प्रारम्भ में जालपा का चरित्र जो अंधकार में रहता है वह केवल रमानाथ द्वारा निर्मित भ्रमपूर्ण वातावरण और आभूषण प्रेम की जालपा के अवचेतन मन पर प्रतिक्रिया के कारण ही होती है। पर ज्यों ही काला भ्रमपूर्ण वातावरण टूट जाता है, जालपा के अवचेतन मन की ग्रंथि खुल जाती है, जालपा का चरित्र पूर्णतया स्वाभाविक ढंग से ही विकसित होता है। यहाँ जालपा को नायिका इसीलिए माना गया है, प्रारम्भ के कुछ अंशों को छोड़कर, जब रमानाथ कलकत्ता भाग जाता है, तब से कथानक के सारे सूत्र जालपा के ही हाथों में रहते हैं, और वह उपन्यास पर एक प्रकार से छाई रहती है, और कथानक को अनेक दिशाएं प्रदान करती है।

मूल्यांकन

इन सभी नायिकाओं की यदि परस्पर तुलना की जाय, तो एक प्रमुख बात यह स्पष्ट होती है, कि "चढ़ती धूप" की नायिका ममता, को छोड़कर शेष सभी भारतीय नारियों की गौरवशाली परम्पराओं में गहन आस्था रखने वाली हैं, तथा सभी में अपने गृहस्थ जीवन को सफल बनाने, तथा अपने पति के प्रति भक्ति का आग्रह है। उनमें किसी प्रकार का विद्रोह नहीं है। यहाँ तक कि सुनीता, जो विवाहित होने पर भी हरिप्रसन्न के अत्यन्त निकट सम्पर्क में आती है, अपनी मर्यादाओं का त्याग नहीं करती और न परिस्थितियों से विद्रोह ही करती है। वह अपने पातिव्रत्य का पालन करने की पूर्ण चेष्टा करती है, और अपने जीवन की पवित्रता बनाए रखती है—

इसके विपरीत ममता, समाज के सम्मुख अत्यन्त अस्वस्थ एवं घृणित चित्र उपस्थित करती है। ममता ने अपने पति और प्रेमी को लेकर जो बातें कहीं हैं, वे तो बिल्कुल अनर्गल प्रलाप सी लगती हैं। अभी भी समय इतना नहीं बदल गया है, कि एक भारतीय नारी अपने पति से कह दे, कि वह उसके प्रेमी के पाँवों की धूल के बराबर भी नहीं है, और वह प्रेमी अब भी चाहे तो उससे वेश्यावृत्ति करा सकता है। वास्तव में ऐसी नायिकाएं समाज की प्रगतिशीलता की दृष्टि से बाधा उपस्थित

---

१. प्रेमचन्द : गबन (१९३०) बनारस पृ० २५७।

करती हैं। विशेषकर आज के युग में, जबकि उपन्यास इतने लोकप्रिय हो गए हैं, और अधिकांश पाठक आज उपन्यासों को मात्र मनोरंजन की दृष्टि से ही नहीं पढ़ते, वरन् वे उपन्यासकार के गहन अध्ययन, उसके संचित ज्ञान और अनुभव से तादात्म्य स्थापित कर लाभ उठाना चाहते हैं। ऐसी दृष्टि से उपन्यासकारों का यह प्रमुख कर्तव्य हो जाता है कि सामाजिक नव-निर्माण की दृष्टि से वे ऐसी स्वस्थ नायिकाओं की परिकल्पना करें, जो असंख्य नारी पाठकों को प्रेरणा दे सकने, और उनका मार्ग प्रशस्त कर सकने में समर्थ हों। हमारे अन्दर जो कुरूपताएं हैं, उनके चित्रण को भला कौन अस्वाभाविक और असंगत कह सकता है। पर इतना निश्चित है कि केवल कल्पनाशील एवं अस्वाभाविक कुरूपताओं का चित्रण कर उस पर बल प्रदान करना सामाजिक उत्थान की दृष्टि से अत्यन्त हानिप्रद होता है। उपन्यासकारों को अपने महती उत्तरदायित्व को समझ कर इससे बचने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे वे समाज को भावी दिशा प्रदान कर सकें। ममता जैसी नायिकाएं जिस प्रकार का आचरण करती है, हो सकता है कि एक प्रतिशत नारियां हमारे समाज में वैसी हों। पर उपन्यासकार का दायित्व उन एक प्रतिशत नारियों का चित्रण करना ही तो नहीं होता। यह तो समाज के भीतर से एक ऐसी कहानी निर्वाचन करता है, जो उसके असंख्य पाठकों की आंखें खोल उन्हें उनकी कठिनाइयों का समाधान प्रदान कर सके।

इसीलिए प्रेमचन्द काल नायिकाओं में, और कुछ सीमा तक उनके सम-सामयिक अन्य उपन्यासकारों में सदैव इस बात की प्रवृत्ति थी, कि नारियों का चित्रण करते समय उनके जीवन की विशेषताओं एवं कुरूपताओं का संतुलित चित्रण करना ही उनका उद्देश्य होता था, और अन्त में वे नारियों के समक्ष एक महान् आदर्श रखने, उनकी जीवन की मर्यादाओं को सशक्त करने तथा ऊंचे उठने की भावना जागरित करने का महान् उत्तरदायित्व पूर्ण करते थे। वास्तव में यही साहित्य का वास्तविक उद्देश्य पूर्ण करता है, तथा साथ ही समाज की दृष्टि से कल्याणप्रद भी है।

अध्याय ७

अन्य नायिकाएं

पीछे के दो अध्यायों में प्रेमिकाओं और गृहस्थ नायिकाओं का विवरण दिया जा चुका है। इसके अतिरिक्त समाज में नारी के अन्य रूप भी होते हैं, यथा, वेश्याएं नर्तकी नारियाँ, फैशनपरस्त विलासिनी नारियाँ, वीरांगनाएं और राजनीति में भाग लेने वाली नारियाँ आदि भी होती है। उपन्यासों में उनको भी नायिकाओं के रूप में कल्पित किया गया है यद्यपि उनकी संख्या कम ही है। इस अध्याय में ऐसी ही अन्य प्रकार की नायिकाओं का अध्ययन किया गया है। निम्नलिखित उपन्यासों में ऐसी नायिकाओं के रूप प्राप्त होते हैं—

१ प्रेमचन्द : सेवासदन (१९१६), २. भगवती चरण वर्मा : चित्रलेखा (१९३४), ३. ऋषभ चरण जैन : तपोभूमि (१९३८), ४. इलाचन्द्र जोशी : लज्जा (सं० २००४ वि०), ५. भगवती प्रसाद वाजपेयी : त्यागमयी (१९४०), ६. चतुरसेन शास्त्री : नीलमणि (१९४०), ७. यशपाल : दिव्या (१९४५), वृन्दावनलाल वर्मा : झाँसी की रानी (१९४६)।

यह अत्यन्त खेद का विषय है कि अभी उपन्यासों में प्रेमिकाओं और गृहिणी नारियों को छोड़कर अन्य ऐसी नारियों, जिनका समाज में अपना प्रमुख अस्तित्व है, कम चित्रित किया जा रहा है, और उपन्यासों में उन्हें महत्व नहीं प्रदान हो रहा है। वेश्या-वृत्ति हमारे समाज की एक प्रमुख समस्या है, जिसकी ओर चितकों, विचारकों एवं राजनीतिक नेताओं का ध्यान बराबर जाता रहा है, और वेश्यावृत्ति को समाप्त करने के उपाय खोजे जाते रहे हैं। पर यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि आलोच्य-काल में भारतेन्दु युग से लेकर १९४७ तक एक भी ऐसा उपन्यास नहीं प्राप्त होता, जिसमें किसी वेश्या को ही नायिका बनाया गया हो, और वेश्या जीवन की समस्याओं का यथार्थवादी चित्रण कर उनका समाधान उपस्थित किया गया हो। यद्यपि घनीराम "प्रेम" कृत "वेश्या का हृदय" पाँडेय बेचनशर्मा कृत "दिल्ली का दलाल" (१९२७) में इस का प्रयत्न किया गया है, और वेश्या नारियों के जीवन, उनकी समस्याओं उनकी आन्तरिक भावनाओं, तथा अपने गन्दे एवं घृणित पेशे से बाहर निकलने की उनकी उत्कंट लालसा का यथार्थवादी ढंग से चित्रण किया गया है, पर इसके बावजूद भी नायिकाओं की उस रूप में कल्पना नहीं की गई है, जिससे उनका यहाँ अध्ययन

प्रस्तुत किया जा सके। यद्यपि घनीराम "प्रेम" ने अपने उपन्यास में एक वेश्या का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है, पर कथानक के सारे सूत्र उसके हाथ में नहीं रहते, और वह एक प्रमुख नारी पात्र ही बनकर रह जाती है। "सेवासदन" में यद्यपि सुमन कुछ समय तक वेश्या रहती है, पर इतना निश्चित है कि वह वेश्यावृत्ति पर लिखा गया उपन्यास नहीं है। उसमें नारी जीवन की अन्य समस्याओं की भाँति चलते-चलते वेश्यावृत्ति को भी स्पर्श कर लिया गया है, तथा दो चार लम्बी स्पीचें पृष्ठ के दायरे में फिट कर दी गई हैं। भारत के स्वाधीनता आन्दोलन में असंख्य नारियों ने भाग लिया, और तन-मन-धन से राष्ट्र की सेवा की। उनके बलिदान की कहानी कभी भुलाई नहीं जा सकती, वे हमारी स्वाधीनता की नींव में पत्थरों के समान हैं, जिन्होंने हमारे स्वतन्त्रता आन्दोलन को शक्ति प्रदान की। ऐसी नायिकाओं का चित्रण भी प्रायः नहीं के बराबर ही हुआ है। "कर्मभूमि" में सुखदा के रूप में ऐसे थोड़े से संकेत प्राप्त होते हैं, पर यदि यथार्थवादी ढंग से उसे परखा जाय तो यह स्पष्ट है, कि राजनीति सुखदा का वास्तविक जीवन न था, वह तो उसके अहं पर निरन्तर पड़ते रहने वाले आघात का परिणाम था। वीर चरित्र की नायिकाओं की कल्पना भी "झाँसी की रानी" छोड़कर किसी भी उपन्यास में नहीं हुई है। एक तो अपने यहाँ ऐतिहासिक उपन्यास लिखे ही कम जाते हैं, और लिखे भी जाते हैं, तो उनमें आदर्श चरित्रों की अवतारणा नहीं की जाती। रजपूती आन-बान और नारियों के जौहर एवं बलिदान की कहानियाँ आज भी अमर हैं। उपन्यास में ऐसी नायिकाओं की परिकल्पना कर आज नारियों में गिरते हुये नैतिक पतन को बहुत कुछ सीमा तक रोका जा सकता है। उस गौरवपूर्ण अतीत का नये सिरे से स्मरण कर आज भारतीय नारियों के जीवन में काफी प्रेरणा उत्पन्न की जा सकती है।

अन्य नायिकाओं के रूप में हमें नारी की निम्न समस्याओं का अध्ययन एवं विश्लेषण प्राप्त होता है।

१. वास्तविक नारी शिक्षा का अभाव
२. महान् उद्देश्य के लिए जीवन का बलिदान
३. जीवन में अत्यधिक आधुनिकता
४. पति की मृत्यु के पश्चात् जीवन में संघर्ष
५. नर्तकी नारियों द्वारा साधारण दाम्पत्य जीवन को महत्व प्रदान करना।

वास्तविक नारी शिक्षा का अभाव

विवाहोपरान्त नारियों के ऊपर अनेक गहन उत्तरदायित्व आ जाते हैं, जिनमें गृहस्थ जीवन का कुशलता से संचालन एवं उसकी सफलता का प्रमुख स्थान होता है। इसके लिए विवाह पूर्व केवल पुस्तकीय शिक्षा ही उनके लिए पर्याप्त नहीं होती, अपितु व्यवहारिक शिक्षा की भी बड़ी आवश्यकता होती है। अध्याय एक में इस बात का उल्लेख किया जा चुका है, कि अंग्रेजों के आगमन के समय भारत में ऐसे

स्कूल प्रायः नहीं थे, जिनमें मितव्ययता, परिवार संचालन, शिशु रक्षा, स्वच्छन्दता एवं भोजन बनाने आदि की शिक्षाएं दी जाती हों, जबकि विदेशों में इस प्रकार के अनेक स्कूल थे। माता-पिता अपनी लाड़ली बेटियों को इतना प्यार करते थे, कि सीमा का एक प्रकार से अतिक्रमण हो जाता था, और लड़कियों के संस्कार इस प्रकार के निर्मित हो जाते थे, जिसमें नित्य नए वस्त्रों को पहनने, अधिक आभूषणों के होने के कामना, चटोरी जीभ, और दूसरों से बढ़-चढ़कर रहने की लालसा प्रमुख हो जाती थी, और बड़ी होने पर लड़कियाँ अपने को व्यवहारिक शिक्षा से शून्य पाती थीं। स्वयं माता-पिता तो इसकी ओर ध्यान देते ही नहीं थे, और कहीं से उनके निर्देशन पाने की संभावना होती ही नहीं थी, इसका परिणाम यह होता था, कि जब ये लड़कियां विवाह के पश्चात् पति के गृह जाती थीं, तो उनके पास जीवन की वास्तविक शिक्षा एवं अनुभव नहीं होते थे, और गृहस्थ जीवन में विषमता उत्पन्न हो जाती थी। गृहस्थी तो प्रायः नष्ट ही हो जाती थी, क्योंकि जब गृहिणी स्वयं ही पति की आंखें चुराकर दोने साफ करने, और बिना किसी विशेष संयोजन के अभाव में भी पैसे खर्च करने पर प्रवृत्त हो जाय, तो गृहस्थ जीवन की असफलता अनिश्चित ही रहती थी। इसके और भी दुष्परिणाम होते थे। पति क्रोध में आकर पत्नी को घर से निकाल देता था, और उसके सामने दो ही मार्ग रह जाते थे या तो वह आत्महत्या कर ले, या वेश्यावृत्ति अपना ले, क्योंकि उस समय आर्थिक स्वतन्त्रता नारियों को न प्राप्त थी। इस प्रकार वास्तविक नारी शिक्षा का अभाव नारियों के समक्ष अनेक समस्याएं उत्पन्न कर देती थीं। सुमन (सेवासदन) में ऐसी ही नायिका का रूप प्राप्त होता है।

प्रेमचन्द के उपन्यास "सेवासदन" (१९१६) की रचना उस समय हुई थी, जब प्रथम महायुद्ध छिड़ा हुआ था। श्रीमती ऐनीबेसेन्ट होमरूल आन्दोलन लेकर उन दिनों भारत का दौरा कर रही थीं। देश में राष्ट्रीय चेतना का उदय हो गया था, जिसके साथ सामाजिक चेतना भी सम्बद्ध थी। १९१६ तक आते-आते भारतीय सामन्तवर्ग पूर्णतया पतित हो गया था। यह वर्ग सिवाय अंग्रेज अधिकारियों की जी हजूरी करने के अतिरिक्त कुछ और न करता था। उस समय मध्यम वर्ग ही समाज का नेतृत्व ग्रहण किये हुये था। वही वर्ग शिक्षित था, और इस उपन्यास में भी उसी को प्रमुखता दी गई है। इस उपन्यास में उठाई गई समस्या के सम्बद्ध में मतभेद है। कहा गया है कि यह उपन्यास वेश्या समस्या को लेकर लिखा गया है। पर यह भ्रमपूर्ण है। यह भ्रम केवल सुमन के आकर्षक के कारण ही उत्पन्न हुआ है जो सारे उपन्यास पर छाई रहती है। इस उपन्यास की प्रमुख समस्या नारी समस्या है, अर्थात् भारतीय समाज में स्त्री कितनी पराधीन थी, तथा उस समय उसकी पराधीनता, उसकी निस्सहायता तथा समाज में पशुओं जैसी स्थिति इन सब बातों को लेकर प्रेमचन्द ने इस उपन्यास की रचना की थी। वैसे इसमें वेश्या की समस्या भी आ जाती है, पर सुमन वेश्याओं की प्रतिनिधि नहीं, इसी पीड़ित नारी वर्ग की प्रतिनिधि

है। वह एक मध्यम वर्ग की नारी थी और परिस्थितिवश उसे वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ी थी।

सुमन का जो चरित्र उपन्यास में विकसित हुआ है, उसके सूत्र यदि हम खोज निकालें, तो विशेष कठिनाई न होगी, क्योंकि ये सूत्र अधिक संख्या में नहीं हैं। सुमन के चरित्र की तीन प्रधान विषमताएं हैं—

१. बाल्यावस्था से ही उसमें भोग विलास और इन्द्रिय-जन्य सुख की प्रवृत्ति जड़ जमा चुकी थी।

२. पति के घर में निर्दय, अपमान, दारिद्र्य, गजधर की प्रेम विहीनता उसके मन में अभाव और वितृष्णा उत्पन्न कर रही थी।

३. चारों ओर के पापमय वातावरण ने सुमन में अतृप्ति, क्षोभ, और नैराश्य की भावना तीव्र कर दी थी।

सुमन को सौन्दर्य प्रचुर मात्रा में मिला था, और बचपन से ही उसे अपने माँ-बाप का लाड़-प्यार मिला था। कृष्णचन्द्र तो अपने प्राणों से भी अधिक सुमन को प्यार करते थे। वे शहर से अनेक प्रकार की वस्तुए मंगाया करते थे अपनी लड़कियों के लिए। बाजार में कोई नया वस्त्र आता, वह कृष्णचन्द्र अपनी लड़कियों के लिए अवश्य लाते। उन्होंने अपने घर में विलास के प्रचुर साधन एकत्रित कर रखे थे, और इसी वातावरण में सुमन के मन में संस्कार रूप ग्रहण कर रहे थे। बाल्यावस्था से वह चंचल और अभिमानी थी। वह बढ़-चढ़कर रहना चाहती थी और उनकी इस प्रवृत्ति को बढ़ावा भी खूब मिला, वह बड़ी लड़की थी। उसकी हर जिद पूरी होती थी। और उसके अभिमान पर चोट देने वाला कोई अन्य न था। सुमन जब तक अपने पिता के यहाँ रही, उसने यह कभी न जाना कि अभाव भी कोई वस्तु होती है। उसके अवचेतन में उच्चता का अभाव (Superiority Complex) पूर्ण रूप से जम गया था। कृष्णचन्द्र ने उसे पढ़ाने के लिए ईसाई लेडी रखी थी, और उसे वह शिक्षा न प्राप्त हुई जो नारी को आदर्श गृहिणी का रूप दे सके। इसीलिये जब वह विवाह के पश्चात् गजाधर के घर आती है तो इसके दुष्परिणाम होते हैं।

अभी तक सुमन ने ना जाना था कि अभाव क्या होता है ? उसने अभी तक का जीवन विलासप्रियता में व्यतीत किया था। इंद्रियजन्य सुख अभी तक उसे प्राप्त होता था, पर जगाधर के यहाँ आकर सहसा उसे अभाव के परिवेश में अपना जीवन आगे बढ़ाना पड़ा। यह उसे सह्य न हुआ। साधन न होने पर भी वह अधिकाधिक सुख और वैभव की भावना की ओर बढ़ती गई। धीरे-धीरे उसकी लज्जाशक्ति भी क्षीण पड़ जाती है और वह अपनी अतृप्त आकांक्षाओं की पूर्ति में लग जाती है। यहाँ से उसके चरित्र का पतन प्रारम्भ होता है। सुमन का प्रमुख चरित्र यहाँ तक रहता है। उसके चरित्र की गतिशीलता उसके पतन तक ही है। उसके पश्चात् तो वह सीधे मार्ग पर चलती है, और उसमें गतिशीलता कम रहती है। अभी तक जो

सम्मान, अपने अभिमान की जो रक्षा, अपनी लालसा की पूर्ति के जो साधन सुमन को प्राप्त होते रहे, वह गजाधर के यहाँ सम्भव न हो सका। गजाधर में पहले हीनता का भाव (Inferiority Complex) रहता है, और वह सुमन ने अभी तक यही शिक्षा पाई कि सुख भोग ही वास्तविक जीवन है। वह अपने उच्चभाव (Superiority Complex) को किसी भी मूल्य पर पराजित नहीं होने देना चाहती। दोनों में संघर्ष उत्पन्न होता है, और सुमन एक कदम आगे बढ़ जाती है। यह सुमन की मिली इन्द्रियभोग की शिक्षा का दुष्परिणाम ही था। वह सद्गृहिणी नहीं है, और इसका परिणाम होता है कि वह कपटाचरण प्रारम्भ कर देती है। अपनी चटोरी जीभ को तृप्त करने के लिए वह अपने पति से छिपकर चाट के दोने साफ करने लगती है। अपनी प्रकृति के कारण वह ऐसी नारी के रूप में हमारे सम्मुख आती है जो हाव-भाव प्रदर्शन में अधिक विश्वास रखती है। दूसरों को आभूषण बनवाते देख उसकी अन्तरात्मा कराह उठती है, और दूसरों को नई साड़ियाँ, नए वस्त्र बनवाते देख भयंकर असन्तोष की ज्वाला में वह सुलगती रहती है। पति की कमाई तो उसकी चटोरी जिह्वा पर स्वाहा हो जाती है, और फिर नए आभूषण और वस्त्र के अभाव में वह बराबर खिन्नता का अनुभव करती है। पति के प्रेम भरे शब्दों की अपेक्षा उसे चाट के पत्ते और मिठाई दोने अधिक अच्छे लगते हैं। अपने सौन्दर्य से वह गजाधर को पराजित करना चाहती है, पर जब वह इसमें सफल नहीं हो पाती तो उसका अवचेतन मन इसे अपमान के रूप में ग्रहण करता है। वह चाहती है कि गजाधर उससे दब कर रहे, और वह स्वयं दब के नहीं रहना चाहती। पर चूंकि दोनों दब के नहीं रहना चाहते, इसीलिए बराबर विरोधावस्था विद्यमान रहती है। जब वह पति को रिझाने में सफल रहती है तो वह अपने सौन्दर्य से मुहल्ले के मनचले युवकों को परास्त करने का प्रयत्न करती है। यह वस्तुतः उसके अवचेतन में पड़ी कुंठाओं और वर्जनाओं का ही परिणाम था। उसका सारा चरित्र उसके अवचेतन मन और संस्कारों से ही परिचालित होता है। उसका मनोवैज्ञानिक संघर्ष उसे बराबर पतन की ओर जाने की प्रेरणा देता है। इस मनोवैज्ञानिक संघर्ष में उसकी विलास प्रियता की शिक्षा, इंद्रियजन्य आनन्दभोग की लालसा, अधिकार और सम्मान प्राप्त करने की कामना आदि ही भारी पड़ते हैं और यही सब उसके पतन की भूमिका उपस्थित करते हैं।

सुमन के चारों तरफ का वातावरण भी उसकी इसी प्रवृत्ति को प्रश्रय देता है। उसके सामने ही भोली नामक वेश्या रहती है, और भोली की चमक-दमक, उसका रहन-सहन देख उसकी प्यास और बढ़ जाती है। वह देखती है कि भोली का धर्म के ठेकेदारों के यहाँ, पूंजीपतियों के यहाँ बड़ा भारी मान है। उसने कई अवसरों पर देखा कि तथाकथित सभ्य समाज में उसका कितना सम्मान होता है। शर्मा जी के यहाँ होली उत्सव में, बाग में बेंच पर बैठने, माली द्वारा उठाए जाने की घटना. मन्दिर में भोली का सम्मान आदि सब मिला कर उसके अवचेतन मन पर बराबर

घात पहुँचाते जाते हैं। उसके जीवन में दूसरी ठेस तब लगती है जब वह समझती है कि समाज में मर्यादा धन से होती है। यह भाव उसे और भी पतन की ओर अग्रसर करता है। अगर मुहल्ले का यह कुसंग न होता तो कदाचित् वह उतने शीघ्र पतन की ओर न जाती। धन का प्रभाव देख उसकी आँखें खुल जाती हैं। पद्मसिंह जैसे व्यक्ति के यहाँ भोली का सम्मान देखकर उसकी यह भावना और भी पुष्ट हो जाती है। और वह सीमा से बाहर हो जाती है। यही सामाजिक विषमता और सामाजिक भय प्रेमचन्द ने चित्रित किया है। यदि पद्मसिंह उसे घर से न निकाल देते तो कदाचित् वह वेश्या न बनती। और अन्त में उसके चारों ओर जो वातावरण था उसमें सुमन ने यही निष्कर्ष निकाला—"वह स्वाधीन है, मेरे पैरों में बेड़ियाँ हैं। उसकी दुकान खुली है, इसीलिए ग्राहकों की भीड़ है, मेरी दुकान बन्द है, इसीलिए कोई खड़ा नहीं होता, वह कुत्तों के भूकने की परवाह नहीं करती, मैं लोकनिन्दा से डरती हूँ। वह परदे के बाहर है, मैं परदे के अन्दर हूँ। वह डालियों पर स्वच्छन्दता से चहकती है, मैं उसे पकड़े हुए हूँ। इसी लाज ने, इसी उपहास के भय ने मुझे दूसरे की चेरी बना रखा है।[1]" और परिणामस्वरूप वह वेश्यावृत्ति अपना लेती है।

पर सुमन अधिक दिन तक वेश्या नहीं रही। प्रेमचन्द ने उसे शीघ्र ही सुधार की ओर प्रवृत्त किया। पर जितनी शीघ्र सुमन की मनोवृत्तियाँ परिवर्तित होती हैं, वह बहुत मनोवैज्ञानिक नहीं है, और अस्वाभाविक सी प्रतीत होती है। अवचेतन मन जो प्रवाह विट्ठलदास को आधार पाकर खुलता है और उसे मन में जो गाँठ पड़ी थी, जब वह खुल जाती है, तो वह शीघ्र ही विधवाश्रम चली जाती है। पर यह सब कुछ जितना शीघ्रता से चित्रित किया गया है, उस पर विश्वास करना कठिन है। प्रेमचन्द को कदाचित् सुमन का वेश्या बनना और दालमण्डी के एक कोठे पर बैठ अपने हाव-भाव प्रदर्शित करना अच्छा नहीं लगा है। वे उसे दालमण्डी से जितनी शीघ्र सम्भव हो सकता था, निकालना चाहते थे। सदन सिंह को देखकर सर्वप्रथम उसके मन में निस्स्वार्थ की भावना का उदय होता है। सुमन के मन में सदन सिंह के प्रति पवित्र प्रेम है। वेश्यावृत्ति अपना लेने के पश्चात् भी उसके मन में उत्तम संस्कार एवं उच्च विचार समूल नष्ट नहीं हो गए थे। सदन सिंह के प्रति सुमन के मन में अनेक उत्तम भाव उत्पन्न होते हैं। वह इस बात को नहीं चाहती थी कि सदन सिंह उससे प्रेम करके पतन के गर्त में जा गिरे, क्योंकि वह जानती है कि इस प्रेम का भयानक अन्त होगा। वह सदन सिंह के उपहारों को नहीं स्वीकार करती और दिए गए कंगन को शर्मा जी को लौटा देती है। फिर भी, प्रथम बार ही उसे किसी का इतना प्रेम प्राप्त हुआ था और वह चाहकर भी सदन सिंह को एक दम से अपनी चेतना चीरकर अलग नहीं कर पाती। इसके मनोवैज्ञानिक कारण थे। अभी तक उसे

१. प्रेमचन्द: सेवासदन, (१६१६), बनारस, पृष्ठ ३१।

जीवन में किसी का इतना प्रेम नहीं मिला था। जब से वह पिता गृह से आती है, बराबर परिस्थितियों की विषमताओं में फंसती जाती है, और कहीं उसे सही राह नहीं मिल पाती। सदन सिंह का प्रेम जैसे उसके घावों पर मलहम के समान ही था। और यही उसे पतन के गड्ढे से निकालने में सहायक होता है। सुमन को पतनावस्था से उबारने में विट्ठलदास स्थूल साधन और सदन सिंह सूक्ष्म साधन के रूप में ही उपस्थित होते हैं। सुमन के संस्कार उसे पतित वेश्या बनने नहीं देते। वह निश्चयात्मक स्वरों से कहती है, मैं अपनी आवाज़ नहीं बेचूंगी, नाचूंगी, गाऊंगी, पर अपने सत्य की रक्षा करूंगी और अपने को भ्रष्ट न होने दूंगी। सदन सिंह के माध्यम से उसे प्रेम का अनुभव होने लगता है, जिनका अनुभव वेश्याएं अधिकाश रूप में नहीं कर पातीं। उसकी आत्मा का पूर्ण संहार इसी वास्तविक प्रेम के कारण नहीं हो पाता।

सुमन जब विधवा आश्रम में आ जाती है तो धीरे-धीरे उसमें आत्मबल उत्पन्न होने लगता है। वह आत्मग्लानि और पश्चाताप की भावना से ओतःप्रोत हो अपने आत्म-सुधार की ओर प्रस्तुत होती है। विधवाश्रम में उसके शुद्ध अन्तःकरण की आभा चमकने लगती है, और आत्मसुधार द्वारा वह अपने को ऐसी नारी का रूप देती है जो किसी भी सभ्य एवं प्रगतिशील समाज को प्रतिष्ठा एवं गौरव प्रदान कर सकती है। सुमन का स्वाभिमान ही अन्त में उसे सेवा मार्ग पर ला उपस्थित करता है। वह कई अवसर पर व्यंग्य और प्रताड़नाओं का शिकार बनती है, जिससे उसे बड़ा क्षोभ होता है। यहां तक कि स्वयं उसकी बहन शान्ता भी उससे उचित व्यवहार नहीं कर पाती और उसकी अवहेलना सुमन को सहन नहीं हो पाती, वह घर छोड़कर सेवा मार्ग अपनाती है। सेवा द्वारा ही वह आत्मोद्धार की चेष्टा करती है। प्रेम की पवित्रता वह समझने लगती है। प्रेम की ऐसी पवित्रता, जो दूसरों का उद्धार भी कर सकती है और स्वयं का आत्मोद्धार भी। इस प्रकार अन्त में सुमन में पूर्ण आत्मविश्वास आ जाता है। प्रायः आलोचकों में यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि सुमन की परिकल्पना का स्रोत वेश्या जीवन की वे कुरीतियां थीं, जिन्हें प्रेमचन्द चित्रित करना चाहते थे। वेश्या जीवन का चित्रण करना मात्र, प्रेमचन्द का उद्देश्य न था। वह तो सुमन के चरित्र का एक भाग था, इसलिए उसके चरित्र के अन्य पहलुओं पर विचार प्रकट करते हुए उन्होंने उस पर भी अपने विचार प्रकट किए थे। वास्तव में प्रेमचन्द का प्रमुख उद्देश्य सुमन के माध्यम से यह चित्रित करने का था कि वस्तुतः लड़कियों की शिक्षा किस प्रकार की होनी चाहिये। उनके विचार से यदि लड़कियों को ढंग से परिवार सम्भालने, सद्गृहिणी बनने और अपने मातृत्व की भावना का विकास करने, अपनी सौजन्यता, स्नेह आदि प्रदर्शित करने की शिक्षा न दी जाये तो वे उसी प्रकार पथभ्रष्ट हो जाती हैं, जिस प्रकार सुमन। वे नारी शिक्षा के हिमायती थे, और उसकी बराबर वकालत करते थे। इस दृष्टि से अपने उद्देश्य में

लेखक को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है, क्योंकि उपन्यास समाप्त करने के पश्चात् जो पहला विचार उत्पन्न होता है, वह यही है कि काश सुमन को विवाह के पूर्व वह शिक्षा दी जाती, जो वस्तुतः उसे मिलनी चाहिये थी।

महान् उद्देश्य के लिए जीवन का बलिदान

प्रायः नारियाँ अपने जीवन में महान् उद्देश्य निर्मित कर लेती थीं, और उसके लिए अपने जीवन का बलिदान तक दे देती थीं। देश के गौरव एवं उसकी स्वाधीनता के समक्ष सर्वाधिक प्रमुख समस्या स्वाधीनता-प्राप्ति की थी, और पुरुषों के समान नारियाँ भी उसमें अपना महत्वपूर्ण योग प्रदान कर रही थीं। उनमें भी पुरुषों के समान ही अनुपम संगठन, शक्ति, धैर्य एवं अपूर्व साहस होता था, युद्धों की कुशल संचालन की भावना होती थी, और ऐसी नारियों में झाँसी की रानी महारानी लक्ष्मी बाई का सर्वप्रमुख स्थान है। उनकी वीरता से परिपूर्ण जीवन को आधार बनाकर वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने उपन्यास "झाँसी की रानी" (१९४६) में उन्हें नायिका का स्थान प्रदान किया है।

झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई सम्पूर्ण भारत के गौरव की विभूति है। मोरोपन्त की एक अत्यन्त प्रखर एवं कुशाग्र बुद्धि की कन्या थी मनु (लक्ष्मीबाई), जिसकी माता का देहान्त उसकी बाल्यावस्था में ही हो गया था। बचपन से ही वीरता एवं शौर्य की कहानियाँ सुनने एवं अपने देश के ऊपर होने वाले अत्याचारों की कहानियाँ सुनने के कारण मनु के मन में भी अपने देश को स्वतन्त्र कराने की भावना अत्यन्त प्रबल रूप में उद्दीप्त हो उठी थी। युवा होने पर मनु का विवाह झाँसी के विधुर राजा गंगाधर राव से हो गया। कुछ दिनों के पश्चात् लक्ष्मीबाई को एक पुत्र हुआ किन्तु उसकी शीघ्र ही मृत्यु हो गई। गंगाधर राव इस आघात को न सहन कर सकने के कारण मृत्यु गति को प्राप्त हुए। राज्य का कोई उत्तराधिकारी न होने के कारण दामोदर राव को गोद लेने की अंग्रेजों से प्रार्थना की गई, किन्तु उन्होंने अनुमति न प्रदान की। इससे झाँसी की प्रजा और स्वयं रानी को अत्यन्त क्षोभ हुआ और अंग्रेजों के प्रति विद्रोह के बीज पनप उठे। इस वातावरण में लक्ष्मीबाई का चरित्र प्रखर होता है। उनमें वीरता, ओज, साहस, कुशल नायकत्व, धैर्य, सहनशीलता एवं स्नेहपूर्ण ममत्व के सारे गुण एक ही जगह संयुक्त हो गये हैं। झाँसी की रानी का चरित्र इतना सुन्दर एवं प्रभावशाली है कि सारा कथानक पढ़ते समय नसों में साहस एवं उत्साह का गर्म रक्त प्रवाहित होने लगता है। लक्ष्मीबाई के चरित्र से वर्मा जी ने एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। एक आदर्श गृहिणी, धर्मपरायण स्त्री, बुद्धिमती, वीरता एवं कुशल सेना नायिका की वह साक्षात् मूर्ति सी प्रतीत होती हैं।

लक्ष्मीबाई को प्रदर्शन से बहुत घृणा थी। वे रचनात्मक कार्य चाहती थीं, केवल दिखावा मात्र नहीं। उनके सामने एक ही कर्तव्य था, देश की स्वाधीनता

और यही उनकी मंजिल थी। पति की मृत्यु के पश्चात् वे विधवा बन जीवन की गति समाप्त नहीं करती। वे पति की मृत्यु के पश्चात् "...ग्यारह बजे तक महल के समीपवर्ती खुले आंगन में घोड़े की सवारी, तीरन्दाजी, नेजा चलाना, दौड़ते हुए घोड़े पर चढ़े-चढ़े दांतों से लगाम पकड़ कर दोनों हाथों से तलवार भांजना, बन्दूक से निशाना लगाना, मलखम्भ कुश्ती इत्यादि करती थीं और अपनी सहेलियों तथा नगर से आने वाली कुछ स्त्रियों को ये सब काम सिखलाती थीं।"[1]

रानी में आत्म-गौरव कूट-कूट कर भरा हुआ है। पर अपने आत्म-गौरव से अधिक उन्हें देश गौरव प्यारा है। वे देश का सम्मान चाहती हैं, अंग्रेजों के अत्याचारों का अन्त चाहती हैं। मालकम की घोषणा झांसी के दरबार में जब एलिस ने पढ़ी कि झांसी अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया जायगा तो रानी दृढ़ता से कहती हैं, "मैं झांसी नहीं दूंगी।"[2]

रानी में कठोरता भी है, दया भी। दया एवं ममता की तो जैसे वह देवी हैं। अंग्रेजों के भूखों मरने की स्थिति में वह मनों रोटियाँ किले में भेजती हैं। सागर सिंह को पकड़ कर उसे क्षमा कर देती हैं तथा सेना में सम्मिलित कर लेती हैं—"जिस समाज में उनका जन्म हुआ था, उसी में होकर उनको काम करना था, परन्तु उस समाज की हथकड़ियों और बेड़ियों की उन्होंने पूजा नहीं की। वे अपने युग से आगे निकल गई थीं, किन्तु उन्होंने अपने युग और समाज को साथ ले चलने का, भरसक प्रयत्न किया। झांसी में विशेषत: विन्ध्यखण्ड में साधारणतया, स्त्री की अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता और नारीत्व की स्वस्थता लक्ष्मीबाई के नाम के साथ बहुत-सम्बद्ध है।"[3]

स्वाधीनता उनका लक्ष्य था पर वह जानती थीं कि उतने बड़े साम्राज्य का अन्त यों ही नहीं किया जा सकता। वे सोचती थीं हमको केवल कर्म करने का अधिकार है, फल पर नहीं। और कर्तव्य पालन करते हुए मरना जीवन का दूसरा नाम है। सचमुच रानी का जीवन उनके उस कथन की गवाह है। पर रानी भी मनुष्य हृदय लिये थी। झाँसी की दुर्गति, आपसी फूट, कलह और दगाबाजी पर उनकी आँखों में भी आँसू आते हैं, रोती हैं, पर हिम्मत नहीं हारतीं। उनमें साहस की कमी नहीं है। संघर्ष को उन्होंने जिन्दगी समझी और वे प्रण करती हैं—"मैं लड़ूंगी। आज सबके सामने प्रण करती हूँ कि यदि समस्त अंग्रेजों का मुझे सामना करना पड़े तो करूंगी।"[4]

रानी में दूरदर्शिता की कमी नहीं है। रोज़ की विशाल सेना को इतने दिनों तक अटकाये रहना और अपनी सैनिक नीति का उपयोग इसका प्रमाण है।

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : झाँसी की रानी (१९४६), पृष्ठ १९९।
२. वृन्दावनलाल वर्मा : झाँसी की रानी (१९४६), पृष्ठ १७०।
३. वृन्दावनलाल वर्मा : झाँसी की रानी (१९४६), पृष्ठ ३२१।
४. वृन्दावनलाल वर्मा : झाँसी की रानी : (१९४६), पृष्ठ ४२९।

और यदि पीर अली तथा दूल्हजू दगाबाजी न करते, तो परिणाम कुछ और ही होता। वे संघर्ष......निरन्तर संघर्ष चाहती थीं, और उसी में मर जाना चाहती थीं। वे सम्मान और प्रतिष्ठा की भूखी न थीं। वे केवल रचनात्मक कार्य चाहती थीं, क्रियाशीलता चाहती थीं, सेना में प्रेरणा चाहती थीं, व्यवस्था एवं अनुशासन चाहती थीं। कर्तव्य पर मर मिटने की भावना उन्हें अधिक प्रिय थी। परिणाम क्या होगा, इसकी चिन्ता उन्हें न थी। वे अपना कर्तव्य पालन ईमानदारी और सच्चाई से करना चाहती थीं, और कर्तव्य पथ पर मिट जाना चाहती थीं क्योंकि वे जानती थीं, कि स्वाधीनता प्राप्ति का संघर्ष एक तपस्या है, और तपस्या में क्षय पहले है, अक्षय पीछे। उनका युद्ध स्वराज्य की अन्तिम साधना नहीं थी, वे जानती थीं, और यह भी उन्हें ज्ञात था, कि वे उसकी अन्तिम साधक नहीं हैं। वे तो केवल स्वराज्य की नींव में एक कंकड़ी बन जाना चाहती थीं, क्योंकि वे जानती थीं कि ऐसे ही प्रयासों से एक दिन वह महान् उद्देश्य पूर्ण होगा।

लक्ष्मी बाई जब तक जीवित रहीं, अपने कर्तव्य से जूझती रहीं, कुशल सैन्य-निर्देशन, अपूर्व दूरदर्शिता और अनुकरणीय साहस के बावजूद भी वे सफल न हो पाईं। इसके कारण स्पष्ट थे। पेशवा की पद लोलुपता और विलासिता, तात्या में आवश्यकता से अधिक कर्तव्य-पालन की इच्छा एवं चेतना की निष्क्रियता, पीर अली और दूल्हाजू की देशद्रोहिता, सेना की अवस्था, एकता का अभाव, सम्मिलित प्रयासों, में विशृंखलता आदि उनकी असफलता के प्रमुख कारण थे। यह देश का दुर्भाग्य ही था। रानी लक्ष्मीबाई आज मर कर भी अमर हैं। भारतीय-नारियों की गौरवशाली परम्परा की दृढ़ आधार स्तम्भ हैं। वे एक ऐसी मशाल की भाँति आज भी वह दिव्य ज्योति प्रज्ज्वलित कर रही हैं, जिनसे आगे आने वाली शताब्दियों में न केवल नारियों को ही वरन् पुरुषों को भी अमर प्रेरणा मिलेगी—राष्ट्र की रक्षा की, कर्तव्य पालन की, और साहस एवं वीरता की।

लक्ष्मी बाई की परिकल्पना एक ऐसी नायिका का चित्रण करना था, जो नारियों को फिर से उनके गौरवपूर्ण अतीत का स्मरण दिला सके, और उनमें ओजपूर्ण भावनाएं भर सके। जिस समय इस उपन्यास की रचना हुई थी, उस समय तक भारतीय नारियों में काफी आत्म-पतन हो चुका था, और वे पश्चिमी रंग में अपने को पूर्णतया रंगती जा रही थीं। भारत अभी भी—दासता की शृंखलाओं से मुक्त नहीं हो पाया था। ऐसी अवस्था में नारियों के नैतिक उत्थान की दृष्टि से एक वीर चरित्र की आवश्यकता का अनुभव कर ही लेखक ने लक्ष्मीबाई का चित्रण किया है, जिसमें उसे पर्याप्त मात्रा में सफलता प्राप्त हुई है।

जीवन में अत्यधिक आधुनिकता

नारी शिक्षा के क्रमशः विस्तार से जहाँ जीवन में नए दृष्टिकोण का जन्म हुआ, नवीन चेतना का उदय हुआ, वहीं पश्चिमी सम्पर्क के प्रभाव के फलस्वरूप

पश्चिमी देशों की नारियों की भाँति फैशन एवं विलास की प्रवृत्ति बढ़ी, और जीवन में अत्यधिक आधुनिकता के प्रति आग्रह भी बढ़ा। जीवन अन्दर ही अन्दर तो खोखलेपन की सीमा को पार करता जा रहा था, पर ऊपर से प्रदर्शन करने एवं अपनी उच्चता सिद्ध करने के भाव भी बढ़ रहे थे। विवाह से नारियों को घृणा हो गई थी, और धीरे-धीरे परिवार के अन्य लोगों के प्रति श्रद्धा एवं प्रेम का भाव भी नारियों में होने लगा। नारियाँ अब प्रत्येक कार्य अपनी रुचि के अनुकूल करना चाहती थीं, और अपनी विलासिता, नग्नता प्रदर्शन और एक प्रकार की बेहयाई पर अधिक बल देने लगीं। भारतीय परम्पराओं, नारी के महान् आदर्शों एवं अतीत के गौरव को वे पूर्णतया भूला देना चाहती थीं, तथा अपने वर्तमान एवं भविष्य को एक ऐसे ऐसे साँचे में ढालना चाहती थीं, जहाँ सेक्स की अत्यधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके, और समाज उनकी राहों में न आ सके। यह नारी का जबर्दस्त पतन था, और इससे समाज में एक विचित्र सी स्थिति उत्पन्न हो गई थी। उपन्यासों में ऐसी नारियों को स्थान दिया गया है, और उनके रूप हमें लज्जा (लज्जा), तथा नीलू (नीलमणि) आदि में प्राप्त होते हैं।

इलाचन्द जोशी के उपन्यास "लज्जा" (सं० २००४) की नायिका लज्जा का पालन पोषण एक सम्पन्न परिवार में हुआ है। माता का अपने बच्चों के प्रति विशेष अनुराग नहीं रहा है और उसके पिता भी अत्यधिक व्यस्त रहने वाले व्यक्ति हैं। लज्जा की काम-चेष्टाएं उसकी बाल्यावस्था से ही प्रारम्भ हो जाती हैं, और पुरुषों के समक्ष अपने रूप एवं यौवन तथा हाव-भाव का प्रदर्शन करने में उसे एक विशेष प्रकार की आत्म-तुष्टि प्राप्त होती है। इसके परिवार में प्रो० किशोरी मोहन और डा० कन्हैयालाल का आना जाना है। ये दोनों सज्जन लज्जा के पिता के मित्रों में से थे और लज्जा अपने ड्राइंग रूम में पुरुषों की उपस्थिति में बहुत आती-जाती थी। उसने स्वयं ही इस तथ्य को स्वीकार किया है कि प्रारम्भ में तो वह निरुद्देश्य ही वहाँ आती थी। पर वहाँ आने के लिए उसके अन्तरमन की जो मूल भावना उसे अनुप्राणित करती थी, वह अपने रूप और यौवन के प्रबल आकर्षण से लुब्ध और मुग्ध पुरुष वर्ग को उत्तेजित करने का था। उसे पुरुष वर्ग में से डा० कन्हैयालाल सफलता प्राप्त कर सकने में सक्षम होते हैं तथा रीझ जाने एवं रिझाने की प्रक्रिया दोनों तरफ से होती है। लज्जा का छोटा भाई राजू अपनी बहन को बेहद प्यार करता है पर डाक्टर साहब से उसी सीमा में घृणा करता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में उससे अधिक लम्पट, धूर्त व्यक्ति होना सम्भव ही नहीं है। लज्जा भी जानती है कि डाक्टर साहब किस प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं। अपने उत्सव में वह स्वयं ही उनकी हरकतें देखती हैं, उसकी सहेली कमलिनी उससे सारी बातें बताती है, पर तब भी लज्जा डाक्टर साहब के प्रति अपने आकर्षण को समाप्त न कर सकी, यह जानते हुए भी कि राजू उसके और डाक्टर साहब के परस्पर सम्बन्ध को भली भाँति जानता है तथा वह डाक्टर साहब से घृणा करता है।

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि लज्जा पूर्णरूप से पाश्चात्य संस्कारों में पालित पोषित युवती है। न उसमें परम्पराओं के प्रति मोह है, न घर की चार दिवारी में रह परिवार की विशृंखलता को रोकने की इच्छा है। वह अपनी इच्छा के अनुरूप ही सारा कार्य करती है। प्रश्न उठता है कि प्रकट रूप में वह राजू से प्रेम करती है, अपने पिता से प्रेम करती है, फिर भी वह घर तबाह करने पर क्यों तत्पर हो गई ? इसका उत्तर फ्रायड के सिद्धान्तों से स्पष्ट रूप से दिया जा सकता है। फ्रायड ने मन को चेतन, अर्द्धचेतन और अचेतन, इन तीन स्तरों में विभाजित किया है। मस्तिष्क का लगभग ३।४ भाग अचेतन है, और यही मानव जीवन की सारी प्रक्रियाओं को मूल रूप से संचालित करता है। चेतन मन की अपेक्षा यह अचेतन मन अधिक शक्तिशाली होता है। इस चेतन और अचेतन के मध्य ही अर्द्धचेतन की स्थिति रहती है। प्रायः वे बातें जिन्हें व्यवहार में लाने से लोकनिन्दा अथवा लज्जा का भय रहता है। दमित शमित भावनाएं, कुंठाएं एवं वर्जनाएं, ये सभी इसी अवचेतन में एकत्रित होती रहती हैं। Censor इन पर नियन्त्रण रखता है। फ्रायड के अनुसार अचेतन मन की सारी शक्तियों का मूल आधार दमित शमित कामवासना ही है। मानव की इस यौवन वृत्ति को उसने लिबिडो कहा है। लज्जा भी इसी शक्ति के सम्मुख परास्त होती है। लज्जा में काम की अबाध और उन्मुख अन्तः प्रेरणा है, और उसका चरित्र इसी सन्दर्भ में विकसित होता है। उसकी मनः स्थिति विचित्र प्रकार की है। उसे अपने परिवार से विशेष लगाव नहीं है। उसके कल्पना लोक में प्रेम का एक विचित्र साम्राज्य घूमता रहता है। जिसमें नारी पुरुष के प्रेम के अतिरिक्त कुछ और नहीं है, इसीलिए उसकी काम चेष्टाएं स्वल्पावस्था से ही प्रारम्भ हो जाती है, और आयु के साथ वह इन चेष्टाओं में पूर्ण रूप से दक्ष हो जाती है। वह डाक्टर साहब के सामने ऐसे व्यवहार करती है, जो उसकी इसी आन्तरिक काम प्रेरणा शक्ति का परिचय देते हैं। एक स्थल पर वह कहती है, "मैं उनके सामने एक कौच पर बैठने और लेटने की मध्यावस्था में अवस्थित हो गई। मैं अच्छी तरह से जानती थी कि मेरा इस प्रकार बैठना शिष्टाचार के विरुद्ध है, पर मुझे यह भी विश्वास था कि डाक्टर साहब इस प्रकार मेरे शरीर का विलास और उसकी ललित गति देख कर शिष्टता और अशिष्टता का विचार सब भूल जायेंगे। प्रत्येक नारी के हृदय में येन-केन प्रकार से पुरुष को रिझाने की प्रवृत्ति वर्तमान रहती है, और मैं तो इसके लिए बर्बरता की चरम सीमा तक पहुँचने के लिए भी तैयार थी।"[1]

लज्जा का राजू की घृणा से परिचित होने के बावजूद भी उसका जरा भी परवाह न करने का कारण मनोवैज्ञानिक है। लज्जा में तीव्र कामोन्माद है, और परिणामस्वरूप उसकी सारी चेष्टाएं राजू को पसन्द नहीं है। लज्जा अपनी काम-

---

१. इलाचन्द्र जोशी : लज्जा, (सं० २००४) इलाहाबाद, पृष्ठ ५२।

वासना का दमन नहीं कर पाती, अतः एक संघर्ष उत्पन्न होता है—लज्जा की काम-भावना और राजू के प्रति उसके प्रेम में, और विजय होती है—काम भावना की। और लज्जा को एक प्रकार से राजू की घृणा और जलन देखकर आन्तरिक आह्लाद सा भी अनुभव होता है, वह उस भड़कती हुई चिनगारी को और भी तीव्र करने में योग देती है। उसमें त्याग भावना किंचित मात्र भी नहीं है। जैनेन्द्र की मृणाल की भांति न तो वह सहिष्णु ही है, और न सियारामशरण गुप्त के नारी पात्रों की भांति अपनी काम भावना को पूर्णतया दबा सकने की उसमें शक्ति ही है। अन्त में ऐसी स्थिति आ जाती है, जहां वह यह अच्छी प्रकार से समझ लेती है कि उसका यह खेल अधिक दिनों तक नहीं चल सकता, उसे राजू डाक्टर साहब में से एक को चुनना होगा। और अपने कथन के ठीक अनुरूप वह सचमुच वर्बरता की सीमा तक पहुंच गई थी कि राजू को नहीं वह डाक्टर साहब को ही पसन्द करती है। परिणाम होता है कि राजू आत्म-हत्या कर लेता है। राजू की मृत्यु पर पहली प्रतिक्रिया लज्जा पर इस प्रकार होती है, "राजू की मृत्यु का समाचार सुनते ही, मैंने सोचा—"मेरे दुश्चरित्र पर दुःखित संतप्त और उत्तेजित होने वाला कोई व्यक्ति अब घर में नहीं रहा। मैं अब जी भरकर डाक्टर साहब या अन्य किसी सुरूप पुरुष के साथ आनन्द की बातें कर सकती हूँ—मेरे सुख की स्वतन्त्रता में बाधा पहुँचाने वाला जो तीखा कंटक था, वह अब निकल गया—अब मैं निद्वन्द्व होकर विचर सकती हूँ"[1]।"

वास्तव में लज्जा में उद्दाम कामवेग और उस सुख से वंचित होने का अभाव दो प्रमुख मूल प्रेरणाएं हैं। राजू की मृत्यु के बाद उसके अन्तरमन में तीव्र घृणा उत्पन्न होती है—अपने से, समस्त नारी जाति से, डाक्टर साहब से। उसकी प्रत्येक क्षेत्र में पराजय ही इसका प्रमुख कारण बनती है। लज्जा की परिकल्पना का स्रोत लेखक को पाश्चात्य भावना से पूर्णतया उस नए नारी वर्ग से प्राप्त हुआ था, जिसमें भोग, लालसा और विलास की वृत्ति बढ़ रही थी, परम्पराएं टूटती जा रही थीं, और नारी स्वतन्त्र रमणी बनकर अपना जीवन व्यतीत करना चाहती थी। पश्चिमी शिक्षा एवं सभ्यता के बढ़ते हुये प्रभाव के सन्दर्भ में नारियां किस प्रकार एक मृगतृष्णा की ओर अग्रसर हो रही थीं, तथा अपनी परम्पराओं एवं मर्यादाओं को भूलती जा रही थीं, लज्जा इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। लेखक द्वारा लज्जा की परिकल्पना का यही उद्देश्य था कि वह एक ऐसी नारी का चित्रण कर सके, जो पश्चिमी संस्कार, फैशन, विलास एवं सेक्स को ही जीवन समझती है। पर इसमें कहीं कल्याण नहीं, मंगल नहीं, वास्तविक जीवन तो अपनी मर्यादाओं का पालन करने में ही है। इस दृष्टिकोण से लज्जा के चरित्र-प्रकाशन में जोशी जी को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास "नीलमणि" (१९४०) की नायिका नीलू की परिकल्पना का स्रोत भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के पश्चात् वे

---

1. इलाचन्द्र जोशी : लज्जा : (सं० २००४), इलाहाबाद, पृष्ठ १४०।

परिवर्तित परिस्थितियाँ थी, जिसमें नारी शिक्षा प्राप्त कर पश्चिम विचारों से प्रभावित हो रही थीं एवं अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का विकास चाहती थी। नीलू परंपरागत रूप में पालित पोषत न होकर नये विचारों से ओतःप्रोत है, और अपने ऊपर किसी का अंकुश नहीं चाहती, क्योंकि अंग्रेजी पुस्तकों को पढ़कर वह समझ गई है कि मात्र नारी होने से ही वह कीड़ा मकोड़ा नहीं हो गई है। वह मनुष्य है और उसे स्वतन्त्रता से जीने का पूर्ण अधिकार है। वह विवाहित होकर भी विनय नामक युवक के साथ घूमने जाती है, घण्टों हँस-हँसकर बात करती है। इसे उसकी माँ नहीं पसन्द करती, और जब उससे इसका अनौचित्य सिद्ध करती है, तो नीलू अत्यन्त अशोभनीय रूप से अपनी माता को उत्तर देती है, और ऐसे अपशब्दों का प्रयोग करती है, जिसे प्रायः भारतीय नारियाँ सोच भी नहीं सकती। वास्तव में इसमें नीलू का कोई दोष न था। बचपन से ही वह अत्यन्त लाड़-प्यार में पाली गई है, और इसकी प्रत्येक इच्छाओं का मान रखा गया है। जिसके परिणामस्वरूप वह अत्यन्त उदण्ड हो जाती है, और उसके स्वभाव में विचित्र-सा जिदपन आ जाता है। उसमें गर्व की अतिशय भावना व्याप्त है, और अपने अहं के सम्मुख वह किसी को भी प्रधानता नहीं देती, यहाँ तक कि जब वह प्रथम बार अपने पति से मिलती है, तो इस तरह की बातें करती है, जो अत्यन्त विचित्र ही नहीं बल्कि अस्वाभाविक-सी प्रतीत होती है। वास्तव में उसकी चेतना में यह बात घुली मिली है कि विवाह के सम्बन्ध में पुरुषों की भाँति नारियों को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए, और उनकी इच्छाओं का भी पूर्ण सम्मान किया जाना चाहिए। वह महेन्द्र से कहती है—'निस्सन्देह ? क्या कभी आपने मुझसे बातचीत की है ? मेरा आपका परिचय हुआ है ? आपके विचार हैं, और मेरे क्या हैं, यह बात एक-दूसरे को मालूम है ? क्या ऐसी कोई बात है कि जिससे हम लोग एक दूसरे के निकट घनिष्ठ हो सकें। आपके चरित्र, स्वभाव और विचारों से अपरिचित हूँ और आप मेरे से। फिर मैं यदि कहूँ कि आप अपरिचित हैं तो इसमें आपको असन्तुष्ट न होना चाहिए'[1]।" वास्तव में नीलू इसे अस्वीकार ही नहीं करना चाहती कि हिन्दू समाज में नारियाँ मात्र पति की सम्पत्ति हों। उनका पिता उन्हें जिन हाथों में स्वेच्छा से अर्पण करता है, उसी की होकर वह अपना जीवन चुपचाप आत्मपीड़न में व्यतीत करें, और अपनी भावनाओं, अपनी कल्पनाओं, अपने शरीर तथा अपनी आत्मा सभी कुछ पर से अपने अधिकार का त्याग करे तथा एक प्रकार से यह समझ लें, कि उनका अस्तित्व एक कल्पना मात्र है।

नीलू में आत्म सम्मान का भाव कूट-कूटकर भरा है। वह किसी भी पग पर किसी के सम्मुख झुकना नहीं चाहती, चाहे उसकी माँ हो, अथवा पति। अपनी माँ से रूठने पर वह माँ से बोलना बन्द कर देती है, और पति से अनेक बार विवाद होने पर वह उसे पत्र तक नहीं लिखती। और सीधे मुँह बात भी नहीं करती। वह स्वयं

---

१. आचार्य चतुरसेन शास्त्री : नीलमणि : (१९४०), बनारस, पृष्ठ १५-१६।

आत्म-समर्पण करना अपने आत्मगौरव के विरुद्ध समझती है। उसके अन्तरमन में अनेक बार यह बात कसक के समान उत्पन्न होती है कि उसका यह विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध हुआ है, उसकी इच्छाओं का कोई मान इसमें नहीं रखा गया है। उसके विचार से हृदय अपने और पराये को पहचान लेता है। जब उसे इतना ज्ञान हो गया है कि वह अपने जीवन संगी को अपनाए, तो कम-से-कम उसे उसको पसन्द करने, समझने तथा उसके गुण दोषों को देखने का अधिकार तो था? एक छोटी-सी चीज़ बाज़ार से खरीदी जाती है, तो उसे भी अच्छी तरह से परखा जाता है। फिर यह तो जीवन भर की बात थी। नीलू के मन की यही कुण्ठा उसके और महेन्द्र के मध्य बनी दीवाल को गिराने में असमर्थ रहती है और पति-पत्नी में परस्पर जो सम्बन्ध स्थापित होना चाहिये वह नहीं हो पाता है। अन्त में विनय जब उसे बातें समझाता है, और उसे उसके कर्तव्य पथ का स्मरण कराता है तो वह लाहौर जा पहुँचती है तथा अपने पति के गले में बाहें डाल सहज ही दूरी की वह दीवाल गिरा देती है।

नीलू में पश्चाताप की भावना भी जबर्दस्त है। पर उसके आत्म-सम्मान के भाव के सम्मुख वह प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो पाती। वह कोई बात आवेश में आकर कर जाती है, पर तुरन्त ही स्थिर होने पर उसका औचित्यानौचित्य भी निर्धारित करती है, और पश्चाताप की भावना का अनुभव कर अपनी त्रुटियों पर दुःखी भी होती है। अपने द्वारा आहत किए गए व्यक्ति से वह क्षमा याचना भी करना चाहती है पर उसका आत्मगौरव उसे ऐसा करने नहीं देता। जिस दिन वह अपनी माँ से लड़ी थी, क्रोध और क्षोभ में भरी वह उस दिन अपने कमरे में पड़ी रही। उसने माँ का घोर अपमान किया था। उस माँ का जिसने इतना लाड़-दुलार करके पाला पोसा। रह रह कर उसे माता के स्नेह और प्यार की बातें याद आने लगीं। वह सोचने लगी—अब भी कितना वे उसे प्यार करती हैं, उसी माँ को उसने गाली दी और न कहने योग्य बातें कह दी। यह सब याद कर उसका हृदय हाहाकार करने लगा। वह तकिए में मुँह छुपा कर फूट फूट कर रोने लगी। परन्तु उन्होंने मेरे क़ागज़ छुए क्यों? पश्चिमी सभ्यता में विकसित उसका मन इसी बात पर माँ से विद्रोह कर उठा। वह किसी तरह भी माँ को क्षमा नहीं कर पाती थी।[1] अपने पति से उसकी दूरी में इसी तथ्य का प्रमुख स्थान रहता है, पर साथ ही विवाह के पश्चात् उसकी अतृप्त वासना एवं आकांक्षा भी कम महत्वपूर्ण नहीं होती, जो इस प्रकार से उसके स्वभाव को विद्रोही बना देती है, और वह अत्यन्त कर्कशा बन जाती है। महेन्द्र नीलू की इच्छा के विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं करना चाहते, और नीलू को यह ग्लानि है कि क्या महेन्द्र उसे ज़बर्दस्ती अपने सीने से लगाकर उसे प्यार करते तो वह उसका विरोध करती? पर न महेन्द्र ऐसी ज़ोर जबर्दस्ती करते हैं

और न नीलू कभी अपना आत्म-समर्पण करती है, दोनों में तनाव परस्पर अन्त तक बना ही रहता है।

इस उपन्यास में नीलू की परिकल्पना की पृष्ठभूमि में लेखक का उद्देश्य पश्चिमी सभ्यता एवं विचारों के कुप्रभाव को लक्षित करना एवं भारतीय परम्पराओं की महानता को प्रतिपादित करना था। किन्तु इसमें लेखक को कथानक की दुर्बलता के कारण पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त हुई। पूरे कथानक में नीलू के चरित्र में एक प्रमुख बात है कि वह कर्कश स्वभाव की है, विद्रोहिणी है और अपने आत्मगौरव को मलिन होते देखना वह नहीं चाहती। प्रारम्भ में लेखक का जो उद्देश्य था वह कथानक की दुर्बलता में उलझ कर रह जाता है। और वह यह स्पष्ट करने में पूर्णतया असफल रहता है कि विवाह सम्बन्धी भारतीय परम्पराएं पश्चिम की अपेक्षा यदि महान् हैं तो किस सीमा तक और क्यों? वह केवल महेन्द्र के मुख से इतना ही कहलवा सका— 'तुमने यूरोप घूमा—वहां की हवा खाई—वहां की आज़ादी देखी, पर उस आज़ादी की दुर्दशा भी देखी? स्त्रियों की पवित्रता तो वहां कोई चीज़ ही नहीं रह गई। विवाह वहां एक बोझ है। पति-पत्नी में जो विश्वास की भावना होनी चाहिए, उसका वहां नामनिशान भी नहीं है। प्रत्येक स्त्री को पुरुष से और पुरुष को स्त्री से यह भय लगा रहता है कि जाने कब सम्बन्ध विच्छेद हो जाय, और कभी वे एक नहीं हो पाते हैं,उनका सम्बन्ध आत्मिक नहीं होता, सिर्फ शारीरिक होता है। गार्हस्थ्य जीवन और प्रेम जैसे वहां झुलस गया है।'"[1] इस कथन के अतिरिक्त नीलू के चरित्र के माध्यम से यह कहीं नहीं स्पष्ट हुआ है कि भारतीय परम्पराएं महान् हैं या उपयोगी हैं। केवल एक कथन मात्र से उपन्यास की पूर्ति नहीं हो सकती। वास्तव में अन्त तक पहुँचते-पहुँचते लेखक का उद्देश्य केवल इतना रह जाता है कि कब नीलू में वासनात्मक ज्वार का विस्फोट हो जाए और फ्रायड के सत्य उपासक की भाँति वह नीलू के आत्म-समर्पण का चित्रण कर सके।

पति की मृत्यु के पश्चात् जीवन में संघर्ष

भारतीय नारियों के जीवन में पति का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है। विवाहित जीवन में वे एक प्रकार से पति पर ही आश्रित होती हैं, उनका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। विशेष रूप से आलोच्य-काल में, जब आधुनिकता का उतना अधिक प्रसार नहीं हुआ था, जितना १९४७ के पश्चात्, और जब नारियाँ घर से बाहर निकल कर अधिक संख्या में नौकरियों आदि में प्रवेश नहीं कर रही थीं, तथा आर्थिक दृष्टि से उनके स्वावलम्बी होने की राह में अनेक बाधाएं थीं, उस परिस्थिति में तो पति का स्थान और भी प्रमुख होता था, वही परिवार का एकमात्र आलम्बन होता था। ऐसी अवस्था में जब पति की युवावस्था में ही मृत्यु हो जाती थी, तो नारियों के समक्ष अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती थीं। उनका परिवार

---

१. आचार्य चतुरसेन शास्त्री : नीलमणि (१९४०), बनारस, पृष्ठ १०६-१०७।

में विशेष सम्मान नहीं होता था, और समाज का इतना नैतिक पतन हो गया था कि पति के बड़े भाई की ही वासना अबलाओं के साथ अपने पाप दिखाने प्रारम्भ कर देती थी। और नहीं तो नारी बेचारी वेश्यावृत्ति या नर्तकी का पेशा अपनाने के लिए बाध्य हो जाती थी। नारी की आर्थिक परतन्त्रता ही इन समस्याओं के मूल में थी, जिनसे विवश होकर नारियों को जीवन की कुरूपताओं एवं विषमताओं से समझौता कर लेना पड़ता था। ऐसी नारियों के रूपधारिणी (तपोभूमि), तथा ललिता (त्यागमयी) में प्राप्त होते हैं, जिनके पतियों की मृत्यु उनकी युवावस्था में ही हो जाती है, और जिन्हें समाज की विषमताओं का सामना करना पड़ता है।

ऋषभ चरण जैन के उपन्यास "तपोभूमि" (१९३९) की नायिका धरिणी की परिकल्पना का स्रोत समाज की परिवर्तित वे परिस्थितियाँ थीं, जिनमें पाप, अनाचार और निष्क्रियता का प्रसार हो रहा था और नैतिकता एवं संस्कृति को तिलांजलि देकर समाज अपने को नवीनता (?) की ओर अग्रसर करने का प्रयत्न कर रहा था। नारी पुरुष के वासना और हवस का शिकार हो रही थी और पुरुष का अहं उसकी दयनीयता से टकरा कर शक्तिशाली होने के नाते अपने को विजयी समझ रहा था। धरिणी भी पुरुष की इसी अहम्मन्यता का शिकार होती है तथा इसी के परिणामस्वरूप आत्मपीड़न में उसका जीवन व्यतीत होता है। धरिणी विवाहोपरान्त जब अपने पति के घर जाती है तो उसने वास्तविक रूप में कभी नहीं समझा कि अन्ततः विवाह है क्या, और वैवाहिक जीवन का मूल्य क्या है, वह केवल इतना ही समझ पाती है कि विवाह के पश्चात् केवल एक घर को छोड़ कर दूसरे घर में आ गई है। विवाह के थोड़े ही समय पश्चात् उसके पति की मृत्यु हो जाती है। पति का प्यार और सुख वह कभी नहीं प्राप्त कर सकी। हर लड़कियों की भाँति उसकी स्वाभाविक इच्छाएं, कामनाएं और स्वप्न सभी कुछ अपूर्ण रह जाते हैं और अपूर्णता की परिधि में ही उसका व्यक्तित्व निर्मित होता है। उसके चरित्र निर्माण की प्रक्रिया में भी उसके जीवन की इसी अपूर्णता का महत्वपूर्ण स्थान होता है। उसका जेठ सुन्दरलाल उसके साथ शारीरिक सम्बन्ध उसे बहका कर स्थापित करता है। जब इसका चरमोत्कर्ष आता है तभी धरिणी को ज्ञात होता है कि वह किस दिशा में जा रही थी और उसने क्या किया है! वह माँ बनने वाली होती है। पुरुष चाहता है अपने अधिकार का प्रदर्शन, अपनी प्रतिष्ठा, अपने अहं का सम्मान और इसके लिए वह किसी भी मार्ग का अनैतिक-नैतिक कुछ भी, अवलम्बन करने को प्रस्तुत रहता है, पर नारी इसे अस्वीकृत करती है। उसकी चेतना एक पाप करने के बाद दूसरा पाप करने को प्रस्तुत नहीं है। सुन्दरलाल गर्भपात चाहता है, धरिणी दृढ़ता से इसका विरोध करती है क्योंकि उसके विचार से, "......एक चीज़ है जो समाज के नियमों से भी बड़ी है, न्याय से भी कठिन है, आपके फैसले से भी दुर्निवार्य है। आप उसे देख कर भी नहीं देखना चाहते। मैं उसका साथ न

छोड़ूँगी। वह मेरा धर्म है।"[1] घरिणी का विश्वास इस आघात से टूट जाता है, वह अपना भला चाहने वाले डाक्टर पर भी अविश्वास करने लगती है।

उनके जीवन में जैसे एक तूफान आता है। उसने ऐसा कृत्य किया था, जिसे समाज कभी मान्यता नहीं दे सकता था। सुन्दरलाल का कृत्य समाज की दृष्टि में क्षम्य था, पर घरिणी तो जैसे सारे पाप की जड़ थी, समाज उसे कभी क्षमा नहीं कर सकता था। उसके सम्मुख दो ही मार्ग थे, जिनमें से एक उसे अपनाना ही था। या तो समाज और पुरुष की बात मान कर एक पाप को दूसरे पाप से चूर करती फिर पाप करती और उसे पुनः दूसरे पाप से चूर करती। इस प्रकार इस सिलसिले को जीवन पर्यन्त चलाए चलती जो पुरुष की हार्दिक इच्छा है और जो समाज का अग्रणी है, उसकी परम्पराओं और मान्यताओं का पोषक है। उसके सम्मुख दूसरा भी मार्ग था कि वह अपने आंचल में अपनी सारी कहानी छिपाए अपना जीवन समाप्त कर ले। पुरुष का सम्मान इससे बना रहता, नारी के आत्म-बलिदान से उसकी हार्दिक इच्छाएं पोषित होती रहती। घरिणी ने पहले मार्ग को नहीं अपनाया, और गंगा में कूद जाती है। पर परिस्थितियाँ उसे इलाहाबाद के एक कोठे पर ला बिठाती हैं, वह वेश्या बन जाती है। किन्तु गन्दे और घिनोने वातावरण में भी रह कर घरिणी नहीं बिकती, उसकी आत्मा नहीं मरती, उसके पावों की गति उसकी आवाज़ ही बिकती है। नवीन नामक एक युवक उसे आश्रय देता है और घरिणी के जीवन में जैसे क्षणिक स्थिरता आती है, अपने पिछले जीवन को वह सोचती है, उससे निष्कर्ष निकालती है।

घरिणी का चरित्र बड़ा ही आकर्षक और सहानुभूतिपूर्ण बन पड़ा है। समाज की विभिषिकाओं का शिकार बन कर भी वह संघर्ष करती रहती है और "पर" के लिए "स्व" का बलिदान करने में ही अपने जीवन की इतिश्री समझती है। नवीन का यह कथन कि, "मैं घरिणी को उत्कृष्ट कोटि की बौद्धिक सामर्थ्य सम्पन्न मानता हूँ। उसकी दृष्टि बहुत ही पारदर्शी है, और उसकी बुद्धि में यह है कि किसी के आसरे वह टिकना जानती ही नहीं और सदा मौलिक मार्गों में ही भटकना पसन्द करती है।"[2] असंगत नहीं है, बल्कि घरिणी की सहनशीलता, उसका आत्मपीड़न उसकी विनयशीलता एवं स्पष्ट हृदय उसके व्यक्तित्व को अत्यन्त आकर्षक रूप प्रदान करते हैं। घरिणी की परिकल्पना का उद्देश्य पुरुष की वासना और उसकी पृष्ठभूमि में नारी की विवशता प्रदर्शित करना था। नारियाँ किस प्रकार छली जाती हैं, उनका जीवन किस प्रकार नष्ट किया जाता है, और किस प्रकार हमारे समाज की रूढ़िवादी परम्पराएं और मान्यताएं उसे पाप के मार्ग पर जाने को विवश कर देती हैं, लेखकों का यह प्रमुख उद्देश्य घरिणी के रूप में पाठकों के सम्मुख उपस्थित

करने का था और धरिणी के माध्यम से उन्होंने सरलतापूर्वक चित्रित भी किया है।

इसी प्रकार भगवती प्रसाद वाजपेयी के उपन्यास "त्यागमयी" (१९४०) की नायिका ललिता के पति की मृत्यु प्रारम्भिक अवस्था में ही हो जाती है, और पति की मृत्यु के पश्चात् परिवार में उसके साथ दुर्व्यवहार होता हैं। कुछ दिनों तक तो वह चुपचाप इसे सहन करती जाती है, पर अत्याचार समाप्त नहीं होता, और अन्त में अपने ससुराल वालों के निर्दयतापूर्ण व्यवहार से घबड़ा कर वह आत्महत्या के निश्चय से नदी में कूद जाती है। पर संयोग से उसे विजय नामक युवक बचा लेता है। धीरे-धीरे समय की गति के साथ विजय उसके निकट आता जाता है, और वह मन ही मन उससे प्रेम करने लगती है। पर विजय उससे नहीं एलिस नामक युवती से प्रेम करता है। इससे ललिता की व्यथा थोड़ी बढ़ जाती है, पर वह कर्तव्यच्युत नहीं होती, और अपने एकतरफा प्रेम को चेतना से चीर-कर अलग कर देती है। एलिस दुर्भाग्य से एक अपराध में फंस जाती है, और उसे कालेपानी की सजा हो जाती है। ललिता यह सुनकर बनारस जाती है, और सारा एलिस का अपराध स्वयं स्वीकार कर फाँसी का दण्ड ग्रहण कर लेती है, जिससे विजय और एलिस मिल जाते हैं, और ललिता त्यागमयी हो जाती है।

ललिता के चरित्र का जिस प्रकार विकास दिखाया गया है, और एक पीड़ा-ग्रस्त विधवा से उसे जिस प्रकार त्यागमयी बनते दिखाया गया है, उसके पीछे एक ही मूल उद्देश्य था, नारियों के समक्ष उच्चादर्श प्रस्तुत कर उन्हें सत्पथ की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करना। पर उस प्रक्रिया में लेखक ने जिन प्रसंगों की अवतारणा की है, वह बहुत अधिक विश्वसनीय नहीं है। विशेपतया एलिस का अपराध अपने सिर पर लेने का, और बनारस में ललिता का भाषण आदि देने का प्रसंग तो पूर्णतया अस्वाभाविक है।

नर्तकी नारियों द्वारा साधारण दाम्पत्य जीवन को महत्व प्रदान करना

प्राचीन काल में नर्तकियों, विशेपतया राज-नर्तकियों का जीवन अत्यन्त वैभवशाली होता था, और वैभव एवं विलास में ही उनका प्रत्येक क्षण व्यतीत होता था। वाह्य रूप से तो यही प्रतीत होता था कि उनके जीवन में बस सुख ही सुख है, दुःख का वहाँ कोई स्थान नहीं है, पर वस्तुतः उन राज-नर्तकियों की अन्तरात्मा असंतोष की ज्वाला में सुलगती रहती थीं। वैभव एवं प्रदर्शन के कारण उन्हें मानसिक शांति नहीं प्राप्त होती थी, जिसे पाने के लिए वे व्यग्र रहती थीं। उनका अतीव सुन्दरी होना स्वाभाविक ही था, इसीलिए राजकुमार या नगर का श्रेष्ठ धनी व्यक्ति उनसे प्रेम करता था, पर उस प्रेम के विवाह रूप में परिणत होने में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती थीं। या तो राजकुमार में अपना अहं इतना प्रमुख होता था, कि वे राजनर्तकी के किसी कृत्य पर भ्रम में आकर उसे ठुकरा देते थे, जिससे उनके जीवन में संघर्षों का तूफान आ जाता था। यदि श्रेष्ठ धनी व्यक्ति होता था,

उसी स्तर के अन्य लोग अपनी कन्याओं का विवाह उससे करने के लिए प्रयत्नशील हो उठते थे। ऐसी परिस्थिति में राजनर्तकी का कर्तव्य प्रमुख हो जाता था, तथा वे अपने प्रेम का दमन करती थीं। पर अपने प्रेमी को भुलाना सहज सम्भव नहीं होता, अतः उनके जीवन में भी संघर्ष उत्पन्न हो जाता था। इस संघर्ष के मूल में धन और वैभव ही प्रमुखतः क्रियाशील समझा जाता था, अतः वे नर्तकियाँ सारी सम्पत्ति ठुकरा कर साधारण दाम्पत्य जीवन को ही अपनाने के लिए व्यग्र हो उठती थीं, क्योंकि उसमें उन्हें अपूर्व मानसिक शान्ति प्राप्त करने की आशा रहती थी। आलोच्यकाल में ऐसी दो नर्तकी नायिकायों की कल्पना चित्रलेखा (चित्रलेखा) तथा तथा दिव्या (दिव्या) के रूप में की गई है, जिन्होंने महलों का सुख त्याग कर साधारण दाम्पत्य जीवन को अपनाना ही अधिक श्रेयस्कर समझा।

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास "चित्रलेखा", (१९३४) की नायिका चित्रलेखा पाटलीपुत्र की सर्वाधिक सौन्दर्य प्राप्त नारी थी। वह कुशल नर्तकी थी, उसने वेश्यावृत्ति नहीं अपनाई। वह ब्राह्मण विधवा थी, तथा उसमें असाधारण व्यक्तित्व था। उसके चरित्र की पाँच बातें मुख्य थीं—

१—उसका जीवन अतृप्त आकांक्षाओं, निराशा और दमित शमित वासना के उद्दाम वेगों से संचालित है।

२—अपने मनोभावों पर नियंत्रण करना चित्रलेखा खूब जानती है।

३—चित्रलेखा यदि प्यार कर सकती है तो उसी प्यार को अपनी चेतना से चीर कर त्याग भी कर सकती है। उसमें अनुपम त्याग वृत्ति है।

४—कर्त्तव्य पथ को पहचानने की चित्रलेखा में शक्ति है।

५—उसमें शिष्टता, संयत स्वभाव और सहृदयता है।

चित्रलेखा अठारह वर्ष की आयु में विधवा हो गई थी। वैधव्य जीवन के संयम से ही वह व्यतीत करना चाहती थी कि कृष्णादित्य नामक एक युवक ने चित्रलेखा के चारों तरफ लिपटे संयम पूर्ण गम्भीरता के आवरण को चीर दिया और चित्रलेखा उस सुन्दर नवयुवक के प्रेम जाल में आबद्ध हो गई। पर इस प्रेम का अन्त अवसानपूर्ण स्थिति में ही सम्पन्न हुआ। चित्रलेखा गर्भवती हो गई और दोनों को घर से निकाल दिया गया। विवाह के पूर्व नारी का गर्भवती हो जाना ही इसका मूल कारण था। हर तरफ के व्यंग्य बाण, प्रताड़नाओं और उपेक्षा से घबराकर कृष्णादित्य ने मृत्यु श्रेयस्कर समझी। कुछ समय पश्चात् चित्रलेखा को जो पुत्र उत्पन्न हुआ, वह भी जीवित न रह सका और इसका चित्रलेखा के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसने जिस नर्तकी के यहाँ शरण पाई थी, वहीं नृत्य की शिक्षा पाई। जो संयम वह अभी तक पाले थीं वह भी जाता रहा और वह पाटलीपुत्र की कुशल नर्तकी और नायिका बन गई। पर कृष्णादित्य का प्रेम और उस पुत्र की मृत्यु—दोनों आघात प्रथम बार ही चित्रलेखा के जीवन पर नहीं हुए थे। इसके भी पूर्व

उसने अपने पति से प्रेम किया था जो ईश्वरीय था। उसने अपने पति के सुख एवं संतोष के लिए अपना निजत्व मिटा दिया था। उसने अपने जीवन का प्रत्येक क्षण अपने पति को समर्पित कर दिया था। यह ईश्वरीय प्रेम था और चित्रलेखा के लिए तपस्या थी। पर उसकी तपस्या व्यर्थ ही गई। पति की मृत्यु के पश्चात् उसका जीवन अन्धकारमय हो गया। इन दो आघातों का उसके जीवन पर अत्यधिक स्थाई प्रभाव पड़ा था। उसके जीवन के प्रत्येक क्षण मे निराशा की भावना समा गई थीं। वह एक के पश्चात् एक परिस्थितियों से पराजित हो गई थी। उसे सुख एवं संतोष कभी न प्राप्त हो सका और उसकी सारी नारी सुलभ आकांक्षाएं और कल्पनाएं अपूर्ण रह गई थीं। इसके पश्चात् उसके जीवन में बीजगुप्त आता है। "इस बार चित्रलेखा ने प्रेम में केवल पिपासा और कभी-कभी आत्मविस्मरण का अनुभव किया, आत्मबलिदान का नहीं।[1]" इसके पश्चात् ही उसने कुमारगिरि से प्रेम किया। इस प्रकार अपने जीवन में उसने चार व्यक्तियों से प्रेम किया और उसका जीवन बराबर संघर्ष और विषम परिस्थितियों में डूबता उतरता रहा। उसकी चेतना की हलचल का आभास दो प्रसंगों से मिलता है। कृष्णादित्य और बच्चे की मृत्यु के पश्चात् वह गहन निराशा के आवरण में डूब गई थी। ऐसे ही में जब उसकी भेंट बीजगुप्त से होती तो वह कहती है—"नहीं मैं व्यक्ति से नहीं मिलती। मैं केवल समुदाय के सामने आती हूं, व्यक्ति का मेरे जीवन से कोई—सम्बन्ध नहीं।" (पृष्ठ २७) पर वह अपनी इस इच्छा पर दृढ़ नहीं रह पाती। मन बीजगुप्त के लिए संघर्ष करता है, चेतना उसे अस्वीकृत करती है। प्रेम बीजगुप्त की ओर बढ़ता है, पर जीवन की गहन निराशा अपने ही तक सीमित रहने को कहती है। अन्त में विजय बीजगुप्त की होती है। पर उसे यह सब मिथ्याडम्बर सा प्रतीत होता है। जब उसके जीवन की एक ओर कुमार गिरि भी आ उपस्थित होता है। उसे बीजगुप्त और कुमारगिरि के बीच संघर्ष करना पड़ता है, और अन्त में कहती है, —"मैं जनख से निकल कर एकान्त में आना चाहती हूं। माया को छोड़कर ब्रह्म में लिप्त होना चाहती हूं……।"[2] चित्रलेखा के इस कथन में उसके जीवन में व्याप्त गहन निराशा का भाव प्रकट होता है।

यद्यपि कुमारगिरि चित्रलेखा के जीवन में आता है, फिर भी बीजगुप्त का अस्तित्व उसके जीवन से पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हो जाता। पर चित्रलेखा केवल प्यार करना ही नहीं जानती, त्याग करना भी जानती है। उसमें अनुपम त्यागवृत्ति है। बीजगुप्त का विवाह यशोधरा से निश्चित होता है पर बीच में चित्रलेखा के कारण बाधा उत्पन्न होती है। चित्रलेखा को जब यह ज्ञात होता है तो वह विचलित नहीं होती, या स्वार्थवश केवल बीजगुप्त को अपने ही तक सीमित रहने के लिए

---

१. भगवती वर्मा : चित्रलेखा (१९३४), इलाहाबाद, पृष्ठ ९२।
२. वही, पृष्ठ ५६—५७।

विवश नहीं करती। वह स्वयं ही यशोधरा की राह से हट जाती है। पर हटना ही सब कुछ नहीं था। वह जानती थी कि बीजगुप्त मात्र इतने ही से यशोधरा से विवाह करने को प्रस्तुत न होगा। इसीलिए वह उसे पत्र लिखती है—"मैंने तुमसे प्रेम किया है—और अब भी करती हूँ। प्रेम में त्याग की आवश्यकता होती है, उसी त्याग को कर रही हूँ। मैंने तुम्हारे जीवन को निरर्थक बना दिया था—एक योग्य पुरुष को मेरे प्रेम ने कर्तव्यच्युत कर दिया था। उसका प्रतिकार करने जा रही हूं। मैंने अब भोग विलास को तिलांजलि देकर संयम को ही अपनाना उचित समझा—और इसीलिए मैं योगी कुमारगिरि से दीक्षा ले रही हूँ। तुम्हें विवाह करना ही होगा, यदि अपने लिए नहीं, तो मेरे अनुरोध से। मेरे रहते तुम अपना विवाह न करोगे, मैं जानती हूं—इसीलिए तुमसे अलग होना पड़ रहा है, रही मैं, मैं विधवा थी, प्रेमवश मैं कर्तव्यभ्रष्ट हुई, एक बार फिर अपना कर्तव्य पालन करूंगी—वैधव्य के संयम को पालन करने का प्रयत्न करूंगी।"[1]

यह पत्र चित्रलेखा ने कर्तव्य पालन की प्रवृत्ति से अभिभूत हो लिखा था। यह उसके प्रेम का सर्वोच्च आदर्श त्याग और आत्म बलिदान था। उसकी हार्दिक इच्छा थी कि मात्र उसके कारण बीजगुप्त का जीवन नष्ट न हो, वह सुखी एवं प्रसन्नता का अनुभव करे। इसके लिए बीजगुप्त की दृष्टि में वह अपने को गिराना भी चाहती थी। उसने कुमारगिरि से प्रेम करना प्रारम्भ किया, ताकि बीजगुप्त उससे घृणा करे। वह कुमारगिरि के आश्रम में उससे प्रेम करने गई थी वहाँ उसकी भावनाओं ने दूसरी ही दिशा ग्रहण कर ली। उसने अपने जीवन में अब साधना और तपस्या को प्रमुख स्थान देने का निश्चय कर लिया। यह निश्चय उसने काफी संघर्ष के पश्चात् ही किया होगा। यद्यपि उपन्यास में उसके इस अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट नहीं किया गया है, और फिर भी चित्रलेखा के मन में बीजगुप्त को भुला देने और तपस्या एवं साधना के बिन्दु तक पहुंचने के लिए यथेष्ट प्रयास करना पड़ेगा। यद्यपि यह तो निश्चित ही है कि यह उसने त्याग और कर्तव्य की भावना से ही किया, पर अपने जीवन की गहन निराशा के वातावरण में एकमात्र अलोक के रूप में बीजगुप्त को भुलाना उसके लिए सहज सम्भव न था। उसका भावुक मन कभी इसे स्वीकार नहीं कर सकता था कि वह बीजगुप्त को अपनी स्मृति में भी न लाएं। हाँ! बीजगुप्त के साथ उसके जीवन पर जो विलासिता का आवरण आच्छादित हो गया था, वह उसे मिटा देना चाहती थी, और प्रेम को एक आदर्श के रूप में ग्रहण करना चाहती थी। वह स्वयं कहती है, "......और यह याद रखना बीजगुप्त कि मैं तुमसे प्रेम सदा करती रहूंगी। क्या प्रेम का प्रधान अंग भोगविलास ही है, क्या बिना भोगविलास के प्रेम असम्भव है? मैं तुमसे इस समय केवल शारीरिक सम्बन्ध तोड़ रही हूं, इसकी

---

१. भगवतीचरण वर्मा : चित्रलेखा : (१९३४), इलाहाबाद, पृष्ठ ११०।

अपेक्षा हमारा आत्मिक सम्बन्ध और दृढ़ हो जायगा।"[1] अपने आदर्श और प्रेम की पवित्रता को एक और स्थल पर चित्रलेखा ने स्पष्ट किया है। चित्रलेखा कुमारगिरि की कुटी में जाती है और योगी कुमारगिरि अपने पथ से विचलित सा होते है। पर चित्रलेखा उन्हें रोकते हुए कहती है, "देव! मुझसे भय मत खाना। अपनी साधना और तपस्या में तुम मुझे कभी बाधा रूप में न पाओगे। इतना विश्वास दिलाती हूँ। मैं तुमसे प्रेम करती हूं, और प्रेम का अर्थ होता है, निःसीम त्याग। मैं उसी में सुखी होऊंगी, जिसमें तुम्हें सुख मिले। (पृष्ठ ९८)। इस प्रकार चित्रलेखा आदर्श प्रेम और महान् त्याग को प्रस्तुत कर अपने को वातावरण से ऊंचा उठा पाती है।

चित्रलेखा का व्यक्तित्व अत्यन्त ही आकर्षक है। उसमें न तो ईर्ष्या है, न द्वेष की अग्नि है। उसमें कपटाचरण बिल्कुल नहीं है। एक क्षण को वह बीजगुप्त से छिपा कर कुमारगिरि से प्रेम करना चाहती है, पर दूसरे ही क्षण उसे अपने भाव पर पश्चात्ताप होता है और वह बीजगुप्त से सब कुछ स्पष्ट कर देती है। स्वयं उपन्यासकार के ही अनुसार कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो दूसरों को अपनी ओर आर्कर्षित कर लेते हैं, जो दूसरे व्यक्तित्व को आर्कर्षित करके उसे दबा देते हैं, और उसको अपना दास बना लेते हैं। चित्रलेखा का व्यक्तित्व भी ऐसा ही था। उसमें उदारता थी, और सहृदयता की भावना थी। श्वेतांक उसका हाथ पकड़ लेता है। यह एक दास के लिए अनहोनी बात थी और चित्रलेखा चाहती तो उसे अपने यहाँ से निकाल भी सकती थी। पर उसकी सहृदयता उसे ऐसा नहीं करने देती। वह श्वेतांक को समझा देती है कि यह उसकी त्रुटि है। वह एक प्रतियोगिता में कुमारगिरि को सभी सामन्तों के सामने पराजित करती है, पर अपनी भूल भी वह स्वीकार करती है। वह इसे अपनी विजय नहीं पराजय ही कहती है, क्योंकि, "कुमारगिरि को अपमानित और लांछित करने का न मुझे कोई कारण था और न मुझको कोई अधिकार ही था। मेरा क्षेत्र दूसरा है, विद्वानों के क्षेत्र में पदार्पण करना मेरे लिए अनुचित था। मैंने जो कुछ किया वह बुरा किया। इस समय मैं उससे क्षमा प्रार्थना करने गई थी।" (पृष्ठ ६१)। पाटलिपुत्र की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी नर्तकी का अपनी भूल पर इस प्रकार पश्चात्ताप करना और क्षमा याचना करना क्या उसके चरित्र को गरिमा नहीं प्रदान करता? चित्रलेखा में शिष्टता और संयत स्वभाव है। उसके व्यवहार में, उसकी बातचीत में शिष्टता रहती है—और कठिन परिस्थितियों में भी वह अपना संयत स्वभाव नहीं खोती।

बाद में चित्रलेखा का जीवन पश्चाताप में ही बीतने लगा। उसने एक छोटी-सी भूल की, और इसी ने उसके जीवन पर जबर्दस्त प्रतिक्रिया डाला। वह भूल थी कुमारगिरि को आत्मसमर्पण। और इसी पश्चाताप की अग्नि में जलती वह अपने भवन से बाहर भी नहीं निकलती थी। वह बीजगुप्त से भी नहीं मिलती थी। पर

---

१. भगवतीचरण वर्मा: चित्रलेखा, (१९३४), इलाहाबाद, पृष्ठ ११५।

अन्त में जब उसे ज्ञात होता है कि बीजगुप्त ने यशोधरा से विवाह नहीं किया, अपनी सारी सम्पत्ति श्वेतांक को दे दी, ताकि वह निर्धन न समझा जाय और यशोधरा से विवाह कर सके, तो वह भी अपनी सारी सम्पत्ति दान कर बीजगुप्त के साथ चल पड़ती है। यद्यपि चित्रलेखा पाटलिपुत्र की कुशल नर्तकी के रूप में ही चित्रित की गई है, पर यदि उसके चरित्र का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय, तो यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है, कि आर्य ललनाओं के जो आदर्श होते हैं, वे चित्रलेखा में पर्याप्त सीमा तक वर्तमान थे। कठिन एवं विषम परिस्थितियों में भी नारियाँ किस प्रकार धैर्य, साहस एवं आत्मविश्वास का परिचय दे सकती हैं। चित्रलेखा इसी के प्रतीक स्वरूप उपस्थित की गई है।

यशपाल के उपन्यास "दिव्या" (१९४५) की नायिका दिव्या भी इसी श्रेणी में आती है। धर्मस्थ महामण्डित देवशर्मा की प्रपौत्री, आयुष्मती कुमारी दिव्य नर्तकी है और मल्लिका की शिष्या है। वह कुमार पृथुसेन से प्रेम करती है और उससे विवाह करने की कामना प्रकट करती है। पृथुसेन एक युद्ध पर जाने के लिए तत्पर रहता है, अतः वहाँ से लौटने पर विवाह करने का आश्वासन देता है। पृथुसेन युद्ध पर जाता है, और इधर दिव्या गर्भवती हो जाती है। पृथुसेन युद्ध से घायल होकर लौटता है। दिव्या जब उसे देखने आती है तो परिचायिका संकेत से न बोलने को कहती है। दिव्या काफी देर तक वहाँ बैठी रहती है, फिर वापस चली आती है। आँखें खुलने पर पृथुसेन को सारा वृतान्त ज्ञात होता है और इसे वह अपने प्रति दिव्या की उपेक्षा समझता है। तदनन्तर वह सीरो नामक युवती से विवाह करने को प्रस्तुत हो जाता है। दिव्या इससे विचलित हो कहती है—"......मैं सीरो के साथ सख्य भाव से सपत्नीत्व स्वीकार करूँगी। सभी कुलीन आर्यों के परिवार में अनेक पत्नियाँ हैं। क्या सीरो भी मेरे साथ आर्य की पत्नी नहीं बन सकती। एक वृक्ष की छाया में अनेक प्राणी विश्राम पाते हैं[1]।" पर दिव्या का इतना भी भाग्य न था, और जब उसने सुना कि लोग जान गये हैं कि दिव्या गर्भवती है, तो वह नगरी छोड़ कर चली जाती है। पर वह दुष्टों के हाथ में पड़ दासी की भाँति बेच दी जाती है। नदी में अपने बच्चे के साथ वह कूदकर आत्म हत्या करने का प्रयत्न करती है। पर वहाँ रत्नप्रभा उसे बचा लेती है और अपने यहाँ ले जाती है। वहाँ दिव्या, अंशमाला के नाम से विख्यात होती है। लोग उसके कुशल नृत्यों पर मोहित हो जाते हैं। रत्नप्रभा के आयोजनों में अनियन्त्रित भीड़ होने लगती हैं। पर दिव्या के मन और मस्तिष्क पर अपनी असफलता की गम्भीर प्रतिक्रिया होती है और वह निराशा के दमघोंट वातावरण से अपने को मुक्त नहीं कर पाती। वह अपने पहले के अस्तित्व को पूर्ण रूप से मिटा देना चाहती है। मारिश उसे सान्त्वना दे नया जीवन देना चाहता है, पर दिव्या को यह स्वीकार न था। वह अपनी अस्वीकृति के साथ कहती है "......यह भाग्य है।"

---

१. यशपाल : दिव्या, (१९४५), लखनऊ, पृष्ठ ९३।

मारिश सचेत हो गया—"भाग्य देवी, भाग्य का अर्थ है विवशता है।"

"हाँ आर्य, विवशता"—अंशु ने स्वीकार किया।

"भाग्य का अर्थ है—असामर्थ्य।"—मारिश पुन: बोला।

"हाँ आर्य असामर्थ्य—पुनः अंशु ने स्वीकार किया।"[1]

दिव्या की इस निराशा का कारण क्या है। दिव्या की एक बार की सफलता और उसके पश्चात् एक के बाद एक ठोकरें। पृथुसेन के व्यवहार ने दिव्या की मनःस्थिति पर जबर्दस्त प्रभाव डाला था और परिणामस्वरूप अपना जीवन सौंपने के लिये वह किसी का भी विश्वास नहीं कर पाती। और मारिश के यह कहने पर कि जीवन के एक प्रयत्न या अंश की विफलता सम्पूर्ण जीवन की विफलता नहीं है, दिव्या निराशा के स्वर में कहती है—"...मैं त्रस्त हूँ। प्रश्रय के मूल्य पर जीवन की सार्थकता नहीं चाहती। जीवन की विफलता में भी मुझे वेश्या की आत्म निर्भरता स्वीकार है...... ।[2] यह बात फिर उठती है कि जब आचार्य रूद्रधीर उसे अपनी पत्नी बनाने के लिए प्रस्तुत होते हैं। क्योंकि वे सोचते हैं—वह विप्र कुल की कन्या है, अभिजात सामन्त वंश की वधू लक्ष्मी। उसका नारीत्व सुरक्षित है। किन्तु दिव्या को यह स्वीकार न था। वह इन सब बातों से इतना विरक्त हो गई थी कि उसे मोह नहीं रह गया था इस वैभव से। रूद्रधीर के बहुमूल्य हार देने पर वह विनय से आचार्य को वापस कर देती है कि विदेश में यह उनके काम आएगी। वह वेश्या बनी, पर तन बेचने के लिए नहीं, किसी के सहवास का सुख भोगने के लिये नहीं, द्रव्य, मुद्रा संचित करने के लिये नहीं, केवल जीवित रहने के लिये। वह पुरानी बातों को भूल जाना चाहती थी और जिन परिस्थितियों में वह रह रही है, उसी के अनुरूप अपने को ढ़ालकर शेष जीवन बिता देना चाहती थी। इसीलिये रूद्रधीर के विवाह प्रस्ताव को भी अस्वीकार करते हुए वह कहती है—"आर्य, सागल के शैविल्य वंश की कुमारी दिव्या मातृभूमि से अथवा भाग्य से जीवन की सरिता के अजाने प्रवाह में प्रवेश कर गई। जब वह उस प्रवाह में से निकली तो वह वेश्या नर्तकी अंशुमाला थी। वह अपने कौमार्य की पवित्रता भी खो चुकी। एक द्विज स्वामी के लिए अर्पित न होकर वह समाज और जन की सम्पत्ति बन गई।"[3] फिर परिस्थितियाँ बदलती जाती हैं और मल्लिका उत्तराधिकारणी के रूप में दिव्या को घोषित करती है पर इस प्रस्ताव पर सैकड़ों खड्ग निकल आए। एक वेश्या को उस स्थान पर देखना किसी को मान्य न था। दिव्या सभास्थल से उठकर पान्थशाला चली जाती है। वहाँ रूद्रधीर पुनः पहुँचकर अपना प्रस्ताव दुहराते हैं। पर दिव्या ने पुनः उसे अस्वीकार कर दिया। वहाँ मारिश भी आया और बोला—"मारिश देवी को राजप्रसाद में महादेवी का आसन अर्पण नहीं कर सकता।

---

१. यशपाल : दिव्या, (१९४५), लखनऊ, पृष्ठ १५३।
२. यशपाल : दिव्या, (१९४५), लखनऊ, पृष्ठ १६५।
३. यशपाल : दिव्या : (१९४५), लखनऊ, पृष्ठ १७३।

मारिश देवी को निर्माण के चिरन्तन सुख का आश्वासन नहीं दे सकता । वह संसार के सुख-दुःख अनुभव करता है । अनुभूति और विचार ही उसकी शक्ति है । उस अनुभूति का ही आदान-प्रदान वह देवी से कर सकता है । यह संसार के धूल-धूसरित मार्ग का पथिक है । उस मार्ग पर देवी के नारीत्व की कामना में वह अपना पुरुषत्व अर्पण करता है । वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है । वह नश्वर जीवन में सन्तोष की अनुभूति दे सकता है ।······सन्तति की परम्परा के रूप में मानव को अमरता दे सकता है ।"

भूमि पर बैठी दिव्या ने भित्ति का आश्रय छोड़ दोनों बाहु फैला दिये । उसका स्वर आर्द्र हो गया—'आश्रय दो आर्य !'"[1]

इस प्रकार अपनी एक असफलता से प्रताड़ित होकर दिव्या ने सारा ऐश्वर्य, सारा वैभव त्याग कर साधारण जीवन व्यतीत करना अधिक उचित समझा । उसने वह कुलवधू पद अस्वीकृत कर दिया, जिसकी लालसा प्रत्येक नारियों को होती है, स्वर्ग की अप्सराएं भी जिसकी कामना करती हैं, उसी कुलवधू पद की उपेक्षा कर दिव्या ने साधारण दाम्पत्य जीवन को अधिक गौरवपूर्ण समझा, और इसीलिए आचार्य रुद्रधीर के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर उसने मारिश कृत प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया और मारिश के आश्वासन के अनुसार राजप्रसाद में महादेवी के पद के ऊपर संसार के धूल-धूसरित मार्ग का पथिक बनना अधिक उचित समझा । वास्तव में दिव्या की परिकल्पना का स्रोत मार्क्सवादी भावना ही है, जिसने दिव्या को कुलवधू का पद अस्वीकृत कर साधारण जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य कर दिया था । लेखक का उद्देश्य साधारण वर्गहीन जीवन की महत्ता प्रतिपादित करना था, और प्रमुख पात्र उसी के अनुरूप चित्रित किए गये हैं । दिव्या की परिकल्पना की पृष्ठ-भूमि में मार्क्सवादी भावनाएं क्रियाशील थीं । मार्क्सवाद मानता है कि संसार में पूंजीवाद का पूर्ण नाश होना चाहिए, क्योंकि उससे समाज एवं मनुष्य की सुख-शान्ति नष्ट होती है ।[2] दिव्या का आचार्य रुद्रधीर का प्रस्ताव अस्वीकृत कर मारिश का प्रस्ताव स्वीकृत करना इसका द्योतक है । यशपाल दिव्या के माध्यम से भारतीय नारियों के सम्मुख यह आदर्श उपस्थित करना चाहते थे कि धन और ऐश्वर्य की कामना करना श्रेयस्कर नहीं है, क्योंकि उसमें जीवन की मुक्ति नहीं है । सत्य अर्थों में तो जीवन की सार्थकता सादगी और मन के संतोष में है जो धूल-धूसरित मार्ग पर निरन्तर चलते रहने में ही प्राप्त होता है । इसमें लेखक को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है ।

दिव्या का अपने प्रेम को परिस्थितियों से विवश होकर नष्ट करना कुछ विचित्र और अस्वाभाविक सा प्रतीत हो सकता है । उसने पृथुसेन के प्रेम का निरा-

१. यशपाल : दिव्या, (१९४५), लखनऊ, पृष्ठ २२२ ।
२. यशपाल : दिव्या, (मार्क्सवाद), (१९४५), लखनऊ, पृष्ठ ७२ ।

करण करने का जिस प्रकार से प्रयत्न किया, वह बहुत अधिक तर्कसंगत न था। यहाँ यह स्पष्ट है, कि दिव्या पृथुसेन के झूठे गौरव, मिथ्या भ्रम और अहंकार के समक्ष झुकना न चाहती थी, और न अपने अहं को पराजित होते ही देखना चाहती थी। उसने पृथुसेन के समक्ष परिस्थितियों को जिस प्रकार प्रस्तुत किया, यदि उसमें अधिक चिन्ता, और सत्यतम से अपने को स्पष्ट करने की भावना होती, और यदि वह नगर छोड़ कर न चली जाती, तो कदाचित कुछ समयोपरान्त वह पृथुसेन को समझा सकती थी, पर उसने गली-गली अपने नाम की चर्चा सुनने और अपयश से बचने का एकमात्र उपाय नगर छोड़ देना ही समझा। यद्यपि इससे भी उसे कुछ मिला नहीं, वह निरन्तर अपना सब कुछ खोती ही गई, अपनी शान्ति, अपना आत्मगौरव, सभी कुछ उसका नष्ट हो गया और अन्त में साधारण दाम्पत्य जीवन को स्वीकार कर लेने के साथ ही जैसे उसे थोड़ी सी शान्ति प्राप्त होती है।

जीवन में नवोन्मेष की भावना

आलोच्य काल में, जैसा कि पिछले अध्यायों में (अध्याय १, ३, ४) स्पष्ट किया जा चुका है। नारी की परिस्थितियों में निरन्तर परिवर्तन हो रहा था। अब वह पति की दासी मात्र नहीं वरन् समाज में पूर्ण समानता की अधिकारी थी। वह सामाजिक और राजनीतिक जीवन में पूरे उत्साह के साथ भाग लेने लगी थी, और उसके जीवन में नवोन्मेष की भावना पूर्ण रूप में समाहित हो गई थी। वैसे इस दृष्टिकोण से कई नायिकाएं प्राप्त होती हैं, पर जीवन से उच्छृंखलता दूर रखने वाली यशपाल के पार्टी 'कॉमरेड' (१६४६) की नायिका—गीता अकेली नायिका है जो मध्यवर्गीय परिवार की लड़की है। एक दिन उसका मन एक बहुत बढ़िया जम्पर पर आ जाता है। माँ से लड़ झगड़ कर वह पाँच रुपए ले जाती है, पर जम्पर का कपड़ा नहीं खरीद पाती। वहाँ कॉलेज में हड़ताल के कारण भूखे मरते मजदूरों की सहायता के लिए लोग चन्दा एकत्रित कर रहे थे। गीता ने पाँच रुपए देकर रसीद ले ली। वह कॉलेज में एक रिसर्च स्कॉलर थी और अभी तक उसके अध्ययन क्रम का एकमात्र उद्देश्य था कि वह अच्छे नम्बरों से परीक्षाएं उत्तीर्ण करे। पर धीरे-धीरे उसकी रुचि राजनीति की ओर बढ़ने लगती है। इस नई संगति से जानने की इच्छा पैदा हुई कि कहाँ क्या हो रहा है। क्यों हो रहा है। और जो कुछ हो रहा है, वस्तुतः उसका स्वरूप क्या होना चाहिए। अपनी इस बढ़ती हुई रुचि से धीरे-धीरे उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि वह ऐसी अनेक बातें जान गई है, जिससे उसके दूसरे समव्यस्क पूर्णतया अनभिज्ञ है, और उसका यह ज्ञान अच्छे आभूषणों के पास होने या एक बढ़िया जम्पर बनवा लेने से कहीं श्रेष्ठ है। इससे उसके मन में उच्चता के भाव (Superiority Complex) तो आ ही जाते हैं, उसे उत्साह और अनुपम प्रेरणा भी प्राप्त होती है। उसने देखा, 'कोई एक पदार्थ तैयार करने की मजदूरी मजदूर को बहुत कम मिलती है और बाजार में उस वस्तु का दाम काफी अधिक रहता है। यह अन्तर ही मालिक का मुनाफा और मजदूर का शोषण है। मुनाफा करने के लिये

पूंजीपति व्यवसाय और मजदूरों पर अधिकार जमाता है और फिर व्यवसाय का क्षेत्र बढ़ाने के लिए दूसरे देशों पर अधिकार यानि साम्राज्यवाद...।' जानने के सन्तोष से आया मानसिक परिवर्तन उसके व्यवहार में भी प्रकट होने लगा। वह अपनी आयु से अधिक गम्भीरता और अधिकार से बात करने लगी। संकोच और लज्जा का स्थान आत्मविश्वास और बेपरवाही ने ले लिया। वह अपने को सुन्दर लड़की न समझ कर एक व्यक्ति समझने लगी।'[1] उन्नीस-बीस वर्ष की अवस्था में गीता का व्यवहार बिल्कुल बदल गया। पहले देश भक्ति की भावना से ओतःप्रोत होकर वह कांग्रेस की स्वयंसेविका बन जाती है, पर शीघ्र ही उस पर साम्यवादी विचारधारा प्रभाव जमाने लगती है और कम्युनिस्टों के प्रभाव में आकर वह कम्युनिस्ट बन जाती है, सिनेमा और कांग्रेस के जलसों के सामने पार्टी का अखबार बेचने लगती है। भीड़-भड़क्के में उसे कई बार व्यंग्य, और बोली-ठोली भी सुनना पड़ता है। मन में क्रोध भी आया और हँसी भी आई। उपाय था केवल उपेक्षा। सोचा जो लोग अनजान और मूर्ख हैं, वह उनकी दुत्कारियों से नहीं परास्त हो सकती। जिसने देश को स्वतन्त्र कराने और संसार से पूंजीवाद एवं साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने के काम में सहयोग देना स्वीकार किया हो, वह भला ऐसे लोगों से कैसे परास्त हो सकती है ?[2] और वह फब्तियां कसने वाले ऐसे लुच्चों-लफंगों की बातों की उपेक्षा करते हुए अपना कार्य करती रहती है।

पहले वह अखबार बेचती है, फिर पार्टी के लिए चंदा एकत्रित करती है। वहाँ कॉमरेड भैयनाथ उसके संपर्क में आना चाहता है, पर वह उसे तिरस्कृत कर देती है। वह सिर्फ स्कॉलर थी, इसलिए उसका कॉलिज जाना-न-जाना विशेष अर्थ नहीं रखता है। वह प्रायः कॉलिज जाती भी नहीं थी। वह एक दिन पदमलाल भावरिया से चंदा माँग लाती है, जो शहर का बड़ा पूंजीपति है। इस पर मजदूर कॉमरेड कहता है, "पूंजीवाद में तो पैसे का सम्मान है। यह कितनी मेहतरानियाँ, कितनी भावली स्त्रियां घुटने से ऊपर धोती का कांछा कसे, खुले बदन सड़क साफ करती हैं, मन-मन बोझ टोकरी में ढोती हैं। किसी की आँख में नहीं खटकता, किसी को लज्जा नहीं मालूम होती! किसी सेठानी की धोती बालिश्त भर उठ जाय तो बम्बई में आग लग जाय।"[3] गीता सोचती है, अपने देश में स्त्री कितनी परवश है। यहाँ स्त्री के आत्मसम्मान का कोई मूल्य नहीं है। विवशता में आकर यहाँ कोई स्त्री वेश्या बनती है, कोई पतिव्रता। पुरुष के पास बैठकर दिल बहलाना, उसके गले में बाँहें डाल उसे प्रसन्न करना ही स्त्री का भाग्य है, यही उसकी सीमा है।[4] गीता में पर्याप्त आधुनिकता है, ठीक 'कॉमरेड' की नायिका शैला की भाँति। वह भावरिया

१. यशपाल : पार्टी कॉमरेड, (१९४६), लखनऊ, पृष्ठ २१-२२।
२. वही, पृष्ठ, २२।
३. वही, पृष्ठ, ३०।
४. वही, पृष्ठ, ३३।

के साथ रेस्तरां जाती है, समाज में भी स्वतन्त्रता रूप से आती जाती है, पर वह शैला की भाँति उच्छृंखल नहीं है। यह तो स्पष्ट ही है कि यशपाल नारी स्वतन्त्रता के पक्षपाती हैं एक स्थान पर उन्होंने कहा है, "जब स्त्री को एक आदमी से बंध जाना है और सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार उसके आधीन रहना है, उस पर निर्भर करना है उस सम्बन्ध को चाहे जो नाम दिया जाय वह है स्त्री की गुलामी ही।"[1] एक अन्य स्थान पर उन्होंने इसी प्रकार नारी प्रेम की विद्रूपता पर व्यंग्य करते हुए कहा है,"···पुरुष उसी स्त्री को प्यार करना चाहता है, उसी स्त्री के लिए अपना जीवन अर्पण कर देना चाहता है, जो केवल उसी के लिए संसार में जन्मी हो। जो केवल उसे ही पहचाने। यही बात पुरुष की दृष्टि में प्रेम है।"[2] दूसरे शब्दों में पुरुष चाहता है कि नारी पर उसका नियंत्रण हो, नारी उसकी दासी बनी रहे, उसके समान स्थिति पर न आए। गीता की भी यही स्थिति होती है। उसके साथी पुरुष कॉमरेड उसका प्रेम चाहते हैं, जिसे वह अस्वीकार करती है, और एक दिन स्वार्थी तत्वों द्वारा समाचार पत्रों में प्रकाशित होता है कि कम्युनिस्ट सखी गीता के लिए गुण्डों के दलों में मारपीट ! और उसकी स्वतन्त्रता पर परिवारिक अनशन की कठोरता जड़ दी जाती है। भावरिया उसे बचाने का प्रयत्न करता है, पर असफल रहता है। पूंजीवादी मनोवृत्ति का भावरिया धीरे-धीरे जनवादी हो जाता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय बात है कि शैला की भाँति गीता परिवारिक अनुशासन की सीमाओं को विच्छिन्न करने का प्रयत्न नहीं करती है। गीता ऐसी नारी है, जिसमें पर्याप्त आधुनिक चेतना है, नवीनता है, पर इसके बावजूद भी उसमें जीवनगत मर्यादाएं हैं और नारीत्व है। यशपाल की सभी नायिकाओं में एक गीता ही अपवाद स्वरूप ऐसी है, जिसका अपना नारीत्व बोझ नहीं प्रतीत होता और जो नारी स्वतन्त्रता की स्वाभाविक रूप से पूर्ण पक्षपाती होते हुए भी मूल्य-मर्यादा रहित नारी जीवन को गौरवहीन समझती है, उसे दूर ही से प्रणाम करती है। प्रायः श्रेष्ठ उपन्यासकार ऐसी नायिकाओं की परिकल्पना करते हैं, जिन्हें हम अपने दैनिक जीवन में नित्य प्रति ही देखते हैं या वे उन लोगों का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिनसे दैनिक जीवन में हमारा नित्य प्रति का संघर्ष रहता है।[3] इस दृष्टि से यशपाल की नायिका गीता

---

१. यशपाल : दादा कॉमरेड, (१९४१), लखनऊ, पृष्ठ ३७।

२. यशपाल : मनुष्य के रूप, (१९४९), लखनऊ, पृष्ठ ३४।

३. "Our...heroines are taken from the rank and file of the race and represent people whom we daily encounter...there is no escaping the thoughtful and elevating influence of this...Nor need there be any implication of littleness or dullness in these aims, this choice of the frequent is most favourable to a true discrimination of qualities in character."

—जी० पी० लैथ्रॉप : द नॉवले एण्ड इट्स फ्यूचर (एटलॉन्टिक मासिक (न्यूयार्क) में प्रकाशित निबन्ध) सितम्बर १८७४।

पहली बार पूर्ण स्वाभाविकता के साथ चित्रित हुई है। उसकी परिकल्पना का स्रोत वे समकालीन परिस्थितियाँ थीं, जिनमें नारी नवोन्मेष की भावना से पल्लवित हो रही थी और सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में अपना कर्तव्य एवं दायित्व समझ कर पूरे उत्साह के साथ भाग लेने के लिए आगे आ रही थी। गीता के चरित्र में ये बातें बड़ी यथार्थता के साथ चित्रित हुई हैं। उसके चरित्र चित्रण में यशपाल को जितनी सफलता प्राप्त हुई है, उतनी अपने किसी अन्य नायिका के चरित्र चित्रण में नहीं।

मूल्यांकन

इस अध्याय में जिन नायिकाओं का अध्ययन किया गया है, उनमें कुछ नायिकाएं हमें ऐसी प्राप्त होती हैं, जो पश्चिमी आदर्शों से प्रेरणा ग्रहण कर रही थीं, और पश्चिमी देशों की नारियों की भाँति ही स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना चाहती थीं। भोग-विलास, आमोद-प्रमोद को ही वह जीवन समझने लगीं थीं। फैशन और विलास में वस्तुतः घनिष्ट सम्बन्ध होता है, जिसमें जितना ही अधिक फैशन होता है, विलास की उसमें उतनी ही अधिक प्रवृत्ति भी होती है। भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के पूर्व फैशन नाम-मात्र को ही था, लोगों में सादगी के प्रति अधिक झुकाव था। जीवन में प्रदर्शन की भावना, फैशन और निष्क्रियता आदि को अपने साथ भारत में लाने का श्रेय अंग्रेजों को ही था। उनकी नारियों की देखादेखी हमारी नारियों में भी फैशन और विलास की प्रवृत्ति अधिक मात्रा में बढ़ने लगी। घर की चार दिवारी में बन्द रहना, चौका-बर्तन धोना, खाना बनाना आदि अब उन्हें अपमानजनक-सा प्रतीत होने लगा था, वे अब स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना चाहती थीं। होटलों और क्लबों में बेधड़क आना जाना चाहती थीं। वे एक प्रकार से रंगीन तितलियों की भाँति जीवन व्यतीत करने की कल्पनाएं किया करती थीं। उनके समक्ष परिवार या गृहस्थी जैसी कोई चीज नहीं थी। लज्जा, नीलू आदि ऐसी ही नायिकाएं हैं, जो समाज के सम्मुख अस्वस्थ दृष्टिकोण उपस्थित करती हैं। इसके विपरीत झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई का वीर चरित्र है, जो आदर्श एवं प्रेरणा का प्रतीक है। सुमन के रूप में यह बात सिद्ध हो गई है, कि यदि प्रारम्भ से लड़कियों को गृहस्थी सफल संचालन की शिक्षा न दी जाय, तो उसके कैसे दुष्परिणाम हो सकते हैं। चित्रलेखा नारियों के सम्मुख इस बात का उदाहरण उपस्थित करती है, कि विषम परिस्थितियों में भी धैर्य एवं साहस से बहुत कुछ प्राप्त किया जा सकता है।

नारी चित्रण : उपन्यासकारों का दृष्टिकोण

पिछले तीन अध्यायों में नायिकाओं के दिए गए वर्गीकरण के आधार पर जो अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, उससे नायिकाओं के स्वरूप, उनकी परिकल्पना के स्रोत और समाज की दृष्टि से उनकी उपयोगिता के सम्बन्ध में बहुत कुछ तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं। पिछले अध्ययन से हिन्दी के उपन्यासकारों का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण भी काफी स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि नायिकाओं में उनके नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण का सार अंश निहित है। तो भी, नायिकाओं के अध्ययन के साथ-साथ हिन्दी उपन्यासों के कुछ ऐसे नारी-पात्रों का अध्ययन करना भी समीचीन होगा जो नायिकाएं तो नहीं हैं, किन्तु जिनके द्वारा हमारे उपन्यासकारों का नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण को अधिक पूर्ण रूप में समझने में यथेष्ट सहायता प्राप्त होती है। अतः प्रस्तुत अध्ययन पिछले अध्यायों का पूरक ही समझा जाना चाहिये। इस अध्याय में नायिकाओं तथा अन्य प्रधान नारी पात्रों के आधार पर हिन्दी के उपन्यासकारों के नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर सम्यक् दृष्टि से विचार कर उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

जैसा कि पिछले अध्यायों में पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, उपन्यासकारों ने प्रेम, विवाह, नारी स्वतन्त्रता, विधवा समस्या, वेश्या समस्या एवं नारियों पर होने वाले पुरुष वर्ग के अत्याचार एवं नारी की आर्थिक समस्या आदि को विशेष रूप से अपने उपन्यासों में उठाया है, और अपने-अपने दृष्टिकोण से उन पर विचार कर उन समस्याओं का समाधान खोजने का प्रयत्न किया है। उनके दृष्टिकोण को हम निम्न-लिखित वर्गों में विभाजित कर उनका अध्ययन सरलतापूर्वक कर सकते हैं—

१. सुधारवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण

२. आदर्शवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण

३. रोमांटिक परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण

४. यथार्थवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण

५. आदर्शोन्मुख परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण

६. समाजवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण

७. व्यक्तिवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण

८. मनोविश्लेषणवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण

सुधारवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण

नारी-चित्रण सम्बन्धी सुधारवादी दृष्टिकोण हमें विशेष रूप से पूर्व-प्रेमचन्द काल में विकसित दृष्टिगोचर होता है। तब उपन्यासकारों के विचार से पाश्चात्य विचारधारा भारतीय नारियों को कर्तव्य एवं दायित्व से च्युत कर रही थी, और वे उसके मोहपाश में बंधी अपने धर्म एवं गरिमा को भूलती जा रही थीं। इन उपन्यासकारों ने ऐसे अनेक नारी पात्रों की परिकल्पना की जो उनके सुधारवादी दृष्टिकोण से ओतःप्रोत थे। वस्तुतः वे "पतितावस्था" की ओर जाती हुई नारियों का सुधार करके उन्हें सत्पथ पर चलने की प्रेरणा देना चाहते थे। ऐसे उपन्यासकारों में किशोरीलाल गोस्वामी का स्थान प्रमुख है।

यद्यपि गोस्वामी जी ने काफी उपन्यास लिखे, और उनमें विषय सम्बन्धी विविधता प्राप्त होती है, पर नारी चित्रण सम्बन्धी उनके दृष्टिकोण का परिचय अधिकांश रूप से सामाजिक उपन्यासों में ही प्राप्त होता है। वे कट्टर सनातन-धर्मी थे, और नारी शिक्षा के विरोधी थे। उन्हें भय था कि शिक्षा से नारियों में स्वतन्त्रता और उच्छृंखलता जैसी बातें आएगी, और उनका चारित्रिक पतन होगा। उनके विचार से नारी की सबसे बड़ी शिक्षा उसके स्वभाव एवं चरित्र को आदर्श रूप प्रदान करना मात्र है। एक स्थल पर इसी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करते हुए वे कहते हैं, "....अपने देश के भाइयों से इस बात के लिए सविनय अनुरोध करता हूँ कि वे सबसे पहले कन्याओं के सुधार करने का प्रयत्न करें, क्योंकि यदि सुकन्या समय पाकर सुगृहिणी होगी तो वही एक दिन सुमाता होगी, और उसका पुत्र सुपुत्र अवश्य ही होगा।[1]" उनके इस विचार के अनुरूप ही "त्रिवेणी" (१८८८) की नायिका त्रिवेणी को कोई शिक्षा नहीं प्रदान की जाती है, जिसके परिणामस्वरूप वह गहन कूपमंडूकता के आवरण में लिपटी रहती है, और यदि स्थान-स्थान पर स्वयं उपन्यासकार बीच में उपस्थित होकर उसे संकट से न उबारता तो कदाचित् वह जीवित भी न रह पाती। "माधवी-माधव वा मदन मोहिनी" (१९१३) में प्रधान नारी पात्र माधवी के पिता सनातन धर्म के अनुयायी होने के कारण मिडिल उत्तीर्ण कर लेने के पश्चात् उसका नाम स्कूल से कटवा देते हैं, क्योंकि वह ११ वर्ष की हो चुकी थी, और अब उसका पढ़ना-लिखना धर्म एवं आचरण की दृष्टि से उचित न था। माधवी माधव प्रसाद नामक युवक को खाना खिलाते समय आकर्षित होती है, और उससे प्रेम करने लगती है। माता-पिता यह जानकर विवाह की अनुमति दे देते हैं, और आदर्श रूप से यह प्रेम विवाह में परिणत हो जाता है।

१. किशोरी लाल गोस्वामी: माधवी माधव वा मदन मोहिनी, (१९१६), वृन्दावन, पृष्ठ २२० ।

इसमें गोस्वामी जी ने स्पष्ट रूप से घोषणा की है कि, "मेरी तो यह राय है कि लड़कियां कभी भी घर के बाहर अर्थात पाठशाला में पढ़ने के लिए न भेजी जांय और उन्हें घर पर ही हिन्दी और संस्कृत तथा गृहकार्य की विधिवत् शिक्षा दी जाए। यद्यपि मेरी इस राय पर स्त्री शिक्षा के घोर पक्षपाती अवश्य रुष्ट होंगे, परन्तु जो मर्मज्ञ पाठक स्त्री शिक्षा की अयोग्यता का प्रत्यक्ष कुफल देख रहे हैं, वे मेरी राय पर कभी खड्ग न उठावेंगे। जो लोग यह देख रहे हैं कि अयोग्य स्त्री शिक्षा ही के कारण एक बंगालिन एक पंजाबी की पत्नी बनती है, एक "राजरानी" एक शुद्ध किए हुए "हिन्दू अंग्रेज" की भार्या बनती है, एक गोरी नारी एक हिन्दू नरेश की पटरानी बनती है, और एक ब्राह्मणी एक शूद्र की जोरू बनती है, तो यह कहना पड़ेगा कि स्त्रियों को उच्च शिक्षा किंवा अयोग्य शिक्षा कभी न देनी चाहिये और उन्हें पाठशाला या स्कूल कभी न भेजना चाहिए। पश्चिमी वैज्ञानिकों का यह मत है कि यदि स्त्री को पुरुषों के समान बहुत पढ़ाया लिखाया जावेगा तो वे "स्त्री धर्म से च्युत हो जायंगी, फिर या तो उन्हें संतान न होगी, और यदि होगी भी तो वह जीएगी कदापि नहीं।"[१] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि लेखक का दृष्टिकोण कितना संकुचित एवं रूढ़ था। वह सुधारवादी भले ही हो, वह भी लेखक के अपने मतानुसार, पर निश्चय ही विचारधारा प्रगतिशीलता पर जबर्दस्त आघात करने वाली थी, और उसका मार्ग कुंठित करती थी। उन्हें पश्चिमी सभ्यता के बढ़ते हुए प्रभाव एवं नारी की आधुनिकता से चिढ़ थी, और वे किसी भी रूप में नहीं चाहते थे कि नारियाँ नए युग में पदार्पण कर आधुनिकता को आत्मसात कर लें और अपनी प्राचीन रूढ़िवादी परम्पराओं को भूल जाएँ।

गोस्वामी जी ने धर्म के आधार पर एक विचित्र से दृष्टिकोण का परिचय दिया है, जिसे पढ़ कर आश्चर्य होता है। वह है, उनका पुरुष के बहु-विवाह का जोरदार समर्थन करना। ऐसा प्रतीत होता है कि वे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् बढ़ती हुई प्रगतिशीलता और परिवर्तनोन्मुख समाज की नब्ज पहचानने में या तो सर्वथा असमर्थ थे, या पहचानते हुए भी धर्म की रूढ़ियों में इस कदर जकड़े हुए थे कि उससे छूट पाना उनके लिए सहज सम्भव न था। उनके अनुसार यदि एक विवाहित पुरुष किसी अविवाहित स्त्री से प्रेम करने लगे, और यदि वह स्त्री पवित्र हो, तो दोनों को तुरन्त विवाह कर लेना चाहिए। कदाचित् इसलिए उन्होंने "पुनर्जन्म वा सौतियाडाह" की प्रमुख नारी पात्र सुशीला की परिकल्पना की है। सुशीला एक स्थान पर कहती है, "......धर्मशास्त्र में स्त्री के लिए केवल एक ही विवाह के लिए व्यवस्था है, पर पुरुष असंख्य विवाह कर सकते हैं। अतएव जब मैंने यह बात जानी कि तुम दोनों (उसका पति और उसकी अन्य प्रेमिका)

---

१. किशोरीलाल गोस्वामी: माधवी माधव वा मदन मोहिनी, (१९१६), वृन्दावन पृष्ठ ७५-७६।

निष्कलंक हो, तब मुझे क्या उज्र हो सकता था कि मैं तुम्हारे सुख में व्यर्थ कांटे बोती। सुनो तो प्यारे, क्या बहिन-बहिन और सहेली-सहेली एक साथ नहीं रहतीं। और क्या, आज तक दो सौतिनें कभी आपस में मिल-जुल नहीं रही हैं।"[1] इस उपन्यास में सुशीला सज्जनसिंह की पत्नी है, फिर भी अपने पति और सुन्दरी को प्रेम करते देख और सारी शंकाओं का निवारण होने पर वह स्वयं ही दोनों का विवाह करा देती है। इस पर उसे इतना आत्मसंतोष होता है कि विवश होकर (!) लेखक को कहना पड़ता है कि, "वह सुशीला मर गई, यह दूसरी सुशीला है।"[2] गोस्वामी जी के एक अन्य उपन्यास "कनक कुसुम वा मस्तानी" में भी ऐसा ही हुआ है। जिसमें नायक बाजीराव की पत्नी काशीबाई अपने पति का विवाह मस्तानी से करने की सहर्ष अनुमति प्रदान करते हुए कहती है, "लीजिए अब व्यर्थ के सोच विचारों को छोड़िए और अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार इस गुणवती, देवी समान, सुशीला यवन कुलबाला को ग्रहण कीजिए।[3]"

वास्तव में वे नारी को आदर्श की पात्री समझते थे, और उसे मर्यादा एवं परम्पराओं की सीमा में आबद्ध रहते देखना चाहते थे। वैसे तो अच्छाई-बुराई कहां नहीं होती ? पर यह सोचना कि "दुनिया की सभी औरतें खराब होती हैं, महज गलत और वाहियात है।"[4] वे चाहते थे कि नारियाँ आदर्श प्रेम में विश्वास करें, और अपने सतीत्व की रक्षा करें। "लवंगलता वा आदर्शबाला" (१८८४) में नायक मदनमोहन की बहकी-बहकी बातों पर अत्यन्त दुःखी होकर लवंगलता कहती है "...किन्तु उस प्रेम को मैं दूर से ही प्रणाम करती हूं जिसमें गुरुजनों के बड़प्पन और आदर का भाव न हो।[5] लवंगलता के चरित्र का विकास इसी पृष्ठभूमि पर होता है, और अपनी पवित्रता, गौरव एवं मर्यादा की रक्षा के लिये वह जीवन पर्यन्त जूझती रहती है। गोस्वामी जी गृहस्थ के सुख को सामाजिक सुख का मूलभूत आधार स्वीकार करते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि नायक-नायिका का मिलन भी हो, और इसीलिये उनके अधिकांश उपन्यासों में नायक-नायिका का मिलन दिखाया गया है, जिससे वे विवाहित जीवन में पारिवारिक सुख का उपभोग कर सकें। स्त्री-पुरुष का असंयत जीवन सबसे भीषण सामाजिक अभिशाप है। यदि नारियों का विवाह न हो, तो वे अपनी वासना की शान्ति के लिये पथभ्रष्ट हो जाती हैं, और कुलटा हो जाती हैं।

---

१. किशोरीलाल गोस्वामी : पुनर्जन्म वा सौतियाडाह, (१९०७), काशी, पृष्ठ ३१।
२. किशोरीलाल गोस्वामी : पुनर्जन्म वा सौतियाडाह, (१९०७), काशी, पृष्ठ २५।
३. किशोरीलाला गोस्वामी : कनक-कुसुम वा मस्तानी (वृन्दावन), पृष्ठ ५१।
४. किशोरीलाल गोस्वामी : लखनऊ की कब्र वा शाहीमहलसरा, (१९१७), वृन्दावन, पृष्ठ ८२।
५. किशोरीलाल गोस्वामी : लवंगलता वा आदर्शबाला, (१८८४), वृन्दावन पृष्ठ ४१।

कुलटा स्त्री समाज के ऊपर भीषण कलंक होती है, और किसी भी प्रगतिशील समाज के लिये अपमान एवं लज्जा का विषय होती है। "देश और समाज को रसातल भेजने के हेतु ऐसी-ऐसी कुलटा स्त्रियाँ ही हैं न कि हरिहर ("माधवी-माधव वा मदनमोहिनी" का एक पत्र) सरीखे दुराचारी पुरुष, क्योंकि यदि स्त्री भली हो तो उसे कोई नारकी पुरुष नहीं बिगाड़ सकता।"[1] अपनी पवित्रता एवं सतीत्व की रक्षा के लिए स्त्री को दृढ़ होना चाहिये, क्योंकि ऐसी अवस्था में दुराचारी से दुराचारी पुरुष भी उसके चरित्र पर कलंक का काला धब्बा नहीं लगा सकता। अगर वे पथ भ्रष्ट होती हैं, तो "माता-पिता या अभिभावकों को ही स्त्रियों के बिगाड़ने का मूल कारण समझ कर उन्हीं को इस दोष का दोषी और इस अपराध का अपराधी समझना चाहिये।"[2]

स्पष्ट है, कि गोस्वामी जी का दृष्टिकोण पूर्णतया सुधारवादी था। वे समाज को पतनावस्था से बनाना चाहते थे। इसके लिये उनके विचार से, "अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है और अभी भी अपने समाज की रक्षा हो सकती है, यदि अंग्रेजी-बाज़ जरा बाज़ आवें, और अपने समाज को उसी पुरानी रीति से संस्कृत करें, जो वैदिक और वर्तमान काल के उपयुक्त हो।"[3] पर उनके इस प्रकार के रूढ़ विचारों को उस युग में समर्थन नहीं प्राप्त हुआ, और उनके समकालीन एक भी उपन्यासकार ने इस विचारधारा को आत्मसात किया। इसके कारण स्पष्ट थे। यह युग साहित्य की ही दृष्टि से नहीं, वरन् सभी दृष्टियों से नवयुग था, और प्रत्येक दिशा में परिवर्तन हो रहे थे। आधुनिकता का उदय हो रहा था और भारतवासियों में नवीन चेतना प्रसारित हो रही थी। ऐसी स्थिति में गोस्वामी जी का दृष्टिकोण सर्वसम्मत न हो सका, और वह उस योग्य था भी नहीं। जहाँ तक उनके आदर्शों का प्रश्न है, वह अवश्य ही प्रशंसनीय है। उनकी नायिकाएं एवं अधिकांश प्रधान नारी पात्र सौन्दर्यशीलता ही नहीं गुणवती भी हैं। उनमें भारतीय परम्पराएं कूट-कूटकर भरी हुई हैं, और वे अपने सतीत्व एवं मर्यादा की रक्षा करने के लिए कुछ भी करने को तत्पर रहती हैं। उन्होंने तुलनात्मक दृष्टि से जिन नारी पात्रों की परिकल्पना की है, उनका सदैव बुरा अन्त ही दिखाया है। किसी को कुष्ठ रोग हो जाता है, तो किसी की आँखें फूट जाती हैं, या कोई मृत्यु को आत्मसात कर लेती है। ऐसी प्रभाव की तीव्रता एवं सुधारवादी प्रवृत्ति को विकसित करने के लिए ही किया गया है। "लीलावती वा आदर्श

१. किशोरीलाल गोस्वामी : माधवी-माधव वा मदनमोहिनी, (१६१६), वृन्दावन, पृष्ठ २०१।

२. किशोरीलाल गोस्वामी : माधवी-माधव वा मदनमोहिनी, (१६१६), वृन्दावन, पृष्ठ २१६।

३. किशोरीलाल गोस्वामी : लीलावती वा आदर्श सती, (१६०४), काशी, पृष्ठ १२३।

सती" की कलावती, "माधवी-माधव वा मदनमोहिनी" की कलिया, "कनक कुसुम वा मस्तानी" में मस्तानी की माँ आदि ऐसे ही नारी पात्रों के रूप में चित्रित की गई हैं। मेहता, लज्जाराम शर्मा भी पूर्णतया सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाकर अपने नारी पात्रों की परिकल्पना करने वाले उपन्यासकार थे। इस युग की सुधारवादी प्रवृत्तियों में, जिनमें अभी भी पर्याप्त रूप से कट्टरता थी, शर्मा जी का पूर्ण विश्वास था। वे पर्दा प्रथा के पूर्ण समर्थक थे, और इस प्रथा का समाप्त होना श्रेयस्कर नहीं समझते थे, क्योंकि इससे नारियों में उच्छृंखलता आने का भय है और उनके भ्रष्ट होने की भी सम्भावनाएं उत्पन्न हो जाती हैं। "आदर्श हिन्दू" (१९१४) की प्रधान नारी पात्र प्रियंवदा से उन्होंने कहलवाया है।" उनका सुख उन्हें ही मुबारिक रहे। हम पर्दे में रहने वालियों को ऐसा सुख नहीं चाहिए। हम अपने घर के धन्धे में ही मग्न हैं।"[1] प्रियंवदा का चरित्र इसी की पुष्टि करता है। अपने दूसरे उपन्यास "सुशीला विधवा" में इस दृष्टिकोण को और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, "मेरी समझ में पर्दा-प्रणाली अच्छी है। जो लोग पर्दा-प्रणाली की निन्दा करते हैं, वे भूलते हैं, झक मारते हैं। पर्दे का प्रयोजन यह नहीं है कि स्त्रियों को सात ताले में बन्द रखना चाहिए, इसका मतलब यही है कि उन्हें ऐसे कुकर्म करने का अवसर न देना चाहिये।"[2] शर्मा जी का यह दृष्टिकोण पूर्णतया रूढ़ एवं एकांगी है, तथा नारी पर उनके अविश्वास का द्योतक है। ऐसा प्रतीत होता है कि आने वाली प्रगतिशीलता के आत्मसात करने में सफल नहीं हो पाए थे। यहाँ तक कि वे नारी को पति की दासी मात्र समझते थे, और उसी प्रकार की शिक्षा का समर्थन करते थे। वे नारी के स्वतंत्र अस्तित्व के घोर विरोधी एवं पुरुष की सत्ता के पूर्ण समर्थक थे। उनके अनुसार "उसको ("आदर्श हिन्दू" की प्रधान नारी-पात्र प्रियंवदा") सिखलाया गया था कि वह पति की दासी बनकर रहे, पति को ही अपना जीवन सर्वस्व समझे। पति चाहे काना हो, कुरूप हो, कलंकी हो, कोढ़ी हो, कुकर्मी हो, क्रोधी हो, स्त्री के लिये पति के सिवाय दूसरी गति नहीं। संसार में परमेश्वर के समान कोई नहीं, किन्तु स्त्री का पति ही परमेश्वर है। जिन स्त्रियों का यही अटल सिद्धान्त है, वे व्यभिचारिणी नहीं हो सकतीं, और व्यभिचार से बढ़कर कोई पाप नहीं।"[3] वास्तव में शर्मा जी की यह धारणा हिन्दू आदर्शों में उनकी गहन आस्था का परिणाममात्र थी।[4] हिन्दू

१. मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श हिन्दू, (१९१४), प्रयाग, पृष्ठ ६-७।
२. मेहता लज्जाराम शर्मा : सुशीला विधवा, (१९०७), प्रयाग, पृष्ठ ११६।
३. मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श हिन्दू, (१९१४), प्रयाग, पृष्ठ ३३।
४. Hindu culture has erred on the side of excessive subordination of the wife of the husband, and has insisted on the complete merging of the wife in the husband. This has resulted in the husband sometimes usurping and exercising authority that reduces him to the level of the brute."

—महात्मा गांधी : वीमन एण्ड सोशल इनजस्टिस, (१९५४), अहमदाबाद, पृष्ठ १२४।

धर्म के अनुसार पत्नी का अपने में कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। उसके लिये पति ही सर्वस्व होता है, और अपने अस्तित्व को उसी में लय कर देना चाहिए। उनके "आदर्श हिन्दू" उपन्यास की प्रधान नारी पात्र प्रियंवदा ठीक इसी विचारधारा के अनुरूप कल्पित की गई है।

सनातन धर्म में विश्वास रखने के कारण शर्मा जी नव-जागृति के समर्थक नहीं थे। वे नारी शिक्षा के भी विरोधी थे, क्योंकि गोस्वामी जी की भाँति इन्हें भी नारी के उच्शृंखल एवं स्वतन्त्र हो जाने का भय था। वे नारियों की स्वतन्त्रता नहीं चाहते थे, क्योंकि उनकी दृष्टि में नारियों के लिए स्वतन्त्रता एवं अस्तित्व जैसी बातें करना प्रत्येक दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त है। "सुशीला विधवा" उपन्यास में अपने इन्हीं विचारों की पुष्टि के लिए उन्होंने सुशीला की परिकल्पना की है।" वह कभी किसी पुरुष के समक्ष बातचीत नहीं करती थी, और उसका यह पक्का सिद्धान्त था कि स्त्रियों का स्वतन्त्र हो जाना ही हिन्दू समाज के लिए विष है। वह सदा सबको यही उपदेश दिया करती थी कि स्त्रियों को बालकपन में माता-पिता के वश में रहना चाहिए। विवाह होने पर पति की दासी होकर उसकी आज्ञा बिना कोई काम नहीं करना चाहिए और दुर्भाग्य से पति न रहे तो पुत्र व भाई को बड़ा मान कर उसके कथन के अनुसार चलना चाहिए।"[1] उन्होंने इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपने एक अन्य उपन्यास "स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी" में भी व्यक्त किया है, जिसमें रमा और लक्ष्मी नामक दो बहनों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा नारियों की "स्वतंत्रता" उसकी "परतन्त्रता" के समक्ष नगण्य बताई गई है। "बिगड़े का सुधार" (१९०७) में भी इन्हीं भावनाओं की पुष्टि हुई है, जिसमें सुखदेवी और एक मेम के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा सनातन हिन्दू समाज की नारी का गौरव प्रतिपादित किया गया है। उनके अनुसार नारी अपनी सेवा सतीत्व के बल पर कुछ भी प्राप्त कर सकती है, यहाँ तक कि दुराचारी पति भी सदाचारी बन सकता है। नारी को परम्परागत होना चाहिए, सहिष्णु, दयाशीला एवं धैर्यवान् होना चाहिए। "बिगड़े का सुधार" की प्रधान नारी पात्र सुखदेवी की परिकल्पना उन्होंने इसी दृष्टिकोण से की है। वह अशिक्षित थी, किन्तु उसमें आर्यनारी के सभी गुण विद्यमान थे।

विधवा नारियों को किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए, इस सम्बन्ध में अपना मंतव्य प्रकट करते हुए एक स्थान पर शर्मा जी कहा है, "पति के मरने पर सबसे बड़ा धर्म यही तो है कि उसकी चिता में भस्म होकर पति का साथ दे, परन्तु आजकल ऐसा जमाना नहीं रहा, इसीलिए जब तक जिये, सदा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाली, कभी पराए पुरुष का स्वप्न में भी ध्यान न करने वाली विधवा मरने पर स्वर्ग में पति को पाती है, और फिर कभी दम्पति का साथ नहीं

---

१. मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श हिन्दू, (१९१४), प्रयाग, पृष्ठ ३१।

छूटता है।"[1] वे विधवा विवाह के जरा भी पक्षपाती नहीं थे, क्योंकि, "जो हिन्दू समाज में विधवा विवाह अथवा तलाक का प्रचार करना चाहते है, वे दम्पति के प्रेम पर, जन्म-जन्मान्तर के साथ पर, पवित्र सतीत्व पर और यों हिन्दू धर्म पर वज्र मारना चाहते हैं।"[2] उन्हें वेश्यावृत्ति से घृणा तो है, पर वे उसकी नितान्त आवश्यकता भी मानते हैं। उनके अनुसार "वेशक रंडियाँ समाज में एक बला है—परन्तु इनसे आप यह न समझ लीजिए कि ये समाज से निकाल देने लायक हैं, फिजूल हैं, और उन्हें बन्द कर देना चाहिए। नहीं, इनकी भी समाज के लिए दो कारणों से आवश्यकता है। एक यह है कि जब गाने-बजाने और नाचने का पेशा करने वाली हमारी सोसाइटी में न रहेंगी तब कुल वधुएं इस काम को ग्रहण करेंगी। और दूसरे, "जैसे बड़े नगरों में सड़क के निकट जगह-जगह पनाले बने हुए हैं, यदि न बनाए जाएं, तो चित्तवृत्ति को, शरीर के विकास को न रोक सकने पर लोग बाजार और गलियों को खराब कर डालें, उसी तरह यदि वेश्याएं हमारे समाज से उठा दी जाएं तो घर की बहू-बेटियाँ बिगड़ेंगी।"[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि कट्टर सनातन धर्मी होने के कारण ठीक गोस्वामी जी की ही भाँति शर्मा जी का दृष्टिकोण भी अत्यन्त रूढ़ एवं पुरातनवादी था। वे परिवर्तनशीलता एवं आधुनिकता के पूर्ण विरोधी थे। नवोन्मेष की दिशा उन्हें अन्धकारपूर्ण प्रतीत होती थी, और प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं धर्म को पुनः ज्यों का त्यों बिना युगीन परिस्थितियों को ध्यान में रखे प्रतिष्ठित कर देना चाहते थे। यह पूर्णतया हास्यास्पद था। वास्तव में युगीन परिस्थितियों को स्वीकार कर आगे बढ़ना उपन्यासकार का प्रमुख दायित्व होता है। वह उनकी पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सकता। शर्मा जी का सुधारवादी दृष्किोण कुछ हद तक तो स्वीकार किया जा सकता है, पर उसकी रूढ़िता एवं कट्टर वादिता किसी भी रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती। उन्होंने नारी जीवन की विभिन्न समस्याओं पर अपने जिस दृष्टिकोण को अभिव्यक्त किया है, और वे नारी जीवन का विकास जिस रूप में चाहते थे, वह और कुछ नहीं नारी की पूर्ण हत्या ही कर देना था। मानवीय स्वतन्त्रता का अपहरण सबसे बड़ा सामाजिक अभिशाप होता है, चाहे वह नारी की स्वतन्त्रता हो, या पुरुष की।

अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" ने यद्यपि उपन्यासकला की दृष्टि से या समाज की समस्याओं को चित्रित करने की दृष्टि से कोई उपन्यास नहीं रचा, पर उनके प्राप्त दोनों ही उपन्यास हमारे विषय से सम्बद्ध हैं। उनमें परम्परागत नारी का आदर्श रूप चित्रित कर सुधारवादी दृष्टिकोण का प्रस्फुटन हुआ है। नारी सम्बन्धी उनका जो दृष्टिकोण "प्रियप्रवास" में प्राप्त होता है, वही उनके दोनों

---

१. मेहता लज्जाराम शर्मा : सुशीला विधवा, (१६०७), प्रयाग, पृष्ठ १५२।
२. मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श हिन्दू, (१६१४), प्रयाग, पृष्ठ ६५।
३. वही, पृष्ठ २१८-२१६।

उपन्यासों से भी प्रतिफलित हुआ हैं। वे नारी को बहुत ऊंचे स्तर पर देखते थे, और आदर्श एवं उच्च मर्यादाओं से उसे परिपूर्ण देखना चाहते थे। उसकी उच्छृंखलता अथवा अपने परम्परागत कर्तव्यों एवं दायित्व की अवहेलना वे अनुचित समझते थे। "अधखिला फूल" की प्रधान नारी पात्र देवहूती की करुणा, परोपकारिता, उदारता एवं दानशीलता ही "प्रियप्रवास" की राधा में साकारता प्राप्त कर सकी है। देवहूती आदर्श नारी के रूप में चित्रित की गई है। उसमें भारतीय नारीत्व की परम्पराएं साकार हो उठी है। देवस्वरूप के यह कहने पर भी कि वह उससे बात क्यों नहीं करती, देवहूती बड़ी सरलता से कहती है, "मुझ को चेत है, आपने उस दिन कहा था जो लोग धर्म की रक्षा के लिए कभी-कभी इस धरती पर दिखाई देते हैं, मैं वही हूं। जो सचमुच आप वही हैं, तो आपसे बातचीत करने में मुझे कोई आनाकानी नहीं है। पर बात इतनी है, इस भाँति आपसे बातचीत करते मुझको इस सुनसान घर में जो कोई देख लेगा, तो जाने क्या समझेगा। जो कोई न देखे तो धर्म के विचार से भी किसी सूनसान घर में किसी पराई स्त्री का पराये पुरुष के साथ रहना और बातचीत करना अच्छा नहीं।[1]" वह वास्तव में विवाह पूर्व किसी भी प्रकार के सम्बन्ध के विरुद्ध है। वह एक सती साध्वी भारतीय नारी के रूप में चित्रित की गई है। उसमें आत्मसंतोष के भाव कूट-कूट कर भरे हुए हैं। उनके माध्यम से लेखक ने भारतीय नारियों की गौरवशाली परम्पराओं एवं मर्यादाओं का सफल चित्रांकन किया है। वह घोर कष्ट सहन कर भी भारतीय संस्कृति और मर्यादाओं की सीमाएं खंडित नहीं करती, कुमार्ग पर नहीं चलती। दुष्ट कामिनीमोहन और बासमती के बहकाने में नहीं आती। वह नारी के कठिन धर्म परायणता में गहन आस्था रखती है। लेखक का कथन है कि नारी धर्म ही ऐसा साधन है। जो उसकी समस्त दुर्बलताओं पर विजय दिलाकर उसे देवी के पद पर आसीन कर सकता है। अतः नारियों को सीता और सावित्री का आदर्श मान कर पवित्र जीवन व्यतीत करना चाहिए, क्योंकि "जो अपने पति की बात नहीं मानती, उसका भला कभी नहीं होता। पति ने कहा था जिस घर ओझा का पाँव पड़ा, वही घर चौपट हुआ।"[2] हरिऔध जी ने नारी के इन्हीं आदर्शों को चित्रित करने के लिए ही अपने अन्य उपन्यास "ठेठ हिन्दी का ठाठ" में देवबाला की भी परिकल्पना की थी।

वास्तव में जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हरिऔध जी नारी को उच्चादर्शों से ओत:प्रोत देखना चाहते थे। पर उसका दृष्टिकोण रूढ़ था, और साथ ही परम्परागत भी था। वे नारी की स्वतन्त्रता एवं अस्तित्व के प्रति उदासीन थे। उनकी दृष्टि

१. अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" अधखिला फूल, (१६०७), बनारस, पृष्ठ १७७।
२. अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" : अधखिला फूल, (१६०७), बनारस पृष्ठ ८५।

नष्ट होती है, उसका सतीत्व भंग होता है। यद्यपि लेखक का यह दृष्टिकोण नितान्त रूप से हास्यप्रद है, पर उसने अपनी नायिका सरोजिनी में यही चित्रित किया है। शर्मा जी कट्टर सनातनधर्मी थे, और जाति के बन्धनों को तोड़ना श्रेयस्कर नहीं समझते थे। उनके विचार से विवाह अपने कुल में ही होना चाहिए। वे प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति तथा आदर्शों का पूर्ण पोषण तत्कालीन भारतीय नारियों में चाहते थे। हिन्दू धर्म का गौरव वे किसी भी प्रकार न्यून नहीं देखना चाहते थे, और धर्म को आगे बढ़ाने के लिये वे नारियों को अधिक उत्तरदायी समझते थे; इसीलिये उसे कर्तव्य एवं दायित्व से च्युत एवं धर्म की अवहेलना करते नहीं देखना चाहते थे।

आदर्शवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण अभिव्यक्त करने वाले लेखकों में प्रेमचन्द का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वे चाहते थे कि साहित्य "जीवन की आलोचना और व्याख्या करे।"[1] उनका सारा साहित्य इसी उद्देश्य की अभिव्यक्ति है। अपने साहित्य में उन्होंने नारियों को इसीलिए प्रमुख स्थान दिया है, क्योंकि जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, बिना नारियों के जैसे यह मानव जीवन अपूर्ण है, वैसे ही साहित्य भी। प्रेमचन्द ने जिस समय साहित्य रचना प्रारम्भ की थी, उस समय भारत में नारियों की स्थिति कुछ विशेष अच्छी न थी। उनकी बड़ी दयनीय स्थिति थी, वे हेय समझी जाती थीं, और पति के चरणों की दासी समझी जाती थीं। पुरुष उनका शोषण करते थे, और स्वयं प्रेमचन्द के अनुसार, "पुरुष ने नारी का शोषण करने के लिए कायदे-कानून बनाये हैं उसी तरह जैसे ब्रिटिश-गवर्नमेन्ट ने हम लोगों को। जैसे हम लोगों के मूर्ख होने से सरकार को लाभ है, वैसे ही स्त्रियों को मूर्ख बनाने से पुरुषों का।"[2] प्रेमचन्द ने जितनी भी नारी पात्रों की परिकल्पना की है, उनकी पृष्ठभूमि में उनका यह दृष्टिकोण अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वे नारियों के सामने एक आदर्श प्रस्तुत कर उन्हें ऊपर उठाना चाहते थे। उसे समाज में श्रद्धा की पात्री बनाना चाहते थे, इसीलिये उनके अधिकांश नारी पात्र आदर्श रूप में चित्रित किये गये हैं। प्रायः चरित्र-चित्रण के लिए उन्होंने पात्रों की कल्पना की, इसीलिये उनके नारी पात्र केवल आदर्शों की कठपुतलियाँ हैं, उनमें स्वाभाविक नारीत्व है।[3] वास्तव में इसका कारण यही था कि प्रेमचन्द का सारा साहित्य एक आदर्शवाद से अनुप्राणित था। उनके विचार से नारी पृथ्वी की भाँति धैर्यवान है, शान्ति सम्पन्न है, और सहिष्णु है। नारी में यदि पुरुष के गुण आ जायें तो वह कुलटा हो जायेगी। पुरुष और नारी के कर्म क्षेत्र अलग-अलग हैं। नारियों का पुरुषों के कर्मक्षेत्र में पदार्पण करना अनुचित है। प्राणियों के विकास में स्त्री का पद पुरुषों के पद से श्रेष्ठ है, क्योंकि नारी में प्रेम, त्याग, श्रद्धा एवं वात्सल्य है। पुरुष इनमें

१. देवीप्रसाद शर्मा : सुन्दर सरोजिनी, (१९०७), काशी, पृष्ठ ४२।

२. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य, (१९३६), बनारस, पृष्ठ १०४।

३. शिवरानी देवी प्रेमचन्द : प्रेमचन्द : घर में, (१९५६), बनारस, पृष्ठ २६।

वंचित है। पुरुष की हिंसा, द्वेष एवं कपट व्यवहार मानवता को निम्न स्तर पर ला पटकती है। इसीलिये नारियाँ पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ हैं, जितना प्रकाश अन्धकार से। इसके कारण स्पष्ट हैं। नारियाँ केवल माँ हैं, और कुछ नहीं। इसके अतिरिक्त वे जो कुछ भी करती हैं, उसी मातृत्व का उपक्रम मात्र है। प्रेमचन्द के अनुसार मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, त्याग एवं महान् विजय है। नारियों को अपने जीवन का, व्यक्तित्व का, एवं नारीत्व का लय कर देना चाहिए, यही उसकी महानता है। प्रेमचन्द का यह आदर्शवादी दृष्टिकोण उनके अनेक प्रधान नारी पात्रों में अभिव्यक्त हुआ है।

उनका यह दृष्टिकोण "प्रेमाश्रम" (१६१८-१६) में श्रद्धा के रूप में सुन्दर ढंग से चित्रित हुआ है। श्रद्धा का जो सामान्य रूप प्रस्तुत किया गया है, वह बहुत ही सुन्दर है। छल कपट से पूर्णतया अनभिज्ञ वह सरल हृदया नारी है। नारी में जो भी गुण होने चाहिये, उनसे वह च्युत नहीं है। उसमें विवेक की कमी नहीं है, तीव्र चेतना सम्पन्न भी है, पर इतना होते हुये भी वह मिथ्यावादिनी है, आडम्बरों से परिपूर्ण है, धार्मिक मदान्धता से दबी हुई है। उसे सामाजिक अवस्था और समयोचित आवश्यकताओं का ज्ञान था, पर परम्परागत बन्धनों को तोड़ने के लिये जिस विचार स्वातन्त्र्य और दिव्य ज्ञान की आवश्यकता थी, उससे वह पूर्णतया रहित थी। वह एक साधारण हिन्दू अबला थी। वह अपने प्राणों से, अपने प्राणप्रिय स्वामी से हाथ धो सकती थी, किन्तु अपने धर्म की अवज्ञा करना अथवा लोकनिन्दा सहन करना असम्भव था। पर प्रेमचन्द का आदर्शवाद अन्त में उसे विवेक देता है, और उसमें परिवर्तन होता है। वह प्रेमशंकर की सुकीर्ति, त्याग एवं सेवा कार्य के अनुकरणीय उदाहरणों को ही उनका सच्चा प्रायश्चित मानती है, और अपने पहले की प्रायश्चित की भावना का दमन कर देती है। तभी उसका वास्तविक रूप निखरता है। वह अपने पति की सच्चे मन से उपासिका बन जाती है। उसके जीवन में जो मिथ्या गर्व थे, जो अनौचित्यपूर्ण ज़िद थी, जो धर्मान्धता थी, उसे समाप्त कर अन्त में वह श्रद्धा की पात्री बन जाती है। श्रद्धा की परिकल्पना के स्रोत परम्परागत भारतीय आदर्श ही थे। उस युग में किसी का विदेश जाना धार्मिक दृष्टि से मान्य न था। श्रद्धा अपने पति को छोड़ भी नहीं सकती थी, इसी संघर्ष में नारी का वास्तविक कर्तव्य-पथ क्या होना चाहिए, इसी की ओर इंगित करना ही, श्रद्धा की परिकल्पना की पृष्ठभूमि में प्रेमचन्द का उद्देश्य था।

प्रेमचन्द ने एक आदर्शवादी कल्पना "गोदान" (१६४६) में गोविन्दी के रूप में की है। नारी की स्थिति तब पति की दासी के अतिरिक्त और कुछ न थी। बल्कि वह दासी से भी हेय थी[1]। गोविन्दी के पति खन्ना बराबर अपनी पत्नी की

---

१. "I am far from pretending that wives are in general no better treated than slaves, but no slave is a slave to the same lengths,

में नारी के विवाहित जीवन में केवल पति का ही महत्व होता है, किसी और का नहीं, यहाँ तक कि स्वयं पत्नी का भी नहीं। जो स्त्री अपने पति के चरणों की सेवकाई करती है, पति को ही देवता मानती है, उन्हीं की पूजा करती है, उन्हीं में मन लगाती है, सपने में भी उनके साथ बुरा बर्ताव नहीं करती, भूल कर भी उनको कड़ी बात नहीं कहती, कभी उनके साथ छल कपट नहीं करती, वह भी मरने पर—अपने पति के साथ रहकर स्वर्ग सुख लूटती है।[1] पर इतनी कट्टरता एवं रूढ़िवादिता के होते हुए भी हरिऔध जी नारी शिक्षा के समर्थक थे। वे शिक्षा के अभाव को नारी के लिए अन्धकार कहा करते थे। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया, "वह लड़का भला न क्यों होगा—माँ जिसकी पढ़ी लिखी होगी।[2] पर समूचे रूप में हरिऔध जी का दृष्टिकोण प्रगतिशील न था। वे पुरातनवादी थे, और प्राचीन भारतीय परम्पराओं को बिना युगीन परिस्थितियों का ध्यान रखे ज्यों का त्यों युग-युगों तक चलाए रखना चाहते थे। वास्तव में यह अधिक बौद्धिक दृष्टिकोण नहीं, वरन् भावुकता से ओतःप्रोत सुधारवादी दृष्टिकोण था। पर ऐसा कदाचित् उन्होंने इसीलिए अपनाया था, क्योंकि उनकी दृष्टि से समाज का उस समय तेजी से पतन हो रहा था, और पश्चिमी सभ्यता, फैशन एवं विलासिता भारतीय नारियों की मनः स्थिति पर छाती जा रही थी।

आदर्शवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण

आदर्शवादी लेखक एक आदर्श की स्थापना चाहता है। वह संसार की कुरीतियों, विषमताओं एवं घृणास्पद तथ्यों में भी आदर्श खोजने का प्रयत्न करता है। उसे जीवन का कठोर यथार्थ रुचिकर नहीं होता, उसे अतीत के प्रति श्रद्धा होती है। वह प्राचीन व्यवस्थाओं पर अटूट विश्वास रखकर आगे बढ़ता है। वह उन परम्पराओं का दृढ़ता से पालन करना चाहता है। आदर्शवाद की प्रमुख विशेषता वेदना से निवृत्ति है। आदर्शवादी लेखक को व्यथा, पीड़ा अथवा दुखान्त सहन नहीं हो पाता आदर्शवाद का लक्ष्य सर्वगत आन्तरिक पूर्णता है। उसमें चुनाव का भाव भी रहता है और पूर्णता का भी। आदर्शवादी दैवी शक्तियों के प्रति पूर्ण रूप से आस्थावान् होता है, और लघुता के प्रति विरक्ति प्रकट करता है। वह न्याय पक्ष की विजय में प्रदैव विश्वास रखता है, और अन्याय एवं शोषण के विरुद्ध रहता है। आदर्शवादी लेखक अपने उपन्यासों में ऐसी ही धारणाओं में विश्वास रखने वाले आदर्शवादी पात्रों की परिकल्पना कर एक आदर्श स्थापित करने का प्रयत्न करता है। नारी पात्रों

---

१. अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" : अधखिला फूल, (१९०७), बनारस, पृष्ठ ५३।

२. अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" : अधखिला फूल, (१९०७), बनारस, पृष्ठ २४०।

की परिकल्पना के सम्बन्ध में भी आदर्शवादी दृष्टिकोण का परिचय हमें हिन्दी उपन्यासों में प्रारम्भिक काल से ही प्राप्त होता है।

पूर्व प्रेमचन्द काल में आदर्शवादी दृष्टिकोण रखने वाले उपन्यासकारों में पं० टीकाराम सदाशिव तिवारी का स्थान अत्यन्त प्रमुख है। उनके दोनों उपन्यासों (पुष्पकुमारी एवं शीलमणि) में आदर्श नारी के चित्र प्राप्त होते हैं। ये पहले ऐसे लेखक थे, जिन्होंने इस युग में नारियों की दुर्दशा का कारण उसका आर्थिक रूप से परतन्त्र होना बताया है, पर इस गम्भीर विषय पर वे मात्र अपना विचार प्रकट कर ही गए हैं। इस समस्या का उन्होंने कोई समाधान नहीं सुझाया है। वे कहते हैं, "इधर बाल विवाह की प्रथा दिन-ब-दिन उन्नति, धार्मिक शिक्षा का अभाव, उनके अन्नकष्ट के निवारण को कोई देशी व्यवसाय की देश में न्यूनता आदि आदि अनेकानेक कारणों से अपने देश की स्त्रियाँ अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त है, और इतना सब सहन करते हुए भी साम्प्रतकाल में जो नारी तुम (पुष्पकुमारी) समान अपना जीवन हिन्दू धर्म एवं समाज की रक्षा करते हुए व्यतीत कर रहीं हैं, वे धन्य-धन्य हैं।[1]" स्पष्ट है कि वे हिन्दू धर्म का पालन नारी जीवन का एक अत्यन्तावश्यक अंग समझते थे। कदाचित् इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने एक अन्य उपन्यास "शीलमणि" लिखा था, जिसमें सती शीलमणि का आत्मगौरव, अपने आदर्शों एवं सतीत्व के बल पर अपने पति को सत्पथ पर लाने का प्रयत्न आदि से नारियों को एक नवीन शिक्षा आदर्शवादी ढंग से देने का प्रयत्न किया गया है। लेखक नारी की वह शिक्षा चाहता है, जो उसे उच्छृंखल न बना कर सद्गृहिणी बनाए। उसे कुमार्ग पर चलने की प्रेरणा न देकर आदर्श सिखाए, और जो उसे अपनी सभ्यता एवं संस्कृत तथा मर्यादा की रक्षा की प्रेरणा दे। "पुष्पकमारी" की नायिका पुष्पकुमारी में लेखक का यही दृष्टिकोण प्रतिफलित हुआ है।

एक अन्य आदर्शवादी लेखक देवी प्रसाद शर्मा ने एक अत्यन्त रोचक उपन्यास "सुन्दर सरोजिनी" १८९३ ई० में लिखा, जिसकी उस समय के साहित्यिकों में पर्याप्त प्रशंसा हुई। इसमें सती धर्म की जय, सरोजिनी का पातिव्रत धर्म, उसके माता-पिता का वात्सल्य प्रेम आदि चित्रित किया गया है। उपन्यास की नायिका सरोजिनी का चरित्र इस प्रकार विकसित हुआ है, जिससे लेखक के आदर्शवादी नारी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। लेखक एक आदर्श की स्थापना करते हुए कहता है कि नारियों के जीवन में पातिव्रत धर्म और सतीत्व से बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है। यहाँ तक कि यदि स्वप्न में भी कोई नारी किसी पुरुष को वरण कर ले तो उसे उसी से विवाह करना चाहिए, क्योंकि यही उसका वास्तविक धर्म है फिर उसे किसी दूसरे पुरुष का जीवन पर्यन्त ध्यान न रखना चाहिए, इससे उसकी पवित्रता

---

१. टीकाराम सदाशिव तिवारी : पुष्पकुमारी, (१९१७), कलकत्ता, पृष्ठ १९०।

उपेक्षा करते हैं, पर गोविन्दी सारा अत्याचार सहती है। उसमें विद्रोह नहीं पनपने पाता, क्योंकि प्रेमचन्द का आदर्शवाद उसके विरुद्ध था। वह सहनशीलता एवं आत्मपीड़न को ही अपना धर्म समझती है, और पति के कटुवाक्यों एवं उपेक्षा की ओर दृष्टि न डालकर उसकी पूजा तक करती है। नारी की यह स्थिति वस्तुतः और कुछ नहीं, गुलामी ही है। पति की उपेक्षा करे, पत्नी उसकी पूजा करे—प्रेमचन्द पातिव्रत धर्म को ही नारी जीवन का सर्वोत्तम गुण मानते थे।

वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने कई उपन्यासों में आदर्शवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। "विराटा की पद्मिनी" की प्रधान नारी पात्र कुमुद का प्रेम उन्होंने आदर्शवादी धरातल पर ही चित्रित किया है। यद्यपि उसका और कुंजरसिंह का प्रेम पूर्ण मनोवैज्ञानिक ढंग पर ही विकसित होता है, पर अन्त में कदाचित् दोनों का मिलन इसीलिए नहीं हो पाता, क्योंकि कुमुद देवी के रूप में दूर-दूर तक विख्यात थी, और अपने उस देवत्व के आदर्श की रक्षा के लिये ही वह अन्त तक स्पष्ट रूप में कुंजरसिंह का प्रेम स्वीकृत नहीं करती। केवल अन्त में आकर माला बदलवा देने में भी वर्मा जी का आदर्शवादी दृष्टिकोण अभिव्यक्त होता है, जो प्रेम की पवित्रता के प्रति आस्थावान् है।

वर्माजी नारी प्रेम की पवित्रता में विश्वास रखते हैं, उसका अन्त चाहे कुछ हो। वर्माजी ने विधवा समस्या पर भी अपने विचार प्रकट किए हैं, और उनके दृष्टिकोण से इस भीषण समस्या का एकमात्र समाधान विधवा का पुनर्विवाह है। "अचल मेरा कोई" (१९४७) में निशा एक विधवा शिक्षित युवती है। उसमें तीव्र चेतना एवं कुशाग्र बुद्धि है। वह अचल से विवाह कर समाज के सम्मुख सफल विवाहित जीवन का अनुपम आदर्श उपस्थित करती है। वर्माजी के विचार से विधवा विवाह में पुरुष त्याग नहीं करता, स्वयं नारियाँ ही त्याग करती हैं। निशा के यह कहने पर कि तुमने मुझसे विवाह कर महान् त्याग किया है, अचल कहता है, "असली त्याग तुम्हारा है। हमारा समाज अब भी पिछड़ा हुआ है। इसी समाज के लाज संकोच में विधवाएं अपने हाड़ मांस को गला-गला कर और जला-जला कर जीवन बिताती हैं। पाखंडियों और धूर्तों की पूजा होती है, पर इन यातनाग्रस्त तपस्विनियों को कौन पूछता है? पहले मैं सोचता था कि मैंने वास्तव में त्याग किया है, किन्तु तुमको पाने

---

and in so full a sense of the word, as a wife is. Hardly any slave except one immediately attached to the master's penson, is a slave at all hours and all minutes, in general he has, like a soldier, his fixed task and when it is done, or when he is off duty, he disposes, within certain limits, of his own time, and has a family life in to which the master rarely intrudes. But it cannot be so with the wife."

—जान स्टुअर्ट मिल : सब्जेक्शन ऑव वीमेन, पृ० ५६।

के कुछ दिन बाद ही समझ में आगया कि त्याग मैंने नहीं तुमने किया है।"[1] उन्होंने अपने एक अन्य उपन्यास "संगम" में गंगा का विधवा विवाह कराया है।

नारी अपने आत्मसम्मान के सम्मुख कभी नहीं झुकती। वर्माजी नारी की इस भावना को यथेष्ट प्रश्रय देते हैं। "अचल मेरा कोई" में कुंती के ऊपर जब उसका पति दोपारोपण करता है, तो वह प्रतिवाद करते हुए कहती है, "मेरे चरित्र पर शंका है ? है न ? इसीलिए कि दो कौड़ी की हूं ? आवारा सड़कों पर मारी-मारी फिरने वाली औरतों की तरह ढोलकी बजाती फिरती हूँ ?"[2] और वह अपने कमरे में जाकर गोली मारकर आत्महत्या कर लेती है, पर पराजय नहीं स्वीकारती। यद्यपि स्वयं उन्होंने इसे बहुत श्रेयस्कर नहीं समझा है। उन्होंने ऐसी भी नारियों का चित्रण किया है, जो पातिव्रत धर्म का पालन करती हैं। वर्माजी के अनुसार नारी के सतीत्व एवं पवित्रता में बड़ा बल होता है। "कुण्डली चक्र" में रतन के जीवन का चरम लक्ष्य पति-सेवा ही है, और कुछ नहीं। वह पति के अपना निजत्व मिटा देने का प्रयत्न करती है, यहां तक कि उसका दूसरा विवाह करने की भी सहर्ष अनुमति दे देती है, क्योंकि वह समझती है, नारी का व्यक्तित्व उसके पति के व्यक्तित्व के समक्ष शून्य है, जो कुछ है, बस पति ही है ! "झाँसी की रानी" (१६४७) में भी वर्माजी का आदर्शवादी दृष्टिकोण ही विकसित हुआ है।

गुरुदत्त कृत "स्वाधीनता के पथ पर",[3] निराला कृत "अलका",[4] भगवतीप्रसाद वाजपेयी कृत "त्यागमयी"[5] एवं "प्रेमनाथ"[6] तथा भगवतीचरण वर्मा कृत "टेढ़े मेढ़े रास्ते" में भी आदर्शवादी परिकल्पना सम्बन्धी यही दृष्टिकोण विकसित हुआ है। भगवती बाबू नारी की पति परायण में पूर्ण विश्वास करते हैं। नारी के जीवन में पति से बढ़कर महत्वपूर्ण और कोई नहीं। पति ही उनकी गति होते हैं, उनके बिना उनका अस्तित्व शून्य होता है। "टेढ़े-मेढ़े रास्ते" (१६४६) में अपने पति को एक अंग्रेज महिला के साथ देखकर भी उसकी पत्नी महालक्ष्मी कहती है, "मुझे उसमें सुख है, जिसमें आपको सुख है। आप सुखी रहें, आप अच्छे रहें, आप हँसे बोलें ! आप अपने घर में रहें—मैं तो आपकी दासी हूँ। आप उन्हें बुला लें। जब वह पूछें कि मैं कौन हूँ, तब आप कह दें कि मैं नौकरानी हूँ, और मैं आपको विश्वास दिलाती हूं कि मैं उनकी सेवा करूंगी, उनकी पूजा करूंगी।"[7] इसी उपन्यास की एक अन्य नारी पात्र वीणा भी आदर्शवादी भावनाओं से ओतःप्रोत पात्र हैं। उसकी परिकल्पना का उद्देश्य लेखक का राजनीति में भाग लेने वाली नारियों का चित्रण करना था। वर्माजी ने युगीन अनुभूति को सशक्त रूप में अनुभव किया था कि नारियाँ अब घर

१: वृन्दावनलाल वर्मा : अचल मेरा कोई, (१६४७), झाँसी, पृष्ठ १४२।

२. वही, पृष्ठ २६१।

३. ३, ४, ५, ६, देखिए अध्याय : ५, ६, ७,।

७. भगवतीचरण वर्मा : टेढ़े मेढ़े रास्ते, (१६४६), इलाहाबाद, पृष्ठ २०८।

की सीमाओं में नहीं है, वे बाहर कर्मक्षेत्र में आकर अपने स्वदेश की स्वाधीनता की रक्षा में भी हँसते-हँसते प्राण त्याग सकती है। वीणा कलकत्ते के एक क्रांतिकारी दल की सदस्या है, और देश की स्वाधीनता की लालसा रखती है। वह बीस बाईस वर्ष की बंगाली युवती है। उसके मुख पर नारी-सुलभ भाव न होकर दृढ़ता है और कर्तव्य निष्ठा के कठोर भाव हैं। पर उस कठोरता में भी एक प्रकार की कोमलता है, और देश की स्वाधीनता के लिए प्रत्येक प्रकार का खतरा उठा सकती थी। उसका परिणाम क्या होगा, इसकी चिन्ता उसे नहीं थी, क्योंकि, "हम लोग कुछ कर सकेंगी या नहीं, इसको जानने की मुझे तो कोई आवश्यकता नहीं। अन्त को किसने जाना है—कोई बतला सकता है ? फिर उस अन्त की चिन्ता ही क्यों की जाय ?"[1] वीणा की भेंट नाटकीय ढंग से कलकत्ते में प्रभानाथ से होती है, और उसके मन में प्रभानाथ के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है। प्रभानाथ बाद में उसे उत्तरप्रदेश बुला लेता है और वह वहाँ क्रान्तिकारी कार्यों में सक्रिय हो जाती है। साथ ही वह एक स्कूल की अध्यापिका भी बन जाती है। जिन परिस्थितियों में वीणा को वर्माजी ने रखा है, उससे ज्ञात होता है कि उसके मन में ममता है, वह बड़ों के प्रति श्रद्धा रखती है, उसमें अमित स्नेह की भावना है। वह दूरदर्शी है, और किसी बात को शीघ्र ही समझ लेने की उसमें तीव्र शक्ति है। वह प्रभानाथ से प्रेम करती है, पर जब उसे पता चलता है कि वह मुखबिर बनने पर तैयार हो गया है तो उसके अन्दर घृणा उत्पन्न हो जाती है, और जेल में उसे विष दे देती है। वीणा प्रभानाथ से प्रेम किया था, पर वह प्रेम छिछला न होकर अत्यन्त प्रशान्त एवं पवित्र था।

"जीवन की मुस्कान" (१९३९) में उषादेवी मित्रा ने अपने आदर्शवादी दृष्टिकोण का परिचय देते हुए चित्रित किया है कि पूरबी का जन्म वेश्यालय में होता है, और उसे विवश होकर वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ती है। यह बात—"उसे सदैव मन ही मन सालती रहती है। उसके वेश्या होने के कारण उसकी एक बहन का पति उसे त्याग देता है, और दूसरी अनब्याही ही रह जाती है। पूरबी मात्र वेश्या ही नहीं है, नारी भी है। उसमें नारी सुलभ गुण हैं। कोमलता है, भाव प्रवणता है, और उदारता है। वह अपने घर में किसी को शराब तक नहीं पीने देती, सिर्फ नाचती और गाती भी है, शरीर नहीं बेचती। वह पृथ्वीश से प्रेम करती है, इस पर एक सेठ द्वारा आपत्ति करने पर वह दृढ़ स्वरों में कहती है, "देह मेरी अवश्य बिकी हुई है सेठ जी, दुनिया से यह बात छिपी नहीं है। परन्तु मेरी आत्मा मेरी ही है, मेरी रहेगी। उसे मैं नहीं बेच सकती। बस अब चले जाइये।"[2] पूरबी का जीवन कठोर संयम का था। वह सूखा-रूखा खाती थी, पश्चात्ताप की अग्नि में जलती थी। वह गृहिणी के समान ही जीवन व्यतीत करती थी।

---

१. भगवतीचरण वर्मा : टेढ़े मेढ़े रास्ते, (१९४६), इलाहाबाद, पृष्ठ ७२।
२. उषादेवी मित्रा : जीवन की मुस्कान, (१९३९), पृष्ठ ९१।

रोमांटिक परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण

अनेक उपन्यासकारों ने रोमान्टिक परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण को भी अपनाकर नारी पात्रों की परिकल्पना की है। मानव जीवन में प्रेम का प्रमुख स्थान होता है। बिना प्रेम के जीवन एक प्रकार से शुष्क मरुस्थल के समान ही होता है। पर प्रेम वही श्रेष्ठ होता है, जो हमारे अन्दर छिपे हुए देवत्व का विकास कर हमें मानवता के उच्चासन पर बिठा दे। जो प्रेम हमें इसके विपरीत दिशा में ले जाए, उसका महत्व कुछ भी नहीं होता। ऐसे प्रेम का गला घोंट देना ही श्रेयस्कर होता है। अधिकांश उपन्यासकारों का यही रोमांटिक दृष्टिकोण रहा है। पूर्व प्रेमचन्द काल से लेखकगण ऐसे प्रेम की कल्पना तक भी न करते थे, जो वासनापरक हो, या जिसमें उच्छृंखलता हो। यह एक सर्वथा नवीन बात थी। विदेशों में यह मान लिया गया है कि प्रेम में वासना भी सम्मिलित होती है, दोनों को एक दूसरे से अलग करके नहीं परखा जा सकता। पर इस युग के उपन्यासकारों ने रोमांटिक दृष्टिकोण को आदर्शवादी रंग दे दिया था। वे प्रेम का सदैव एक अनुपम आदर्श प्रस्तुत करने के प्रति प्रयत्नशील रहते थे। चाहे वह "श्यामा स्वप्न" में श्यामा का प्रेम हो, या "चंद्रकांता" में चंद्रकांता का प्रेम हो, सभी में एक आदर्श है, पवित्रता है। यही दृष्टिकोण 'निरुपमा" (१६३६), "कमलिनी" (१८६१), "हृदयहारिणी" (१८६०), "कचनार" (१६४७) में भी चित्रित हुआ है।

प्रेमचन्द भी नारियों के आदर्श प्रेम से विश्वास रखते थे। विवाह के पूर्व शारीरिक सम्बन्ध स्थापित होना, अथवा अन्य घृणित कार्यो को वे परम्परा के विरुद्ध मानते थे। उनके जितने भी नारीपात्र प्रेमिका रूप में चित्रित की गई हैं, सभी में आदर्श प्रेम है। वे कभी अपने कर्तव्य पथ से च्युत नहीं होती, और अपनी आत्मा का हनन कर आत्म प्रवंचना का शिकार नहीं होतीं। चाहे वह "रंगभूमि" की सोफिया हो, या "गोदान" की मालती, या "वरदान" की विरजन। सभी में प्रेम का उच्च रूप मिलता है। सोफिया का विनय से प्रेम आध्यात्मिक स्तर पर था। प्रेमचन्द ने "जमाना" के सम्पादक मुंशी दयानारायण निगम को लिखे गए अपने एक पत्र में लिखा था कि, "मैंने सोफिया का चरित्र मिसेज़ ऐनी बिसेंट से लिया है। यह सच है। सोफिया मिसेज ऐनी बिसेंट की तरह एक विश्व धर्म (Cosmopolitanism) में विश्वास करती है। "प्रेमचन्द मानते थे कि प्रेम के लिए धर्म की विभिन्नता कोई बन्धन नहीं। ऐसी बाधाएं उस मनोभाव के लिए हैं, जिसका अंत विवाह है, उस प्रेम के लिए नहीं; जिसका अंत बलिदान है। यद्यपि सोफिया की परिकल्पना का एक और उद्देश्य यह भी था कि हिन्दू और क्रिश्चियन एकता को चित्रित किया जा सके। ठीक उसी प्रकार, "कर्मभूमि" में अमरकान्त और सकीना का प्रेम चित्रित कर उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता को दृढ़ करने का प्रयत्न किया था। जंगल के समीप गांव में विनय और सोजी अकेले रहते हैं, तो भी वह अपने को गिरने

नहीं देती। दोनों साथ रहते थे, "किन्तु नैतिक बन्धनों की दृढ़ता उन्हें मिलने न देती थी। सात्विक धर्म निरूपण ने सोफिया को साम्प्रदायिक संकीर्णताओं से युक्त कर दिया था। उसकी दृष्टि से भिन्न-भिन्न मत केवल एक ही सत्य के भिन्न-भिन्न नाम थे। अब उसे किसी से द्वेष न था, किसी से विरोध न था······वास्तव में दोनों का आत्मिक संयोग हो चुका था, और भौतिक संयोग में भी कोई वास्तविक बाधा न थी।"[१] फिर भी वह विनय से तभी विवाह करना चाहती थी, जब वह विनय की माँ को भी स्वीकार हो। प्रेमचन्द की धारणा में नारी का स्थान अत्यन्त उच्च होता है। और वह गौरव एवं पवित्रता की साकार प्रतिमा होती है।

जैनेन्द्रकुमार का रोमांटिक दृष्टिकोण मनोविज्ञान पर आधारित है। उसकी अधिकांश नायिकाओं का विवेक यौन भावना एवं "सेक्स" की प्रवृत्यात्मक उत्तेजना के सम्मुख पराजित होता है। उन्हें किसी दूसरे को समर्पण करने में उनका अहं चूर-चूर होता है।[२] । वे नारियों में उनके व्यक्तिगत अहं को कोई महत्व नहीं देते; क्योंकि कोई भी एकाकी नहीं है, और किसी का कोई अलग स्वत्व नहीं है। एक से दो होने की अपेक्षा, आवश्यकता मनुष्य के भीतर एक व्याप्त है । न कहो विवाह, कहो प्रेम । लेकिन आदमी अपने में अपने को पूरा नहीं पाता। दूसरे की अपेक्षा उसे ही है।[३] वृन्दावनलाल वर्मा का रोमांटिक दृष्टिकोण उनके अनेक उपन्यासों में चित्रित हुआ है। "कुण्डलीचक्र" में पुना का अटल प्रेम उसके आत्मविश्वास, साहस एवं आत्मबल के कारण सफल होता है। वह अपने पवित्रता के बल पर ही अपने बहनोई भुजबल के कुचक्रों से अपनी रक्षा कर सकने में सफल होती है। "कचनार" में कचनार का, और "गढ़कुण्डार" में तारा का प्रेम भी पवित्रता की भावभूमि पर चित्रित किया गया है। विष्णुदत्त की कन्या तारा दिवाकर से प्रेम करती है। कनेर के फूल लाने की घटना से यह प्रेम प्रगाढ़ होता है,और अन्त में वह जेल से दिवाकर को छुड़ा सकने में सफल हो जाती है। तारा का प्रेम आदर्श प्रेम था। प्रेम में त्याग

---

१. प्रेमचन्द : रंगभूमि, (१९२४), बनारस, पृष्ठ ४३०।

२. "There is a natural source of conflict between them, for the ego urge is selfish, aiming as it does at the conservation of the individual and its personal up-building, while the sex urge, whose aim is to assure the continuance of the species, is altruistic. By altruism I mean that one human being must before, finding the complete gratification of his sex urge, join his body to that of the opposite sex, whose sex urge he helps to gratify, the result of that co-operation being the creation of a third human being."

—आन्द्रे त्रिदॉन : साइको—एनालिसिस एन्ड लव, (१९४९), पृष्ठ ४६-४७।

३. जैनेन्द्रकुमार : सुनीता, (१९३३), बम्बई, पृष्ठ ५।

की अनुपम भावना, और दृढ़ आत्मशक्ति के कारण ही तारा को अपने प्रेम में सफलता प्राप्त होती है। उषादेवी मित्रा के उपन्यास "वचन का मोल" में कजरी विनय से प्रेम करती है, पर स्वयं सरोज कजरी से प्रेम करता है। मरणासन्न सरोज जब कजरी के सम्मुख प्रणय निवेदन करता है, तो वह बड़े धर्म संकट में पड़ जाती है, क्योंकि वह एक आत्मा की हत्या का दोष अपने सिर नहीं लेना चाहती थी। अंत में वह यहीं निश्चय करती है कि प्रेम में सभी कुछ मात्र प्राप्य ही नहीं है। वह विनय के प्रति अपने प्रेम का दमन कर जीवन पर्यन्त क्वारी ही रहने की प्रतिज्ञा करती है। वह अंत तक अपने दिए गए वचन का मोल निभाती है, और एक आदर्श प्रेम का उदाहरण उपस्थित करती है। मित्रा जी का यह रोमांटिक दृष्टिकोण आदर्शवादी भावभूमि पर ही आधारित है।

प्रेम में स्वार्थ की भावना उसे घृणित बनाती है और प्रेम की पवित्रता ही उसे उच्च स्थान प्रदान करती है—भगवतीचरण वर्मा का यह रोमांटिक दृष्टिकोण उनके 'तीन वर्ष" (१९३०) नामक उपन्यास में अभिव्यक्त हुआ है। प्रभा नगर के प्रसिद्ध वकील सर कृष्णशंकर की पुत्री है, और सरोज एक वेश्या। नारी धन एवं सुख की प्राप्ति के लिए ही पुरुष को अपना तन बेचती है। प्रभा रमेश से प्रेम करती हुई भी उससे विवाह नहीं करती, क्योंकि वह निर्धन है। वह सदा प्रेम करते रहने का निश्चय करती है, विवाह की अनिवार्यता को अस्वीकृत करती है। उधर सरोज के पास चार लाख रुपया है, फिर भी वह दुखी है, सन्तुष्ट नहीं है। वह रमेश से कहती है, 'मैं तुम से सच्चे मन से प्रेम करती हूँ, इस पेशे को छोड़ देना चाहती हूँ। प्रभा आधुनिक युवती है। अपने पापा के सामने दूसरे युवकों से मचल मचल कर बातें करती है। सिगरेट पीती है, घूमने जाती है। वह यूनिवर्सिटी की छात्रा है, और उसी व्यक्ति के साथ विवाह करना चाहती है, जिसके पास विपुल धनराशि हो। रमेश के साथ उसका प्रेम एक ढकोसला था। वह मात्र विलासिनी का जीवन व्यतीत करना चाहती थी। इस प्रकार अपने प्रेमी के पतन का कारण बनती है, पर उसे ऊपर उठाने का काम सरोज वेश्या करती है। सरोज में त्याग की वृत्ति है, वह पढ़ना चाहती है, और अपने देश को छोड़ देना चाहती है। वह रमेश के प्रेम में घुल-घुल कर रिसती रहती है, अन्त में उसके नाम अपनी सारी सम्पत्ति करके मर जाती है। उसका त्याग अनुपम है। वास्तव में वर्मा जी के अनुसार प्रेम की महानता त्याग, उदारता एवं सहनशीलता ही है। प्रेम में वैभव एवं विलास की कामना करना प्रेम को पतित करना एवं पंगु बनाना है। "चित्रलेखा" में भी बीजगुप्त के प्रति चित्रलेखा का प्रेम इसी प्रकार का है। वह बीच में ठोकर खाती है, फिसलती है, पर शीघ्र ही संभल जाती है, और अपना कर्तव्य पथ पहचान आगे बढ़ती है। उसका प्रेम सही माने में तभी सफल होता है, जब वह वैभव एवं विलास की मृगतृष्णा को भेद देती है, और उसमें अनुपम त्याग की वृत्ति उभड़ती है। वह अपनी सारी सम्पत्ति दान देकर साधारण दाम्पत्य जीवन व्यतीत करने निकल पड़ती है। 'अश्क' कृत

"सितारों के खेल" (१९३९) में अमृतलता अभिजात वर्ग की शिक्षित छात्रा है। उसके जीवन में अनेक पुरुष आते है, वह सबसे प्रेम करती हैं, फिर भी उसे कोई सच्चा रोमांटिक प्रेमी नहीं मिल पाता, जिसे वह सच्चे मन से स्वीकार कर सके। कई आदमियों से उसका प्रेम करना प्रयोग ही है। वह अत्यन्त भावुक है, लेकिन उसकी अतृप्त आकांक्षाएं एवं मन की कुण्ठाग्रस्त वर्जनाएं उसे बंसीलाल की हत्या करने पर वाध्य करती है। वह प्रेम को एक सौदा नहीं समझ पाती, इसे वह अत्यन्त महत्वपूर्ण समझती है, विशेष रूप से इस दृष्टिकोण से कि प्रेम नारी जीवन को निखारता है, संवारता है। वह पवित्र प्रेम पर अपना जीवन निछावर कर देना चाहती हैं। उसके प्रेम में निष्काम अपनत्व और पवित्र समर्पण की भावना है, पर दुर्भाग्य से उसके जीवन में एक भी ऐसा पुरुष नहीं प्रवेश करता, जो उसकी आन्तरिक भावनाओं को समझ सके। अपना सारा प्रेम उसे दे सके, और वदले में उसका सारा विश्वास स्वयं ले सके। अन्त में अमृतलता की मानसिक विक्षिप्तियां इतनी बढ़ जाती हैं, कि वह आत्महत्या कर लेती है।

यथार्थवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण

यथार्थवादी उपन्यासकार का मुख्य उद्देश्य जीवन के सम्बन्ध में मूलभूत तत्वों को खोज निकालना होता है, इसीलिए वह जिन वस्तुओं को जिस रूप में देखता है, उस पर बिना कोई मुलम्मा चढ़ाए ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर देता है। कला के प्रति सत्यता एवं ईमानदारी यथार्थवादी साहित्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है।[1] यथार्थवादी लेखक किसी एक विशेष दृष्टिकोण को सीमित परिवेश में न अपना कर प्रत्येक प्रकार के मानवीय अनुभवों के अंकन का प्रयत्न करता है।[2] अतः यथार्थवादी

१. "True great realism...depicts man and society as complete entities, instead of showing merely one or the other of their aspects. Measure by this criterion, artistic trends determined by either exclusive introspection or exclusive extravension equally impoverish and distort reality"

—जार्ज ल्यूकॉच : स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म, (१९५०), लन्दन, पृष्ठ ६।

२. "This use of 'realism', however, has the grave defect of obscuring what is probably the most original feature of the novel form. If the novel were realistic merely because it saw life from the seamy side, it would only be an invented romance; but in fact it surely attempts to protray all the varieties of human experience, and not merely those suited to one particular literary penspective : the novel's realism does not reside in the kind of life it presents, but in the way it presents it."

—इआन वॉट : द राइज ऑव द नॉवेल, (१९५७), लन्दन, पृष्ठ ११।

अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए उपन्यासकारों ने अनेक प्रकार के नारी पात्र प्रस्तुत कर भिन्न-भिन्न सामाजिक समस्याओं को उनके माध्यम से चित्रित करने का प्रयत्न किया है। पूर्व प्रेमचन्द युग में यथार्थवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण विशेष रूप से नहीं प्राप्त होता। किशोरीलाल गोस्वामी कृत "स्वर्गीय कुसुम" (१८८९) में कुसुम का असफल प्रेम दिखाकर उसकी मृत्यु चित्रित कर अवश्य ही गोस्वामी जी ने यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया था, पर स्वयं उन्होंने ही इसका फिर प्रयत्न नहीं किया, और अपने सुधारवादी दृष्टिकोण को ही विकसित करते रहे।

"निर्मला" (१९२२-२३) में प्रथम बार हमें यथार्थवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण का उचित रूप में परिचय प्राप्त होता है। निर्मला का चरित्र प्रेमचन्द ने यथार्थवादी ढंग से चित्रित किया था। समाज की विषमताओं में ही उसका जन्म होता है, पालन पोषण होता है। समाज के अभिशाप का वह शिकार बनती है, और उसी में उसकी मृत्यु होती है।[1] "गबन" (१९३०) में जालपा का चरित्र भी इसी दृष्टिकोण पर आधारित है।[2] यद्यपि "निर्मला" के पूर्व "वरदान" (१९०२) की प्रधान नारी पात्र विरजन के रूप में भी प्रेमचन्द के यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचय प्राप्त होता है, पर उतने विकसित रूप में नहीं, जितना उनके बाद के उपन्यासों में। "गोदान" (१९३६) में धनिया की परिकल्पना भी यथार्थ की कठोर भूमि पर की गई है। उसके चरित्र में निरन्तर उत्थान-पतन होते रहते हैं। कभी आवेश में आकर वह अनाप-शनाप कह भी जाती है, तो दूसरे ही क्षण उसका हृदय भी जाता है, और वह दया एवं ममता की सजीव प्रतिमा बन जाती है। उसका हृदय कठोरता एवं कोमलता का विचित्र सा सम्मिश्रण है। वास्तव में परिस्थितियों की कठोरता ही उसे कठोर बनाती है। नारी का हृदय कितना विशाल होता है, उसमें कितनी सहानुभूति भरी हुई है, और कितनी ममता छिपी होती है, इसका परिचय वह झुनिया को तमाम सारे विरोधों के बावजूद भी अपने घर में लाकर देती है। धनिया के रूप में प्रेमचन्द ने यह चित्रित किया है कि नारियाँ कभी संसार के कर्मक्षेत्र से भयभीत नहीं होती, और न संघर्षों से कभी पीछे मुँह ही मोड़ती हैं। धनियाँ ने अपने जीवन में इसी का परिचय दिया है। उसका समस्त जीवन संघर्षों की प्रेरणादायक कहानी है। उसने कभी कठिनाइयों से हार नहीं मानी। उग्र कृत "जीजी जी" (१९४३) में भी यही दृष्टिकोण विकसित हुआ है।[3]

कौशिक जी ने अपने दो उपन्यासों "माँ" (१९२९) और "भिखारिणी" में नारी पात्रों की परिकल्पना यथार्थवादी दृष्टिकोण पर की है। वे "माँ" में वेश्या समस्या पर अपने विचार प्रकट करते हुए उसका मूल कारण निर्धनता मानते हैं।

---

१. २. देखिए : अध्याय ५, ६।

३. देखिए : अध्याय ७।

"माँ में वेश्या बन्दी कहती है, "भई हम अपनी आदत को क्या करें ? हमारी तो जिससे मुहब्बत होती है, उसी से बातचीत करने को जी चाहता है। यों हमसे हँसा बोला नहीं जाता, चाहे कोई लखपति हो, या करोड़पति। हम तो मुहब्बत के भूखे हैं, रुपये के भूखे नहीं। रुपया लेकर हमें करना क्या है ? जिस खुदा ने पैदा किया है, वह शाम तक खाने को दे ही देगा।"[1] पर बन्दी का यह कथन अपने पेशे को चलाते रहने के लिए एक बहाना मात्र था। इसकी पृष्ठभूमि में उसके जीवन की जाने कितनी घनीभूत पीड़ा और अश्रुओं का सैलाब निहित रहता है। वह उसका मन ही जानता था कि उसके जीवन में मुहब्बत की आवश्यकता है या रुपये की। स्वयं उसका ही बाद का कथन इस प्रश्न का उत्तर दे देता है। जब सेठ श्यामनाथ के बहुत दिनों तक न आने पर उसकी माँ चिन्ता एवं आशंका प्रकट करती है, तो उसे समझाते हुए बन्दी कहती है, मैं उन्हें आसानी से थोड़े ही छोड़ दूंगी। अगर कहीं आँख लगी भी होगी, तो भी जहाँ तक होगा, पंजे से निकलने न दूंगी।"[2] निर्धनता के कारण बेगम को अपनी बेटियों से वेश्यावृत्ति करानी पड़ती है। वह अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा पूर्णतया लुप्त हो जाने से भयभीत होती है। उसकी दोनों पुत्रियाँ भी वेश्यावृत्ति से घृणा करती हैं। पर मुख्य प्रश्न तो पेट के निर्वाह का है, और आर्थिक विषमताएं उन्हें पतित मार्ग पर ला ढकेलती हैं। उनका बड़ा यथार्थ चरित्रांकन लेखक ने किया है। उसके अनुसार कोई वेश्या वेश्या-मात्र नहीं होती। पहले वह नारी होती है, बाद में कुछ और। -'बन्दीजन वेश्या होते हुए भी स्त्री थी। वह सतीत्वहीन होते हुए भी स्त्रीत्वहीन नहीं थी। यह बात दूसरी थी कि वह धन के कारण अपनी रुचि के प्रतिकूल कार्य करने को भी प्रस्तुत रहती थी, धन के कारण अरुचिकारक पुरुष से भी प्रेमालाप करती थी। केवल इतना ही नहीं धन के कारण उसे ऐसे पुरुष का भी तिरस्कार करना पड़ता था, जिससे प्रेमालाप करते में उसको हृदय को आनन्द प्राप्त होता था। इसीलिए वह वेश्या थी—यही उसमें वेश्यापन था।[3] "राधाकृष्ण महाशय की आर्थिक सहायता एवं सद्प्रयत्नों से जब बेगम की दोनों बेटियों का विवाह हो जाता है, तो उनमें कुछ भी वेश्यापन का सा भाव नहीं रह जाता, वे सामान्य नारियाँ ही बन कर अपना जीवन व्यतीत करती हैं। वास्तव में वेश्यावृत्ति के लिए पुरुषों को लज्जित होना

१. विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक" : माँ, (१९२९), पृष्ठ १३९।
२. विश्वम्भर नाथ शर्मा "कौशिक" : माँ, (१९२९), पृष्ठ ३३०।
३. वही, पृष्ठ २१३।

चाहिए, हांलाकि वह मात्र भारतीय नहीं, विश्व समस्या है।"[1] समाज को इसके निराकरण का उपाय करना चाहिए, नारियों की दुर्दशा एवं हीनावस्था का यह एक प्रमुख कारण है।

नारियों के विवाह के सम्बन्ध में कौशिक जी ने समाज को बहुत प्रमुखता प्रदान की है। वे प्रेम की स्वतन्त्र सत्ता तो मानते हैं, पर समाज की अस्वीकृति की स्थिति में उसकी अनुपयोगिता भी घोषित करते हैं। "भिखारिणी" में जस्सो का विवाह रमानाथ से इसीलिए नहीं हो पाता, क्योंकि वह स्वतन्त्र प्रेम था, और रमानाथ में इतना साहस नहीं था कि वह अपने पिता (जो समाज के प्रतीक स्वरूप माने जा सकते हैं) से कह सके। कौशिक जी के अनुसार „ऐसा कोई भी सफल नहीं होता, जिस समाज स्वीकृति न प्रदान करे। तत्कालीन युग की परिस्थिति किसी भी प्रकार के नारी विद्रोह का प्रश्रय नहीं प्रदान करना चाहती थी। नारी की व्यथा का एक और कारण अंतर्जातीय विवाहों पर प्रतिवन्ध भी है। यदि यह प्रतिवन्ध न होता तो कदाचित् जस्सों का विवाह रमानाथ से हो जाता और दर-दर की ठोकरें खाने और जीवन भर व्यथा का भार सहने के लिए बाध्य न होना पड़ता।

आदर्शोन्मुख यथार्थवादी परिकल्पना संबंधी दृष्टिकोण

प्रेमचन्द—ने आदर्श एवं यथार्थ का समन्वय करके आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का दृष्टिकोण अपनाया था। स्वयं उन्हीं के अनुसार "यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है। हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है। उसके विपरीत आदर्शवाद हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं।······यथार्थवाद की प्रवृत्ति की दुर्बलताओं के चित्रण में शिष्टता की सीमाओं का उल्लंघन कर देती है और मानव को पशु दिखाकर भयभीत कर देती है। दूसरी ओर आदर्शवाद ऐसे पात्रों की सृष्टि कर देता है जो भलाई या

---

१. "All of us men must hang our needs in shame, so long as there is a single woman whom we dedicate to our lust. I will far rather see the race of man extinct than that we should become less than beasts by making the noblest of God's creation the object of our lust, but this is not a problem merely for India, it is a world problem."

—महात्मा गांधी : वीमन एण्ड सोशल इनजस्टिस, (१९५४), अहमदाबाद, पृष्ठ १२५।

बुराई के प्रतीक बनकर रह जाते हैं। वे निर्जीव से हो जाते हैं......वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है।" प्रेमचन्द ने अपने अनेक नारी पात्रों की परिकल्पना इसी आधारभूमि पर की थी और इसी दृष्टिकोण को उनके समकालीन अनेक अन्य उपन्यासकारों ने भी अपनाया था। वे ऐसे नारी पात्रों का चित्रण तो यथार्थवादी ढंग से करते थे पर उनका अन्त आदर्शवादी ढंग से चित्रित करते थे।

मालती ("गोदान" की प्रधान नारी पात्र) श्रद्धा का ही परिवर्तित रूप है। ऐसा प्रतीत होता है कि समय की परिवर्तनशीलता के साथ श्रद्धा भी परिवर्तित हो जाती है, और नवीन रूप धारण कर मालती बन जाती है। प्रेमचन्द ने जिस समय "गोदान" की रचना की थी, उस समय भारतीय चेतना लगभग पूर्णरूप से पश्चिमी सभ्यता के परिवेश में बंध चुकी थी। नारियों में जागरूकता उत्पन्न हो रही थी, और उनकी शिक्षा के प्रति अभिभावकों में उदासीनता समाप्त होती जा रही थी, मालती इसी जागरूक नारी वर्ग की प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत की गई है। पर उसे बाहर से तितली और भीतर से मधुमक्खी समझना ही पर्याप्त नहीं हैं। अभी तक आलोचकों ने प्रारम्भ में मालती को केवल तितली रूप में और बाद में मेहता के संसर्ग में आने पर त्यागवृत्ति से ओतःप्रोत नारी के रूप में ही देखा है। यह कहना कि मालती में नैतिक बल अधिक नहीं है, और वह भारतीय नारियों की गौरवशाली परम्परा का प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ है, तर्क संगत नहीं है। यह भ्रम इसीलिए उत्पन्न होता है, क्योंकि आलोचक प्राय: समझते हैं कि प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में मनोविज्ञान का उपयोग नहीं किया है, इसीलिए मालती के चरित्र की विचित्रता के पीछे मनोवैज्ञानिक कारण हो नहीं सकते, वह तो केवल चमत्कार प्रदर्शन एवं आकर्षण उत्पन्न करने के लिए किया गया है। फतवा तो यहाँ तक दे दिया गया है कि इसीलिए प्रेमचन्द द्वितीय श्रेणी के लेखक हैं।

इसका यही कारण है कि प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में मनोविज्ञान की गुत्थियों को शास्त्रीय रूप में सुलझाने की चेष्टा नहीं की है। अपने उपन्यासों के वक्तव्यों में उन्होंने चिल्ला-चिल्ला कर यह घोषणा करने का प्रयत्न नहीं किया है कि मैं मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हूँ। मैं केवल मनोविज्ञान या मनोविश्लेषण के लिए अपने उपन्यासों में फ्रायड और उसके तथाकथित अनुयायियों के आदर्शों को जीवित कर रहा हूँ। वस्तुतः मालती जैसी अन्त में है, वैसे ही प्रारम्भ में संस्कारों से है। प्रारम्भ में वह छिछोरी, विलासिनी या अपने यौवन का नग्न प्रदर्शन करने वाली जानबूझ कर नहीं बनी है, हमारे इस समाज ने उसे ऐसा बनाया था, ऐसा रूप धारण करने पर विवश किया था। मालती के निर्बल कन्धों पर पूरे परिवार के

पालन-पोषण का उत्तरदायित्व है। अपनी बहन सरोज की उच्च शिक्षा का उत्तरदायित्व है। उसका पारिवारिक जीवन अधिक सरस नहीं, अपितु शुष्क एवं नीरस है। रोगियों को देखने, उनके दुःख-दर्द सुनने में शायद ही किसी को संसार में आनंद तत्व की उपलब्धि होती हो। इसके अतिरिक्त यदि मालती से क्रिया कलापों, उसके अन्तरमन और उसकी भावनाओं की परीक्षा की जाए तो यह सहज ही स्पष्ट हो जाएगा कि मालती के अपने सपने थे, आकांक्षाएं थीं, और उसकी पारिवारिक परिस्थितियाँ एवं विवशताएं उसमें बाधक थीं। हर नारी की स्वाभाविक इच्छा विवाहित जीवन व्यतीत करने, और मातृत्व का उत्तरदायित्व पूर्ण करने की होती है। पश्चिम में यह भावना भले ही बल न प्राप्त कर सकी हो, पर भारतीय चेतना में यह बात अत्यन्त सशक्त है। अपनी भावनाओं के प्रति जो सशक्त प्रेम था, मालती को उसे दमित करना पड़ा, मात्र अपने परिवार एवं उत्तरदायित्व के लिए। पर ये भावनाएं वस्तुतः अवचेतन में चली गई। जहाँ वे सदैव ही द्वंद्वरत रहीं, और मालती को विचित्र दिशाओं में ले जाती रहीं। मालती भी ममत्व प्रदर्शित करना चाहती थी, और उसकी यह भावना आगे चल कर मंगल को अपनी ममता प्रदर्शित करने में स्पष्ट होती है। वह मालती, जो गन्दे लोगों से घृणा करती थी, उनकी ओर देखना भी नहीं चाहती थी, मंगल को पाकर जैसे धन्य हो उठी, उसकी दमित मातृत्व की भावना जैसे साकार हो उठी। यह प्रो० मेहता के कारण हुआ, मैं इसे स्वीकार नहीं करता।

ऊपर कहा जा चुका है, मालती की पारिवारिक परिस्थितियां विचित्र थीं।
वह घर की एकमात्र कमाने वाली सदस्या थी। यदि वह विवाह कर लेती तो अपनी
मातृत्व की इच्छा और अन्य सभी भावनाएं सरलता से पूर्ण कर सकती थी, पर
परिवार संचालन की समस्या बीच में थी। उच्च शिक्षा प्राप्त कर उसने कर्तव्य एवं
दायित्व से मुख मोड़ना नहीं सीखा था। वह अपने असहाय माता-पिता को कठिनाइयों
के बीच नहीं छोड़ना चाहती थी। विवाहोपरान्त अपनी आय का भाग वह इस
परिवार को दे नहीं सकती थी क्योंकि यह प्रेमचंद को पसन्द न था, और न यह
भारतीय परम्परा के ही अनुकूल था। अतः अब मालती को अपनी इच्छा का दमन
करना ही पड़ा। पर व्यक्ति केवल उदास क्षणों में ही अपना जीवन नहीं व्यतीत कर
सकता, विशेष रूप से जबकि उसका एक सामाजिक जीवन भी होता है। मालती
इंग्लैंड से उच्च शिक्षा प्राप्त कर आई थी और हमारे यहाँ के तथाकथित उच्च समाज
में घुल-मिलकर कोई अपराध नहीं किया था। उसने अपना गौरव बनाए रखने की
बराबर चेष्टा की, और कभी नीचे नहीं गिरी। अगर वह थोड़ी हल्की अपने हाव-
भाव में दिखाई पड़ती है, तो उसके लिए उसका अवचेतन मन उत्तरदायी है। वह
बराबर पवित्र, उच्च एवं आदर्शपूर्ण प्रेम की खोज में रहती है। पर उसकी सोसायटी
में सभी उच्छृंखल प्रवृत्ति के स्वार्थी, कायर और रूप के लोभी थे। एक मेहता ही

अपवाद था, जिसमें शालीनता थी, ऊंचे विचार थे, और आदर्शवादिता थी। मालती उसकी ओर खिंचती चली गई, पर अपनी दार्शनिकता की खोज में प्रारम्भ में मेहता को उसकी परख ही न हो सकी, और वह मालती को अपना कोई समर्थन न दे सका। मालती के अन्तरमन में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई और जाने-अनजाने उसके अवचेतन मन ने इसे अपमान स्वरूप ग्रहण किया। इसका एक दूसरा रूप भी है। मालती की वे मृत आशाएं, जो मेहता को पाकर सहसा सजीव होने लगी थीं, जबर्दस्त रूप से खण्डित होती हैं। पर प्रेमचन्द आदर्शवादी लेखक थे। यहीं उन्होंने यथार्थवाद के साथ आदर्श का समन्वय भी कर दिया और मालती के यथार्थ चित्र को एक आदर्शवाद दिशा दे दी। वे ध्वंसोन्मुख समाज में निर्माण के बीज अंकुरित करना चाहते थे। उन्होंने यहीं मालती को एक विशिष्ट दिशा दे दी। इसे मैं पतनोन्मुख समाज को वास्तविक प्रगतिशीलता की ओर ले जाने का प्रेमचन्द का स्तुत्य प्रयास मानता हूँ। वे इसे मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया की भयंकरता नहीं चित्रित करना चाहते थे। जोशी जी होते, तो कदाचित् अन्त में मालती या तो मेहता की ही हत्या कर देती, या स्वयं आत्महत्या कर लेती। पर जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूं, प्रेमचन्द की आस्था निर्माण में थी, विनाश में नहीं। धीरे-धीरे मालती के मन में छिपी त्याग-वृत्तियाँ उदित होने लगीं, और साथ ही उसके अवचेतन मन में मेहता से स्पर्धा की भावना भी उत्पन्न हो गई थी। वह भी ऊंचा उठना चाहती थी, और मेहता की भाँति अपने व्यक्तित्व को गम्भीरता एवं सौम्यता प्रदान करना चाहती थी। इसमें उसे अपने इच्छानुकूल के संस्कारों की यथेष्ट सहायता मिली, और अन्त में तो वह हमें एक आदर्श रमणी के रूप में दिखाई पड़ती है।

मालती के चरित्र के सूत्रों को यदि हम एक स्थान पर एकत्रित करें तो वे इस प्रकार होंगे—मालती मृदुभाषिणी है। मन में कोई ईर्ष्या या द्वेष न रखने वाली है। कर्तव्य-परायणता उसमें कूट-कूट कर भरी हुई है। हाजिर जवाबी में कुशल है। संवेदनशील है। पुरुष मनोविज्ञान की कुशल ज्ञाता है। बुद्धिमती है, स्वाभिमानी है, और प्रतिभावान है। उसमें ममत्व है, और त्याग की अनुपम भावना है। वह अच्छे संस्कारों वाली आदर्श नारी है। वास्तव में वह परिवर्तित युग की उस नारी का चित्रण है, जिसकी नब्ज प्रेमचन्द ने सशक्त रूप में पहचानी थी, और मालती ने ही आगे आने वाले युग के प्रायः सभी उपन्यासकारों को एक नई दिशा दी। यथार्थवादी दृष्टि दी। बाद की अधिकांश नायिकाएं मालती का ही विकसित रूप हैं। मालती अन्त में धीरे धीरे उच्चता के शिखर की ओर अग्रसर होती जाती है, और अन्त में तो वह जैसे स्वयं अपने प्रति तटस्थ हो जाती है, उसकी अपनी सारी भावनाएं और इच्छाएं समाप्त हो जाती हैं। वह अब मेहता की पत्नी बनने की आकांक्षा नहीं करती। वह पति पत्नी की तरह न रहकर मित्र बनकर सहयोग की भावना से काम करने को ही गौरवपूर्ण समझती है। इसके पीछे भी मनोवैज्ञानिक कारण हैं, जिसे

हम पारिभाषिक शब्दावली में सैडिज्म (Sadism) और मैसोचिज्म (Masochism) कह सकते हैं, अर्थात् दूसरों को पीड़ा देकर वह आनन्द की उपलब्धि करता है या दूसरों से पीड़ित होने में ही वह सुखी होता है। यह कथाकार का कौशल ही होता है कि पाठक तो समझता है कि अब मेहता और मालती का मिलन होगा, पर अचानक ही मालती के इस निर्णय को प्रस्तुत कर लेखक पाठकों की मनः स्थिति को झकझोर देता है।

आलोच्य काल में भारत को स्वाधीनता न प्राप्त हुई थी, और गाँधी जी के राजनीति के क्षेत्र में उदय के साथ राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में अनेक परिवर्तन उपस्थित हुए। उन्होंने नारियों को अपने अधिकारों के साथ अपने दायित्व को भी समझने की प्रेरणा दी। और उनसे राजनीति में आने और देश के स्वाधीनता आन्दोलन को आगे बढ़ाने की अपील की। यह नारियों के लिए एक प्रकार से नवीन बात थी। अभी तक उनका कार्यक्षेत्र घर की चार दीवारी के भीतर ही समझा जाता था, और गृहस्थी का संचालन कर पति को सुख प्रदान करना ही उनका एक-मात्र कार्य समझा जाता था। नारियों ने परिवर्तित परिस्थितियों में अपने प्रति प्रकट किए गए विश्वास की अवहेलना नहीं की, और वे राजनीति के क्षेत्र में कूद पड़ी। यद्यपि इसके पीछे अन्य अनेक कारण भी सम्मिलित थे। कभी-कभी पति राजनीति में भाग लेता था, तो उसकी तुलना में अपने को हेय एवं पराजित न प्रदर्शित करने के लिए भी नारियाँ राजनीति में भाग लेती थीं। कभी-कभी वे स्वयं अपनी ही भावनाओं से अनुप्राणित होकर राजनीति में भाग लेना प्रारम्भ करती थी। इसके कारण कुछ भी हों, यह तथ्य प्रमुख है कि नारियाँ नव-जागृति से अभिभूत होकर राजनीतिक आन्दोलनों में भाग लेने लगी थीं। उनके सम्मुख पारिवारिक कठिनाइयाँ आती थीं, बच्चों की देखरेख की समस्या भी उत्पन्न होती थी, पर उस समय देश में राजनीतिक नशा कुछ इस तरह छाया हुआ था कि नारियाँ इसकी जरा भी परवाह नहीं करती थीं। "कर्मभूमि" (१९३२) की प्रधान नारी पात्र सुखदा में प्रेमचन्द ने यही भाव चित्रित किए हैं।

सुखदा की परिकल्पना का उद्देश्य प्रेमचन्द द्वारा यह चित्रित करना था कि भारतीय नारियों में किस सीमा तक प्रगतिशीलता और सजगता आ गई है। वे अब अपने कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व को समझ गई हैं, और सुखदा की भाँति वे राजनीति में भी भाग लेने को प्रस्तुत हैं। वास्तव में नारियों का राजनीति में रहकर परिवार सम्भालना थोड़ा कठिन होता है, जैसा कि सुखदा के सम्बन्ध में भी होता है, पर प्रेमचन्द अन्त में आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत कर सबके चरित्रों में परिवर्तन उपस्थित कर देते हैं, और यह चित्रित करते हैं कि परिवार एवं राजनीति का समन्वय किया जा सकता है। विलासिनी सुखदा एकदम से परिवर्तित होकर देश से विधा बन जाती है, साथ ही अपने साथ सकीना, पुत्री, अपने ससुर लाला समरकान्त आदि को भी देशसेवा का व्रत लेने को प्रेरित करती है।

नारियों की दयनीय अवस्था का एक विशेष कारण प्रेमचन्द दहेज प्रथा को भी माने थे। "सेवासदन" में सुमन[1], और "निर्मला" में निर्मला[2] इसी दहेज की कुप्रथा का शिकार होती है। पर सुमन को वेश्यावृत्ति से शीघ्र ही निकाल कर प्रेमचन्द ने अपनी आदर्शवादिता का ही परिचय दिया है, यथार्थवादी दृष्टिकोण का नहीं। दहेज प्रथा का कारण मध्यवर्ग की अतिशय भावनात्मक और निर्धनता तो है ही, पढ़े लिखे युवक वर्ग की उदासीनता भी है। समाज की गति कुछ इतनी विचित्र हैं कि जिन्हें हम मातृ पद पर विभूषित करने की बात करते है, वे ही बाजारों में अपनी पवित्रता और अपना नारीत्व बेचने पर विवश होती हैं।[3] पुरुष उसे भाँति-भाँति के प्रलोभन देता है, और मृगतृष्णा निर्मित कर एक कृत्रिम संसार में उसे जीने के लिए बाध्य करता है। सुमन के रूप में प्रेमचन्द ने यह यथार्थ चित्रित करके भी उसके चरित्र को आदर्शोन्मुख अन्त प्रदान किया है।

"प्रसाद" का नारी दृष्टिकोण जितने सशक्त रूप में उनके नाटकों में अभिव्यक्त हुआ है, उस रूप में उपन्यासों में नहीं। "कंकाल" में उन्होंने तारा के रूप में वेश्या समस्या पर विचार प्रकट किया है, पर उसका कोई समाधान प्रस्तुत करने में वे सफल नहीं रहे हैं। तारा के रूप में वे यह दिखाना चाहते थे कि जो वेश्याएं स्वयं सुधरना चाहें, समाज को उन्हें पूर्ण रूप से सुविधा देनी चाहिये। विवाह का आधार वे धन नहीं प्रेम मानते हैं, इसीलिए "तितली" में तितली का विवाह इन्द्रदेव से न होकर बालसखा मधुवन से होता है। वे पाश्चात्य सभ्यता के प्रगतिशील तत्वों के बराबर समर्थक थे। इसीलिए तितली के रूप में जहाँ उन्होंने आदर्श भारतीय नारी का चित्रण किया है, वहीं उसे कर्मक्षेत्र में भी प्रवृत्त दिखाया है। मधुवन के चले जाने पर तितली स्वयं ही कामकाज कर अपना पेट भरती है, पर किसी के सामने हाथ नहीं फैलाती। यह नवयुग की नारी की एक महान् विजय थी। यही नहीं उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह का भी समर्थन किया है, और "तितली" में अंग्रेज़ युवती शैला और इन्द्रदेव का विवाह कराते हैं। इन्द्र की माता श्यामदुलारी अभिजात्य

१-२. देखिए : अध्याय ६, ७।

३. "It is a matter of bitter shame and sorrow, of deep humiliation that a number of women have to sell their chastity for man's lust. Man the law given will have to pay a dreadful penality for the degradation he has imposed upon the so called weaker sex···let the Indian man ponder over the fate of the thousands of sisters, who are destined to a life of shame for his unlawful and immoral indulgence.... It is an evil which cannot last for a single day if we men of India realize our own dignity...."

महात्मा गांधी : वीमेन एन्ड सोशल इनजस्टिस : (१९५४), अहमदाबाद, पृष्ठ १२९।

कुल की विधवा थी, वर्ण व्यवस्था एवं धर्म में गहन आस्था रखती थी, पर अन्त में उन्हें मैला को वह स्वीकारना पड़ता है। वह प्रगतिशील तत्वों की विरुद्ध थी, जिसे प्रसाद ने अपनी आदर्शवादिता के ताने बाने में लपेट कर प्रस्तुत किया था। उन्हें नारी का विद्रोह नितान्त रूप से भी रुचिकर न था। वे तमाम सारी प्रगतिशीलता के बावजूद भी नारियों को परम्परा के सीमित दायरे में रखना पसन्द करते थे। "कंकाल" में तारा पुरुष वर्ग के प्रेम विलास का खिलौना मात्र ही बन कर रह जाती है। उसमें विद्रोह नहीं सहनशीलता है। भारतीय नारी का आत्मपीड़न एवं करुणा ही उसके व्यक्तित्व का संगठन करती है। वह अपनी व्यथा को चुपचाप पीकर ही जीना चाहती है। अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करना उसने न सीखा था। वह दर-दर की ठोकरें खाती है, एक के बाद एक परिस्थितियों से पराजित होती है, पर विषाद एवं असंतोषग्रस्त उसका मन कभी विद्रोह की बात नहीं सोचता। नारी की परिकल्पना का स्रोत प्रसाद को उसी समाज से प्राप्त हुआ था, जहाँ नारी पुरुष की वासना एवं हवस का शिकार होकर केवल भोग की सामग्री समझी जाती है, इसके अतिरिक्त उसका अस्तित्व शून्य समान होता है। नारी छली जाती है, उसकी मर्यादा खंडित होती है, और तत्पश्चात् उसे दर-दर की ठोकरें खाने के लिए बाध्य कर दिया जाता है। प्रसाद ऐसी ही नारी का चित्रण कर समाज की आँखें खोलना चाहते थे, पर अपनी आदर्शवादिता के कारण वे इसमें सफल नहीं हो पाए।

"दिया" नामक उपन्यास में उषा देवी मित्रा ने विधवा समस्या पर अपने आदर्शोन्मुख यथार्थवादी दृष्टिकोण अभिव्यक्त किए हैं। पुरुष छिप-छिप कर अपनी वासना तो शान्त करता है, पर जब नारी एक शिशु का बोझ धारण कर लेती है, तो वह मुँह चुराता है। आखिर इसका समाधान क्या हो? वे कहती हैं, पुरुष को अपना नैतिक दायित्व समझ कर साहस प्रदर्शित करना चाहिए, और उस अबला नारी से निश्चित रूप से अपना विवाह कर लेना चाहिए। "दिया" में नीलिमा पर उसकी छोटी बहन कविता का पति सुकान्त डोरे डालता है, और अन्त में सफल भी हो जाता है। फलस्वरूप नीलिमा गर्भवती हो जाती है। सुकान्त लोक-लाज के भय से गर्भपात कराने का परामर्श देता है, किन्तु कविता को जब यह ज्ञात होता है, तो वह इसका तीव्र विरोध करते हुए अपनी बहन से कहती है, "तुम हत्या न करो। जिसको मन से पति रूप में ग्रहण किया है, एक निष्ठ प्रेम किया है, उससे विवाह करो।"[1] यही नहीं कविता में मानव मन की दुर्बलता एवं उसकी विवशताओं को समझने की इतनी प्रवृत्ति है कि वह अपनी माँ से कहती है, उस बेचारी को कोसना व्यर्थ है। वह अशिक्षित है, एवं जन्म से ही पीड़ाग्रस्त है। दुनिया ने आखिर उसे क्या दिया? उसे दिया गया अविराम लांछना, परिहास और दरिद्रता, केवल परिश्रम एवं नियमों का एक काला पहाड़। ज़रा सी सहानुभूति भी नहीं थी उसके लिए। उस ग्रामीण विधवा के सहारे के लिए एक तिनका भी तो नहीं दिया गया था।

१. उषा देवी मित्रा : दिया, पृष्ठ १६०।

समाजवादी परिकल्पना संबंधी दृष्टिकोण

समाजवादी विचारधारा के अन्तर्गत सामाजिक वैपम्य को अस्वीकृत किया गया है। वे ऊँच-नीच, वर्ग भेद आदि को नहीं मानते, और समता के सिद्धान्त को स्थापित करना चाहते हैं। नारियों का वास्तविक स्थान भोग विलास और ऐश्वर्य की दृष्टि भी नहीं साधारण दाम्पत्य जीवन निर्वाह करने में है। यशपाल ने "दिव्या" और भगवतीचरण वर्मा ने "चित्रलेखा" में यही समाजवादी आदर्श ग्रहण किया है। इन उपन्यासों की नायिकाएं क्रमशः दिव्या और चित्रलेखा दोनों ही वैभव एवं विलास तथा ऐश्वर्य को ठुकरा कर साधारण दाम्पत्य जीवन को महत्व प्रदान करती हैं।[1] यशपाल मार्क्सवादी उपन्यासकार हैं। वे सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के प्रति आस्थावान हैं। अपने उपन्यासों में उन्होंने अधिकांश रूप में अभिजात्य-वर्ग या मध्यवर्गीय नारी पात्रों की कल्पना की है। उनके नारी पात्रों के सम्मुख दो महत्व-पूर्ण कार्य रहते हैं। एक तो अपने सृजनकर्ता की प्रगतिशीलता सिद्ध करने के लिए सामाजिक परम्पराओं एवं मान्यताओं के प्रति विद्रोह करना, दूसरे साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रचार करना और अपनी पार्टी के लिए पूँजीवादी शोषण एवं साम्राज्यवादी शासन के नाश के लिए आवाज़ उठाना। "दादा कामरेड" में शैला का चरित्र इसी प्रकार का है।[2] इसी उपन्यास में दूसरी प्रधान नारी पात्र यशोदा हरीश के प्रभाव में आकर राजनीतिक कार्यों में भाग लेने लगती है, पर अपने पति से कुछ नहीं बताती। शंका होने पर उसके पति सोचते हैं, "मैं आठ वर्षों में कुछ न हुआ, और वह एक ही दिन में इतना हो गया? अपनी ही आँखों के सामने वे अपने आपको अपमानित और निकृष्ट जीव अनुभव करते। जिस मनुष्य की स्त्री उसे निकम्मा समझे उस मनुष्य का जीवन भी क्या? क्या यशोदा को दण्ड देने की भावना उसके मन में आती। उसे उसके मायके भेज दें और कभी न बुलायें। या घर से निकाल दें? दूसरे आदमियों से दोस्ती करने का मज़ा उसे मिल जाये।... स्त्री स्वभाव से ही चंचल होती है। यशोदा तो कभी चंचल दिखाई नहीं दी परन्तु स्त्री का क्या विश्वास। स्त्री पतन और अनाचार का मूल है, उसका कभी नहीं विश्वास करना चाहिए।"[3] और कदाचित् उसे मात्र वासना और भोग की सामग्री मात्र ही समझना चाहिए? यशपाल इसी प्रसंग में नारी की स्वतन्त्रता की बात भी करते हैं। वे कहते हैं, किसी को अपना बना लेने का मतलब भी तो किसी की हो जाना ही है। जहाँ स्त्री का अपना कुछ दोप नहीं रह जाता। यदि स्त्री को किसी न किसी की बनकर ही रहना है, तो उसकी स्वतन्त्रता का अर्थ ही क्या हुआ? स्वतन्त्रता शायद इसी बात की है कि स्त्री एक बार अपना मालिक चुन ले, परन्तु

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए : अध्याय ६।

२. देखिए : अध्याय ५।

३. यशपाल : दादा कामरेड, (१९४१), लखनऊ, पृष्ठ १४६।

गुलाम उसे जरूर बनना है।'[1] यह सेक्स सम्बन्धी स्वतन्त्रता की माँग नहीं तो और क्या है? और फिर बात चाहे जिस प्रकार कही जाए, शैला इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

यशपाल का नारी चित्रण सम्बन्धी दृष्टिकोण मात्र सेक्स पर आधारित है यद्यपि उन्होंने—इसे समाजवादी प्रगतिशीलता का नाम दिया है। उनकी नारियाँ अपने नारीत्व को असहनीय बोझ समझती हैं और किसी भी पुरुष का संसर्ग स्थापित होते ही नारीत्व के उस बोझिले आवरण को उतार कर लज्जाहीनता, बेहयाई और मर्यादाहीनता को आत्मसात् करने में वे नारी का गौरव समझती हैं। यही यशपाल की प्रगतिशील विचारधारा है, जो नारियों में यौन संबंधों के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखती, हालांकि कहीं-कहीं नारियों के 'अधिकारों' उनकी 'यातनाओं' तथा उनकी 'स्वतन्त्रता' की भी लीपा-पोती की गई है। उनके नारी पात्रों का व्यक्तित्व सामन्ती युग की मान्यताओं के प्रति विद्रोह करने में ही अपने कर्तव्य की परिणति समझता है और किसी की अंकशायिनी बनने में लक्ष्य की प्राप्ति और जीवन उद्देश्यों का अन्त। उन्होंने इस बात का प्रचार किया है कि इस देश में बिना जाने-बूझे पुरुष को पति रूप में स्वीकार कर लेना स्त्री के आत्मसम्मान का हनन करता है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि विवश होकर कोई स्त्री या तो वेश्या बनती है या पतिव्रता। यशपाल ने उस रोमाँटिक प्रेम का पर्दाफाश करने का प्रयत्न किया है, जो पूँजीवादी संस्कृति की देन है, और जिससे नारियाँ 'अनैतिकता' की राह पर अग्रसर होती हैं। यशपाल का विश्वास है कि आधुनिक पूँजीवादी समाज में प्रेम एक सौदा मात्र है। नारी एक आश्रय चाहती है, जिसे प्रेम का नाम दिया गया है। उनके अनुसार और सब चीजों की तरह जीवन में प्रेम की गति भी द्वन्द्वात्मक है। प्रेम जीवन की सफलता और सहायता के लिए है। यदि प्रेम बिल्कुल छिछला और दियला रहे तो वह असंयत वासना मात्र बन जाता है। जीवन में अड़चन के रूप में प्रेम नहीं चल सकता। नारी के लिए प्रेम का परिणाम केवल रक्त है—हृदय का रक्त अथवा शरीर का रक्त। पुरुष केवल ठोकर मारकर चला जाता है। यही उसका भाग्य है और यही उसका गौरव है। नारी की इन समस्याओं को यशपाल ने अपने समाजवादी दृष्टिकोण से सुलझाने का प्रयत्न किया है, पर प्रचारवादिता की छिछली मनोवृत्ति के कारण वह एक विद्रूप ही बन कर रह गया है। न वह पूर्ण रूप से समाजवादी दृष्टिकोण ही है, और न प्रचारवादी दृष्टिकोण ही। वह दोनों के मध्य विडम्बना मात्र बन कर रह गया है, जो बड़ा हास्यास्पद प्रतीत होता है।

यशपाल अपने समाजवादी दृष्टिकोण के आधार पर नारियों को परामर्श देते हुए कहते हैं, "पुरुषों के सन्देह और बेमतलब नाराजगी की बहुत परवाह

---

१. यशपाल: दादा कामरेड, लखनऊ, पृष्ठ ६७।

करने से या तो केवल उनके जेब के रूमाल की तरह रहो, स्वयं सोचना, अपने जीवन की बात करना छोड़ दो। या फिर उन्हें सोचने दो — अपने आप समझ जायेंगे......अब तक स्त्रियाँ रहीं हैं मर्दो के व्यक्तिगत इस्तेमाल की चीज़। यदि वे अपने व्यक्तित्व को जरा भी अलग से खड़ा करने की चेष्टा करेंगी तो उंगली तो जरूर उठेगी। लेकिन थोड़े दिन बाद नहीं।...ज़रा हिम्मत करो। पुरुषों को सहने का अभ्यास होना चाहिए कि स्त्रियाँ भी अपना व्यक्तित्व रखती हैं।"[1] कदाचित् नारियों के इसी स्वतन्त्र अस्तित्व की परिणति "देशद्रोही" में हुई है, जब अपने पति की मृत्यु का झूठा समाचार सुन कर थोड़े ही दिनों के भीतर राजदुलारी खन्ना राजनीतिक बद्रीबाबू से विवाह कर लेती है, और जब अन्त में पति राज के द्वार पर मरणासन्न अवस्था में पहुँचता है, तो राज घर में जा छिपती है। अपने पति को देखने भी नहीं आती, क्योंकि उसका कर्त्तव्य (!) उसे ऐसा करने नहीं देता। आखिर वह कर्त्तव्य कैसा था? क्या सहज मानवीय संवेदना और सहानुभूति भी कर्त्तव्य के नाम पर ठुकराई जा सकती है ? जब चिता की अग्नि भी नहीं ठन्डी हुई थी, तभी राज ने दूसरा विवाह कर लिया था, जबकि वास्तविकता यह थी कि चिता में अग्निशिखा प्रवाहित हुई ही नहीं थी, तब क्या राज के पावों कर्तव्य की बेड़ियाँ न थीं ? यशपाल के पास इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं। उनके अधिकांश नारी पात्र "प्रगतिशीलता" की दोहाई देते हैं। उन नारियों से अपने नारीत्व का "बोझ" नहीं सहा जाता, और वे उस "बोझ" को किसी भी क्षण उतार फेंकना चाहती हैं। या यह भी कि वे अपने नारीत्व पर क्षुब्ध होती रहती है, और अवसर पाते ही किसी से भी शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कर अपने जन्मदाता से जवाब-तलब करती रहती हैं।

अश्क जी का दृष्टिकोण भी समाजवादी आधार भूमि पर निर्मित हुआ है। उनके विचार से नारियाँ केवल वासना एवं हवस की सामग्री मात्र समझी जाती हैं। पति भी अपनी पत्नी को छोड़कर दूसरी नारियों के पीछे भागता रहता है। "गिरती दीवारें" (१९४७) में नायक चेतन अपनी पत्नी चन्दा को प्यार नहीं करता। क्योंकि चन्दा सुन्दर तितली नहीं है। उसका सबसे बड़ा दोष है कि वह सरल एवं अबोध है। उसमें आधुनिकता नहीं है, फैशन एवं विलासिता नहीं है। इसके विपरीत उसकी बहन सुन्दर है, फैशन परस्त है, और चेतन को अपने मोहपाश में आबद्ध किए रहती है। शादीराम भी अपनी पत्नी पर अत्याचार करता है, जब कहीं जाता है, तो बाहर से ताला लगा जाता है, और बात-बात पर अकारण सन्देह करता है। वास्तव में इसका कारण अश्क जी के अनुसार समाज की स्थिति ही थी, जो निरन्तर पतनावस्था की ओर अग्रसर हो रहा है। "भूचाल" पत्र के सम्पादक लाला जीवनलाल अपने पत्र की लोकप्रियता बढ़ाने और अतृप्त युवकों की "दबी हुई वासना की भूख मिटाने के लिए एक्ट्रेसों की दुख भरी आप बीतियाँ छापते हैं।

---

१. यशपाल : दादा कामरेड, लखनऊ, पृष्ठ १५०।

वे यूरोप के पापियों की जीवन गाथाएं, पतन के ज्वालामुखी पर खड़े यूरोप में सुन्दरियों के मुकाबले, यौवन की सामग्री कहने वाली तन्वांगियों की जीवन की कहानियां भी अपनी ओर से नमक मिर्च लगाकर अपने पत्र में निरन्तर छापते रहते।"[1] इसमें कुन्ती ,प्रकाशों, केशर, मुन्नी इसी प्रकार की नारी पात्र हैं, जो केवल पुरुष की बांहों में बंधने के लिए और उसकी वासना की शांति के लिए हैं।

रांगेय राघव का समाजवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण उनके दो उपन्यासों "मुर्दों का टीला" (१९४६), तथा "घरौंदे" (१९४१) में अभिव्यक्त हुआ है। पश्चिमी सभ्यता ने भारतीय नारियों की बड़ी दुर्गति की है। "घरौंदे" में लवंग तथा उषा ऐसी ही नारियाँ हैं। लवंग तो पतन की किसी भी सीमा तक जा सकती है। वह अपने प्रोफेसरों के हाथ अपना सतीत्व बेचती है, और अपने स्वार्थ की पूर्ति करती है। पश्चिमी सभ्यता ने नारियों का आदर्श इतना गिरा दिया है कि वे समझने लगी हैं, "प्रेम पुरुष और स्त्री के मानसिक व्यभिचार का दुष्परिणाम है, क्योंकि प्रेम की असली वेदना है, हमारे समाज की युग-युगान्तर का निषेध और जो वस्तु निवृत्ति के झूठे स्वरूप की छाया है, वह कभी भी ग्राह्य नहीं हो सकती।"[2] लीला भी अत्यधिक आधुनिक नारी के रूप में चित्रित की गई है, जो माता-पिता का अस्तित्व पाँव की जंजीरें समझती हैं। माँ कहकर नारियों का गला घोंटा गया है, वर्ना वह महाभारत में पढ़ चुकी है कि नारियाँ कभी गायों की स्वतन्त्रता का अनुभव करती हैं। इस उपन्यास की सभी नारी पात्र नारी स्वातन्त्र्य चाहती हैं। सेक्स सम्बन्धी स्वतन्त्रता चाहती हैं अपनी भावनाओं की अनियंत्रित पूर्णता चाहती हैं। "वह बोर्जुआ लड़कियाँ ! साम्राज्यवाद को वह बुरा समझती हैं, मगर रेडक्रास के फन्ड के लिए नाच गा सकती हैं चाहे वह साम्राज्यवादी युद्ध के लिए ही चन्दा क्यों न हो रहा हो। समाजवाद भी ठीक है मगर अपनी गरीबी नहीं। पार्टियों में इश्क लड़ाती हैं और सतीत्व का भयंकर पर्दा भी इन पर पड़ा रहता है। यह हिन्दुस्तान का अजीब वर्ग था, जहाँ स्त्री न पूर्व की थी, न पश्चिम की, जहाँ आजादी और गुलामी का ऐसा विचित्र सम्मेलन हुआ था कि न कोई आगे जाने की राह थी, न पीछे हटने की ही। अपने ही भीतर ऐसी कश्मकश थी कि निरुद्देश्य, दिन पर दिन समय का कुछ पुरानी की जगह नई रूढ़ियों में कट जाना आवश्यक था।"[3] यह वह नारी थी, जो पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित होकर अपनी परम्पराओं को भूलती जा रहीं थीं, और तथाकथित प्रगतिशीलता के नाम पर अपना सतीत्व, अपना धर्म, प्रेम एवं अपना यौवन सरे बाजार नीलाम कर रहीं थीं।

---

१. उपेन्द्र नाथ अश्क: गिरती दीवारें, (१९४७), इलाहाबाद, पृष्ठ ६४६।

२. रांगेय राघव : घरौंदे, (१९४१), बनारस, पृष्ठ ४५।

३. वही, पृष्ठ ६१।

इसी उपन्यास में यह भी चित्रित किया गया है कि वेश्या का जीवन भी विधवा जीवन से कुछ भिन्न नहीं हैं। नादानी वेश्या को अपना जीवन रुचिकर नहीं। वह कामेश्वर से उबारने को कहती है, पर वह ऐसा नहीं करता। रांगेय राघव के दृष्टिकोण से विवाहित नारी और वेश्या में कोई अन्तर नहीं। वेश्या एक गन्दी बरसाती नदी की भाँति है, जिसमें समाज के सभी वर्गो के पुरुष स्नान कर भी गन्दे नहीं होते, नीचे एवं पतित नहीं कहलाते। वे समाज के सभी सम्मान के पूर्ण अधिकारी होते हैं। नादानी वेश्या कहती हैं, "तुम स्त्री को दासी बनाना चाहते हो! हमारी चीख में तुम्हारा समाधान है, हमारी हँसती सिसक में तुम्हारी विजय। हम अपराध सहती हैं, स्वयं रो लेती हैं, इसीलिए कि पाप से घृणा करती हुई भी आगे आती हैं। अपराध स्वीकार करा देने पर भी किन्तु होती हैं हम ही अधिक अपराधिनी! पुरुष की भूल की भाँति नारी की भूल क्षणिक नहीं होती।"[1] सत्य तो यह है कि सामंती राज्य की नारी एक वेश्या है। घर की बेजान चीजों की स्वामिनी, जीवन्त मनुष्यों की दासी। वह आर्थिक परतन्त्रता की शृंखलाओं में जकड़ी हुई है। वह क्या जीवन है, जब अपना कोई अस्तित्व ही नहीं रहे, दूसरों के आश्रय पर साँस लेनी पड़े, जीवित रहना मात्र ही तो सब कुछ नहीं है? सतीत्व पूंजीवाद को बनाए रखने का एक ढकोसला है, रूढ़ि भरे धर्म की एक दाई है। ऐसी व्यवस्था में नारी का कोई कल्याण नहीं। वह कभी विकास नहीं कर सकती, दलदल से उबर नहीं सकती। रांगेय राघव के दृष्टिकोण से नारियों की दुर्व्यवस्था का कारण सामाजिक व्यवस्था की बागडोर पुरुषों के हाथों में रहना ही है।" अब स्त्री का दिल स्वयं इतना गुलाम है कि वह औरत को मुंह खोले नहीं देख सकती। कैनीबाल नरमांस खाकर प्रसन्न होता है, उसके सामने इससे बढ़कर सत्य ही नहीं। यही दशा स्त्री की भी है।"[2] हालांकि नारियों में यथेष्ट मात्रा में दूरदर्शिता होती है, और पुरुषों की तुलना में वे भी विषम परिस्थितियों का सामना करने में समर्थ होती हैं। "मुर्दों का टीला" (१९४६) की प्रधान नारी पात्र नीलूफर इसी का प्रमाण है। वह गुलाम लड़की है, और उसे मणिबन्ध खरीद कर विवाह का आश्वासन देता है। इसके पूर्व नीलूफर ऐश्वर्यशाली जीवन के सपने भी देखा करती थी। पर जब वह ऐसे जीवन में प्रवेश करती है, तो प्रसन्न नहीं रह पाती। उसकी आत्मा एवं मन को सन्तोष नहीं प्राप्त होता। एक नारी के जीवन में धन और ऐश्वर्य ही केवल आवश्यक नहीं है। जब तक पति का पवित्र एवं निश्छल प्रेम उसे प्राप्त न हो। अन्य सभी बातों का महत्व गौण हो जाता है। नीलूफर इसका अपवाद न थी। वह राजप्रसाद से भाग जाती है, पुरुष वेष धारण कर नागरिकों में विद्रोह फैलाती है और जब उसे विल्लिभिन्तूर नामक निर्धन चित्रकार का आश्रय मिलता है, तो वह उसे पति मान

---

१. रांगेय राघव : घरौंदे, (१९४१), बनारस, पृष्ठ २९५।

२. वही, पृष्ठ १७६।

लेती है। नीलूफर जैसे उन नारियों की प्रतिनिधि सी है, जो विवशता एवं विषमताओं के बीच भी अपना नया जीवन पथ निर्मित करना चाहती हैं, साहस नहीं खोतीं, धैर्य के साथ नए सवेरे की प्रतीक्षा करती हैं। वह साधारण नारियों की भाँति दाम्पत्य जीवन व्यतीत करना चाहती है, क्योंकि वही नारी जीवन का चरम लक्ष्य है। वह न ऐश्वर्य चाहती है, न गौरव। वह केवल विल्लीमिन्तूर के साथ साधारण रूप से रहना चाहती है। वह इससे पूर्ण रूप से संतुष्ट होती है,"अब भोर अपनी होती है। साँझ अपनी होती है। कहीं कोई हाहाकार नहीं। विवशताओं में भी हम सुखी हैं। न दासत्व न स्वामित्व। न किसी से कुछ माँगते हैं, न किसी को कुछ देते हैं। व्यापार, राज्य, अधिकार, यह सब हाहाकार की जड़ है। प्रसिद्धि मनुष्य की शान्ति की सबसे बड़ी शत्रु है, जो उसके हृदय की कोमलता का हनन करती है। उसे एक क्षण चैन से नहीं बैठने देती। हृदय की पूर्ण परितृप्ति आसक्ति और प्रेम में है, न कि दूसरों को अपने आधीन करें।"[1] स्पष्ट हैं कि नारी सम्बन्धी यह दृष्टिकोण समाजवादी भावना से ओतःप्रोत है।

राहुल सांकृत्यायन ने भी अपने उपन्यासों में समाजवादी दृष्टिकोण से भारतीयों के परम्परागत आदर्शों के चित्रण करने का प्रयत्न किया है। "सिंह सेनापति" (१९४२) में प्रधान नारी पात्र भामा में वीरोचित साहस एवं प्रबन्ध कुशलता है। मगध द्वारा वैशाली के गणराज्य पर आक्रमण की स्थिति में वह घर की चार दीवारी में नहीं रहती। वह बाहर आकर लिच्छवि नारियों की परिषद् का संगठन करती है, और उन्हें युद्ध नीतियों एवं आवश्यकता पड़ने पर अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग की विधि सिखाती है। युद्ध प्रारम्भ होने पर घायल सैनिकों का उपचार, उनकी सेवा करना, मृतकों का दाह-संस्कार करना एवं अन्य युद्ध आवश्यकताओं का भामा बखूबी निभाती है। उसमें अपूर्व वीरता, रणकौशल, साहस एवं त्याग की भावनाएं सन्निहित हैं। इसी उपन्यास की दूसरी प्रधान नारी पात्र रोहिणी भी लगभग भामा की ही भाँति नारी है। स्वर्णालंकारों को वह नारी की परवशता का प्रतीक समझती है। वह खेतों में काम करती है और परिश्रम करके पेट भरने को ही अपने जीवन का उद्देश्य समझती है। यह मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित राहुल जी का दृष्टिकोण है। स्वदेश की रक्षा के लिए अपने पति को रणक्षेत्र में भेजने और स्वयं भी भाग लेने में वह गौरव का अनुभव करती है। वह कहती है, "हम गान्धारियों के लिए वह सबसे आनन्द का समय होता है, जब हमारा प्रिय रणक्षेत्र के लाल कर्दम से सने शरीर के साथ लौटता है। जानते हो मैं अपनी सहेलियों से बड़े अभिमान के साथ तुम्हारे हाथ के उस खंग चिन्ह के बारे में कहा करती हूँ। खंग चिन्ह से बढ़कर भूषण नहीं, उससे बढ़कर गौरव का कोई चिन्ह नहीं।"[2] राहुल के दूसरे उपन्यास "जय यौधेय" (१९४४) में भी लेखक

---

१. रांगेय राघव : मुर्दों का टीला, (१९४६), पृष्ठ २६९।
२. राहुल सांकृत्यायन : सिंह सेनापति, (१९४२), इलाहाबाद, पृष्ठ ४७।

के इसी आदर्श का चित्रण हुआ है। वसुनन्दा की वीरता साहस, धैर्यशीलता एवं दूरदर्शिता भारतीय नारियों की गौरवशाली परम्पराओं को पुनः सजीव करने के लिए ही चित्रित की गई है। राहुल नारियों की हीनावस्था के पीछे इस पुरुष वर्ग को ही उत्तरदायी समझते हैं। यह पुरुष ही नारियों को अपनी वासना एवं हवस की शान्ति के लिए साधन बनाता है, और अनेक प्रकार के पापाचरण कर उन्हें पथभ्रष्ट करता है। "आज की नारी जो कुछ है उसके बनाने में पुरुष का ही हाथ है, नारी के लिए कोई और नहीं, यही पुरुष विधाता है।"[१] राहुल के इस दृष्टिकोण में पर्याप्त सत्यता है। वस्तुतः नारियों को अपनी हीनावस्था से उबरने के लिए स्वयं ही सूत-संकल्प होना पड़ेगा। कोई वाह्य शक्ति उनकी स्थिति में परिवर्तन नहीं ला सकती। राहुल अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष में हैं, क्योंकि प्रेम की पवित्रता एवं उसके आदर्श के प्रति वे आस्थावान् हैं। प्रेम की सबसे बड़ी परीक्षा उसका निर्वाह ही है। यही उनकी दृष्टि से प्रेम की पवित्रता भी है, चाहे विवाहपूर्ण ही कोई नारी गर्भवती क्यों न हो जाए। "जीने के लिए" (१६३६) में जैनी आक्सफोर्ड के प्रोफेसर की पुत्री है, और देवराज नामक भारतीय युवक से प्रेम करती है। जेनी विवाह पूर्व ही गर्भवती हो जाती है, पर जेनी इससे विचलित नहीं होती। वह इसे अपने प्रेमी का उपहार समझ कर पालती है।[२] जेनी स्वभाव की उदार एवं मृदुभाषिणी है। प्रेम ही जीवन है। माँ बनने के पूर्व वह देवराज को ही अपना सारा प्रेम समर्पित करती है, किन्तु संतानोत्पत्ति होने के पश्चात् वह दोनों को समान रूप से प्रेम करती है, और अपने पुत्र को पढ़ाती-लिखाती है, आगे बढ़ने को प्रेरणा देती है।

व्यक्तिवादी परिकल्पना संबंधी दृष्टिकोण

उत्तर प्रेमचन्द काल में हिन्दी उपन्यासकारों में पश्चिमी उपन्यासकारों के दृष्टिकोण के आधार पर व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था। सभी में मौलिक होने की प्रवृत्ति का प्राधान्य होने लगा था[३], और वे सभी अपनी-अपनी व्यक्तिगत विचारधारा समाज की प्रत्येक समस्याओं पर अभिव्यक्ति करने लगे थे। चाहे प्रेम की समस्या हो, विधवा, या वेश्या समस्या हो, जीवन जीने की समस्या

---

१. राहुल सांस्कृत्यायन : जय यौधेय, (१६४४), इलाहाबाद, पृष्ठ २२८।

२. राहुल सांकृत्यायन : जीने के लिए, (१६३६), छपरा, पृष्ठ २०२।

३. "It has become so easy and so natural a thing to express one's own originality to one self, and to draw up a programme that all beginners are or to want to be original, all are leaders of some school or other; the result is that there is no longer any real school."

—लुई केजामियाँ : ए स्टडी ऑव इंगलिश लिट्रेचर, (१६५०) लन्दन, पृष्ठ ३८७।

हो, विवाह की समस्या हो, या विवाहित जीवन में प्रेम एवं कर्तव्य के निर्वाह की समस्या हो, उनका व्यक्तिवादी दृष्टिकोण ही विकसित हो रहा था। वे व्यक्ति को समाज से अलग कर उसके व्यक्तिगत विकास एवं व्यक्तिवादी विचारधारा जैसी बातें अपने उपन्यासों में चित्रित करने लगे। विदेशों में इस प्रवृत्ति की शीघ्र ही तीखी प्रतिक्रिया हुई और इस धारणा का कि व्यक्ति समाज का एक महत्वपूर्ण अंग है, वह एक प्रकार से समाज के नियमों का पालन करता है, और उस पर आश्रित रहता है, पुनः विश्लेषण कार्य नए सिरे से प्रारम्भ हुआ।[1] यद्यपि डेविड ह्यूम ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "ट्रीटाइज आव ह्यूमन नेचर" (१७३९) में इसको बड़ा बेतुका और अनुपयोगी सिद्ध करने की चेष्टा की है, पर व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का विकास धीरे-धीरे होता रहा। हिन्दी में इस प्रवृत्ति को प्रश्रय देकर अनेक उपन्यासकारों ने अपने नारी पात्रों की परिकल्पना की, और समाज की चिर-प्रचलित मान्यताओं को ठुकरा कर व्यक्तिवादी ढंग से उनका चारित्रिक विकास चित्रित किया। पूर्व प्रेमचन्द काल में इस दृष्टिकोण के विकसित न होने का कारण यही है, क्योंकि इस युग के लेखकों ने इसकी कल्पना ही नहीं की थी कि समाज से भी अलग किसी व्यक्ति की सत्ता हो सकती है। वे अपनी नायिकाओं एवं अन्य नारी पात्रों को समाज से संबंधित करके ही उनका चित्रण करने का प्रयत्न करते थे। इस युग की नायिकाओं एवं नारी पात्रों का स्वरूप समाज एवं परिवार तक ही सामान्यतः सीमित था, इससे भिन्न उनकी कोई सत्ता न थी। प्रेमचन्द और उनके सहयोगी भी व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता और समाज की तुलना में उसके अत्यधिक महत्व में विश्वास नहीं रखते थे।

भगवती प्रसाद वाजपेयी ने अपने कुछ उपन्यासों में नारी समस्याओं पर विचार किया है, जिनसे उनके व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है, "पतिता की साधना" (१९३६) में उन्होंने मुख्य रूप से विधवा समस्या एवं विधवा के जीवन निर्वाह के आर्थिक प्रश्न को उठाया है। उनके दृष्टिकोण से विधवा समस्या समाज का एक भीषण अभिशाप है, और यदि उसका निराकरण न किया गया, तो निश्चय ही यह सारी व्यवस्था नष्ट हो जायेगी। नन्दा बाल-विधवा है। उसका जीवन अभिशापों से ग्रस्त है। उसे कभी सुख नहीं मिला। असन्तोष एवं दारुण दुःख की भीषण ज्वाला उसके मन में भीतर ही भीतर सुलगती रहती है। वह कहती है, "कौन कहता है तुम विधवा हो? कौन कहता है तुम्हारा विवाह हुआ था, या तुमने पति नाम की किसी वस्तु का प्राप्त किया था? वह तो एक खेल था। पुरुषों का नहीं, बच्चों का भी नहीं, उस अन्धे समाज का, हिन्दू जाति की अधोगति के कंगाल का, जिसे नष्ट होना है, जिसका नाश ही अभीष्ट है।"[2] नन्दा समाज एवं उसके नियमों को ठुकरा देती है। उसका स्थान न मायके में है, न पिता के घर। पिता की

---

१. इग्रान वॉट : द राइज़ ऑव द नॉवेल, (१९५७), लन्दन, पृष्ठ ९३।
२. भगवतीप्रसाद वाजपेयी : पतिता की साधना, (१९३६), इलाहाबाद, पृष्ठ १९९।

मृत्यु के पश्चात् उसके दोनों भाई नन्दा को अपने ऊपर भार समझते है। यहीं प्रश्न उठता है कि विधवा नारी अपना यह जीवन कैसे जीए ? अपनी आर्थिक परतन्त्रता की शृंखलाओं को वह कैसे तोड़ फेंके ? नन्दा की विवशता का लाभ उठाकर हरिनाम उससे शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, जिससे वह गर्भवती हो जाती है। अन्त में यह समाज ही, उसे माया नाम की वेश्या बना देता है। इस सारी प्रक्रिया में नन्दा का अगर कोई दोष था, तो इतना ही कि वह मरना न चाहती थी। आत्महत्या करके अपना जीवन समाप्त नहीं करना चाहती थी। और नन्दा जैसी नारियाँ एक दो तो हैं नहीं कि उनके आत्महत्या कर लेने से समस्या समाप्त हो जाए ? "—हिन्दू समाज की विधवा नारी जीवित होकर भी मृत्तिका है, पाषाण है। शिलाखण्ड की भाँति उसे शब्दहीन, गतिहीन, निस्पन्द, निश्चल और निश्चेष्ट होकर रहना पड़ता है। जगत भर के लिए वर्षा और वसंत, कोयल और मोर, पुष्प और सौरभ, भ्रमर और तितली, ध्वनि और राग, सरोवर और हंस, कपोत और कपोती, हास और क्रीड़ा सभी जागृत और उत्फुल्ल है, किन्तु एक विधवा प्राण, देह, श्वास, रक्त, काँक्षा और विकास रहते हुए भी इन सबसे हीन है, सर्वथा रहित। क्योंकि संयम-नियम, आदर्श-उपासना, तपस्या, साधना, त्याग और बलिदान आदि हिन्दू संस्कृति के गर्व तथा गौरव की जितनी भी दिगंतव्यापी ध्वजाएं हैं, सबकी सब उसी के भाग्य में पड़ी हैं।[1]" अन्त में दर-दर की ठोकरें खाने और अनेक दारुण दुःख सहने के पश्चात् नन्दा की साधना सफल होती है, और वह हरिनाम से विवाह कर लेती है।

वाजपेयी जी आज की तथाकथित प्रगतिशीलता एवं फैशन परस्ती के तीव्र विरोधी हैं। वे समझते हैं, नारियों का क्षेत्र तप एवं संयम का है, गृहस्थी संचालन का हैं, पत्नीत्व का है, फैशन एवं विलास का है। 'नारियों के लिए विवाह ही श्रेष्ठ व्यवस्था है। "निमंत्रण" (१६४२) में गिरिधारी कहता है, "मैं यह नहीं कहता कि विवाह प्रेम की आदर्श कल्पना है। किन्तु समाज के निर्माण के लिए जब तक विवाह से उत्तम दूसरी कोई आदर्श कल्पना भी तो स्थिर नहीं हुई है।"[2] मालती आधुनिक सभ्यता में पालित-पोषित युवती है। अपने कार्यों में, अपने प्रयासों पर उसे पूर्ण विश्वास है। वह समाज का कोई अस्तित्व अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण के सम्मुख नहीं मानती। जो लोग नियतिवाद में विश्वास रखते हैं, उनसे उसे घृणा है। उसकी स्वच्छन्दता को परिवार वाले शंका की दृष्टि से देखते हैं, पर वह प्रतिवाद करते हुए कहती है, "मैं आजाद हूँ—मैं पुरुषों के बीच रहती हूँ—उनसे स्वतन्त्रतापूर्वक मिलती हूँ। बस इसीलिए मैं चरित्रहीन हूँ ? और घरों के अन्दर सीता और सावित्री जैसी सती, शकुन्तला और उर्वशी जैसी सुन्दर स्त्रियों को पालते हुए भी जो लोग

---

१. भगवती प्रसाद वाजपेयी : पतिता की साधना, (१६३६), इलाहाबाद, पृ० २५२।
२. भगवती प्रसाद वाजपेयी : निमंत्रण, (१६४२), इलाहाबाद, पृ० ३०७-३०८।

केप्ट प्रास्टीच्यूट् (रखेल वेश्या) रखते हैं, वे क्या हैं।"[1] वास्तव में यह व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से परिवर्तित परिस्थितियों की नारी का ही चित्रण है, जिसे वाजपेयी जी का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण नियंत्रित न कर सका। अपनी इसी स्वतन्त्रता के मद में मालती विवाह न करने का निश्चय करता है। वह विवाह से घृणा करती है, क्योंकि विवाह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन करती है। वह एक पत्र सम्पादक शर्माजी से प्रेम करती है, जो विवाहित हैं, और एक साड़ी मात्र पहन कर रात्रि के सन्नाटे में अकेले ही शर्माजी के मारे जाने से नहीं हिचकतीं। मालती जीवन में विभिन्न प्रयोग चाहती है। वह एक मित्र की भाँति जीवन निर्वाह करने का तथा विवाह प्रथा को तोड़-फोड़ डालने का प्रयत्न करती है, पर असफल रहती है। इसका कारण स्पष्ट था। वह आदर्श की उन ऊंचाइयों को नहीं स्पर्श कर सकी, जो आवश्यक थीं। नारी की पूर्णता वैवाहिक जीवन में है, मित्र बनकर रहने में नहीं। नारी की पूर्णता कर्तव्य पालन, उत्तरदायित्व वहन करने और त्याग करने में है, सिर्फ प्रेम में ही नारी की पूर्णता नहीं। मालती जीवन पर्यन्त इसे नहीं समझ सकी, इसीलिए असफल हुई।

वाजपेयी जी के अनुसार विवाह नारियों के मन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता, उन्हें मात्र कर्तव्य एवं दायित्व की शृंखलाओं में बाँध सकता है। "पिपासा" (१९३७) में शकुन्तला और नरेन्द्र के विवाहित जीवन में कमलनयन के प्रवेश से संघर्ष उत्पन्न होता है। कर्तव्य शकुन्तला को बाध्य करता है कि वह पति से विश्वासघात न करे, पर मन उसे अपने प्रेमी की ओर खींचता है। अन्त में शकुन्तला पति से सन्देह और आत्मपीड़ा से तिल तिलकर आत्महत्या कर लेती है। यहाँ एक विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न होती है। लेखक के अनुसार "नारी के लिए पर-पुरुष एक अपदार्थ है। वह उसके लिए अस्तित्वहीन है, वह कुछ भी नहीं है। किन्तु यह बात उस युग की है, जब नारी अपने गृह और कुटुम्ब तक ही सीमित थी। किन्तु अब तो नारी वैसी सीमित नहीं है। तब नारी व्यक्ति से मुक्त थी, अब वह समाज का अंग हो रही है। अब तो समाज में आत्मसात् होकर उसे रहना है। अब पर-पुरुष से दूर रहना तो दूर की बात है, उसे उससे मिलना होगा, उसमें लिप्त होना पड़ेगा और जीवन संघर्ष में उनसे भिड़ना भी पड़ेगा। यहाँ तक कि आवश्यकतानुसार उन्हें मित्र या शत्रु भी बनाना होगा।[2] अन्त में शकुन्तला आत्महत्या कर लेती है। इस प्रकार उन्होंने प्रेम पीड़ा और कष्ट सहन में विश्वास प्रकट कर प्रेम में सत्यान्वेषण करने का प्रयत्न किया है।[3]

---

१. भगवती प्रसाद वाजपेयी : निमंत्रण, (१९४२), इलाहाबाद, पृ० २९।

२. भगवती प्रसाद वाजपेयी : पिपासा, (१९३७), इलाहाबाद, पृष्ठ १०९।

३. 'मैं सत्य की सुन्दरता का पुजारी हूँ। पुरुष और स्त्री में परस्पर आकर्षण ही प्रेम के स्वरूप को निर्धारित करता है। प्रेम कभी विकृत नहीं होता, वह सदैव एकरस रहता है।"
—भगवती प्रसाद वाजपेयी

"तीन वर्ष" (१९३०) में भगवतीचरण वर्मा का व्यक्तिवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण विकसित हुआ है। इसमें वेश्याओं को उन्होंने भद्र समाज की नारियों की तुलना में श्रेष्ठ और गरिमामयी माना है। प्रभा भद्र समाज की युवती है, और सरोज एक वेश्या। इन दोनों के तुलनात्मक अध्ययन में उन्होंने सरोज के चरित्र को अधिक गरिमा प्रदान की है। अज्ञेय का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण पूर्णतया व्यक्तिवादी है। वे प्रेम की पूर्णता के मध्य नाते-रिश्ते कुछ भी स्वीकार नहीं करते। प्रधान नारी पात्र शशि रिश्ते में शेखर की बहन लगती है, पर उससे वासनात्मक प्रेम करती है, पतिव्रत धर्म का खण्डन करती है, और शेखर के जीवन निर्माण की प्रक्रिया के बहाने स्वयं टूट कर बिखर जाती है। शशि उसी की समव्यस्क है, किन्तु उसमें गहरा विवेक, प्रशान्त संवेदना एवं विशद ज्ञान-प्रज्ञा है। वह अपने पति का घर छोड़ शेखर की भावना की पूर्ति के लिए उसके घर चली जाती है, और शेखर के पूछने पर कहती है, "......स्त्री हमेशा से अपने को मिटाती आई है। ज्ञान सब उसमें संचित है, जैसे धरती में चेतना संचित है। पर बीज अंकुरित होता है, तो धरती को फोड़कर, धरती अपने आप नहीं फूलती-फलती। मेरी भूल हो सकती है, पर मैं इसमें अपमान नहीं समझती, कि सम्पूर्णता की ओर पुरुष की प्रगति में स्त्री माध्यम है—और वही एक माध्यम है। धरती धरती ही है, पर वह भी समान स्रष्टा है, क्या हुआ अगर उसके लिए सृजन पुलक और उन्माद नहीं; क्लेश और वेदना है।"[1] यह भावना और कुछ नहीं मातृत्व की महती भावना का ही दूसरा प्रतिरूप है। अज्ञेय का यह दृष्टिकोण प्रेमचन्द के उस दृष्टिकोण से पर्याप्त साम्य रखता है कि नारी केवल माँ है, और कुछ नहीं। वह जो कुछ करती है, मातृत्व का उपक्रम मात्र है। माँ भी तो सब कुछ मिटाती है, पर प्रेमचन्द ने उसे सर्वजनीन रूप से अभिव्यक्त किया है, जबकि अज्ञेय ने व्यक्तिवादी ढंग से। शशि अपने प्रेम को पाप नहीं समझती। क्योंकि "......कोई स्त्री प्यार नहीं जानती जो एक साथ ही बहिन, स्त्री, और माँ का प्यार नहीं देना जानती—और मैं लौट कर इसलिए जी सकूँगी कि माँ की तरह तुम्हें पाल सकूँगी—तुम नहीं जानते कि यह विश्वास मेरे लिए कितना आवश्यक है—अब और भी अधिक!...मैं ज़रूर जी लूँगी। जीवन वह कीड़े का होगा, पर नारी अग्निकीट हो सकती है, जिसके देह में निरन्तर आग जलती है।......"[2] शशि के प्रेम का आदर्श यही है। वह अपने पति को ठुकरा कर अपने प्रेमी एवं भाई शेखर की बाहों में ही मृत्यु का आलिंगन करना चाहती है।[3] अज्ञेय इस असामाजिक एवं अटूट प्रेम के प्रति पाठकों की सारी

१. अज्ञेय, शेखर : एक जीवनी, (प्रथम भाग : १९४१), बनारस, पृष्ठ २१८।
२. अज्ञेय, शेखर : एक जीवनी, (प्रथम भाग : १९४१), बनारस, पृष्ठ २२३।
३. "I want to die while you love me
While yet you hold me fair."
—वही, पृष्ठ ३४१।

सहानुभूति पूर्ण संवेदनाओं को समेट लेना चाहते हैं। उसके पतिव्रत धर्म के खण्डन को वे मानव जीवन का अलौकिक चमत्कार एवं उन्मेष मानते हैं। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का चरम रूप अंचल कृत "चढ़ती धूप" में प्राप्त होता है। भारतीय व्यवस्था में विवाह के पश्चात् पति ही नारी का ईश्वर होता है, उसकी भावनाओं एवं कल्पनाओं का प्रतिबिम्ब होता है। पर अंचल ने इसे अस्वीकृत कर दिया। नारी स्वातन्त्र्य के नाम पर उनकी नायिका ममता अपने पति से न बात करती है, न साथ सोती है, केवल अपने प्रेमी के सपने देखती है। वह तो अपने पति से यहाँ तक कहती है, कि उसका प्रेमी अब भी चाहे तो वेश्यावृत्ति करा सकता है।[1] वस्तुतः अंचल पूर्णतया व्यक्तिवादी उपन्यासकार हैं। उनके अनुसार आज की नारी पर जो अत्याचार हो रहे हैं, और फलस्वरूप उसकी जो शोचनीय स्थिति हो गई है, वह बहुत दिनों तक वर्तमान नहीं रहेगी, उसमें परिवर्तन होगा, और नारी पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो जाएगी। वे कहते हैं, "नारी स्वतन्त्रता से मेरा मतलब है नारी के स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व की मान्यता। उसकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति की सुरक्षित मर्यादा, उसे आत्मनिर्णय का अधिकार। साथ ही उसके प्रति एक उदार, आदरपूर्ण, शुचितामय, दृष्टिकोण, जो अधिक स्वस्थ, संयत और मानवीय हो। उसे केवल विलास या सौन्दर्य की गुड़िया न समझ कर एक संवेदनशील आत्मा का दरजा दिया जाय।"[2] अंचल की इस स्वतन्त्रता में विवाह संस्था के प्रति भी विद्रोह है। वे नारी के सेक्स सम्बन्धी स्वतन्त्रता की मांग करते हैं, और अपनी नारियों में विद्रोह का स्वर फूंकते हुए कहते हैं, "जो समाज व्यवस्था मेरी इच्छा के प्रतिकूल मुझे एक खास पुरुष के साथ रहने के लिए और जीवन बिताने के लिए विवश करती है उस व्यवस्था का, उस नैतिकता का मेरे निकट क्या मूल्य है? वह मेरे व्यक्ति का दमन है—मेरी सत्ता का संहार है—मेरी आत्मा की अस्वीकृति है। मैं ऐसी व्यवस्था को नष्ट करने में अपना सारा बल लगाऊँगी।"[3] "नई इमारत" में प्रेमी की मृत्यु के पश्चात् प्रतिमा रोती चिल्लाती नहीं, वरन् अपना कर्त्तव्य पथ पहचान कर अपने प्रेमी द्वारा छोड़े गए अधूरे कार्यों को पूर्ण करने हेतु स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लेती है, और अपने प्राणों का बलिदान करती है। इसी उपन्यास की दूसरी नारी पात्र आरती भी आदर्श प्रेमिका है। वह महमूद से प्रेम करती है, और विवाह करना चाहती है। माता-पिता क्रुद्ध होकर उसे घर से बाहर नहीं निकलने देते, तो वह सारे वैभव एवं विलास को ठुकरा कर निकल पड़ती है। शमीम बाल विधवा होने पर भी पुनर्विवाह की बात नहीं सोचती। वह सारा जीवन सेवा कार्यों के लिए समर्पित कर देती है।

१. विशेष विवरण के लिए देखिए: अध्याय ७।

२. अंचल : चढ़ती धूप, (१९४५), इलाहाबाद, पृष्ठ १५७।

३. अंचल : चढ़ती धूप, (१९४५), इलाहाबाद, पृष्ठ १५८।

मनोविश्लेषणवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण

मनोविश्लेषणवादी विचारधारा, जैसा कि उसके अनुयायियों का कहना है, मानव जन्म के पूर्व ही प्रारम्भ होती है, मृत्यु पर्यन्त चलती रहती है, यहाँ तक कि मानव का अवचेतन मन भी सदैव ही क्रियाशील रहता है। यह दृष्टिकोण हमारे सोने की अवस्था एवं स्वप्नों से भी सम्बन्ध रखता है,[1] और जो एक दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन में प्रत्यक्ष रूप से करता है, वही एक गुण सम्पन्न अपने स्वप्नों में या सोते समय करता या सोचता है।[2] ऐसी स्थिति में फ्रायड ने स्वप्नों का मानव जीवन में अत्यधिक महत्व स्वीकार किया है। मनोविज्ञान की इन मनोविश्लेषणवादी धारणाओं पर अपने दृष्टिकोण को आधारित कर उत्तर प्रेमचन्द काल में अनेक उपन्यासकारों ने अपनी नायिकाओं एवं नारी पात्रों की परिकल्पना की है, एवं उनके चरित्र का मनोविश्लेषणवादी विकास चित्रित किया है।

जैनेन्द्रकुमार सामाजिक नहीं, मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं। मनोविज्ञान एवं अपने पात्रों के अन्तरजगत के सूक्ष्म विश्लेषण के प्रति उनका जितना ध्यान रहता है, सामाजिक समस्याओं के प्रति उतना नहीं। उनके पात्र समाज में रहते हुए भी वैयक्तिक रहते हैं। उनकी अधिकांश नायिकाएं प्रेमी और पति, प्रेम और कर्त्तव्य के मध्य संघर्ष करती हैं। वे पर-पुरुष से प्रेम करने के वावजूद भी अपने पति में किसी प्रकार का संघर्ष उत्पन्न करने में असफल रहती हैं। यह संघर्ष चाहे आन्तरिक हो, या वाह्य। प्रायः पति अपने को वातावरण के अनुकूल वना लेते हैं। उनकी सभी नायिकाओं में वाह्य संघर्ष कुछ भी नहीं है। उनके सम्मुख लगता है यह जीवन, समाज और लोक कुछ भी नहीं है। जो कुछ है, मात्र उनकी चेतना और अन्तर का संघर्ष है। और वह अन्तर का संघर्ष भी क्या है? एक ओर प्रेमी हैं, दूसरी ओर पति हैं। दोनों के बीच वे संघर्परत रहती हैं। उनकी चेतना उन्हें पति के प्रति विश्वासघात नहीं करने देती, वे आर्य धर्म से च्युत नहीं होना चाहती। निरन्तर सतीत्व धर्म का पालन करते हुए उचित अर्थों में भारतीय नारी वनना चाहती हैं। पर मन उन्हें अपने प्रेमियों से विमुख नहीं होने देता। वस इसी संघर्ष के वीच ही उनकी अधिकांश नायिकाएं कल्पित हुई हैं। जैनेन्द्रकुमार की अधिकांश नायिकाओं में विवेक यौन भावना एवं "सेक्स" की प्रवृत्यात्मक उत्तेजना के समक्ष

---

१. देखिए : अध्याय ४।

२. "For Freud, citing Plato's "Republic" to the effect that the virtuous man "contents himself with dreaming that which the wicked man does in actual life," presents the dream as evidence, not alone of the existence of the unconscious mind, but of the major importance of that mind to the whole life of man."
—ऑस्कर कार्गिल, इन्टलेक्चुअल अमेरिका, आयडियाज ऑन द मार्च, (१९५९), न्यूयार्क, पृष्ठ ६०४।

सहानुभूति पूर्ण संवेदनाओं को समेट लेना चाहते हैं। उसके पतिव्रत धर्म के खण्डन को वे मानव जीवन का अलौकिक चमत्कार एवं उन्मेष मानते हैं। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का चरम रूप अंचल कृत "चढ़ती धूप" में प्राप्त होता है। भारतीय व्यवस्था में विवाह के पश्चात् पति ही नारी का ईश्वर होता है, उसकी भावनाओं एवं कल्पनाओं का प्रतिबिम्ब होता है। पर अंचल ने इसे अस्वीकृत कर दिया। नारी स्वातन्त्र्य के नाम पर उनकी नायिका ममता अपने पति से न बात करती है, न साथ सोती है, केवल अपने प्रेमी के सपने देखती है। वह तो अपने पति से यहाँ तक कहती है, कि उसका प्रेमी अब भी चाहे तो वेश्यावृत्ति करा सकता है।[1] वस्तुतः अंचल पूर्णतया व्यक्तिवादी उपन्यासकार हैं। उनके अनुसार आज की नारी पर जो अत्याचार हो रहे हैं, और फलस्वरूप उसकी जो शोचनीय स्थिति हो गई है, वह बहुत दिनों तक वर्तमान नहीं रहेगी, उसमें परिवर्तन होगा, और नारी पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो जाएगी। वे कहते हैं, "नारी स्वतन्त्रता से मेरा मतलब है नारी के स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व की मान्यता। उसकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति की सुरक्षित मर्यादा, उसे आत्मनिर्णय का अधिकार। साथ ही उसके प्रति एक उदार, आदरपूर्ण, शुचितामय, दृष्टिकोण, जो अधिक स्वस्थ, संयत और मानवीय हो। उसे केवल विलास या सौन्दर्य की गुड़िया न समझ कर एक संवेदनशील आत्मा का दरजा दिया जाय।"[2] अंचल की इस स्वतन्त्रता में विवाह संस्था के प्रति भी विद्रोह है। वे नारी के सेक्स सम्बन्धी स्वतन्त्रता की माँग करते हैं, और अपनी नारियों में विद्रोह का स्वर फूंकते हुए कहते हैं, "जो समाज व्यवस्था मेरी इच्छा के प्रतिकूल मुझे एक खास पुरुष के साथ रहने के लिए और जीवन बिताने के लिए विवश करती है उस व्यवस्था का, उस नैतिकता का मेरे निकट क्या मूल्य है? यह मेरे व्यक्ति का दमन है—मेरी सत्ता का संहार है—मेरी आत्मा की अस्वीकृति है। मैं ऐसी व्यवस्था को नष्ट करने में अपना सारा बल लगाऊँगी।"[3] "नई इमारत" में प्रेमी की मृत्यु के पश्चात् प्रतिमा रोती चिल्लाती नहीं, वरन् अपना कर्त्तव्य पथ पहचान कर अपने प्रेमी द्वारा छोड़े गए अधूरे कार्यों को पूर्ण करने हेतु स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लेती है, और अपने प्राणों का बलिदान करती है। इसी उपन्यास की दूसरी नारी पात्र आरती भी आदर्श प्रेमिका है। वह महमूद से प्रेम करती है, और विवाह करना चाहती है। माता-पिता क्रुद्ध होकर उसे घर से बाहर नहीं निकलने देते, तो वह सारे वैभव एवं विलास को ठुकरा कर निकल पड़ती है। शर्मीम बाल विधवा होने पर भी पुनर्विवाह की बात नहीं सोचती। वह सारा जीवन सेवा कार्यों के लिए समर्पित कर देती है।

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए : अध्याय ७।

२. अंचल : चढ़ती धूप, (१९४५), इलाहाबाद, पृष्ठ १५७।

३. अंचल : चढ़ती धूप, (१९४५), इलाहाबाद, पृष्ठ १५८।

मनोविश्लेषणवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण

मनोविश्लेषणवादी विचारधारा, जैसा कि उसके अनुयायियों का कहना है, मानव जन्म के पूर्व ही प्रारम्भ होती है, मृत्यु पर्यन्त चलती रहती है, यहाँ तक कि मानव का अवचेतन मन भी सदैव ही क्रियाशील रहता है। यह दृष्टिकोण हमारे सोने की अवस्था एवं स्वप्नों से भी सम्बन्ध रखता है,[1] और जो एक दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन में प्रत्यक्ष रूप से करता है, वही एक गुण सम्पन्न अपने स्वप्नों में या सोते समय करता या सोचता है।[2] ऐसी स्थिति में फ्रायड ने स्वप्नों का मानव जीवन में अत्यधिक महत्व स्वीकार किया है। मनोविज्ञान की इन मनोविश्लेषणवादी धारणाओं पर अपने दृष्टिकोण को आधारित कर उत्तर प्रेमचन्द काल में अनेक उपन्यासकारों ने अपनी नायिकाओं एवं नारी पात्रों की परिकल्पना की है, एवं उनके चरित्र का मनोविश्लेषणवादी विकास चित्रित किया है।

जैनेन्द्रकुमार सामाजिक नहीं, मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं। मनोविज्ञान एवं अपने पात्रों के अन्तरजगत के सूक्ष्म विश्लेषण के प्रति उनका जितना ध्यान रहता है, सामाजिक समस्याओं के प्रति उतना नहीं। उनके पात्र समाज में रहते हुए भी वैयक्तिक रहते हैं। उनकी अधिकांश नायिकाएं प्रेमी और पति, प्रेम और कर्त्तव्य के मध्य संघर्ष करती हैं। वे पर-पुरुष से प्रेम करने के बावजूद भी अपने पति में किसी प्रकार का संघर्ष उत्पन्न करने में असफल रहती हैं। यह संघर्ष चाहे आन्तरिक हो, या वाह्य। प्रायः पति अपने को वातावरण के अनुकूल बना लेते हैं। उनकी सभी नायिकाओं में वाह्य संघर्ष कुछ भी नहीं है। उनके सम्मुख लगता है यह जीवन, समाज और लोक कुछ भी नहीं है। जो कुछ है, मात्र उनकी चेतना और अन्तर का संघर्ष है। और वह अन्तर का संघर्ष भी क्या है? एक ओर प्रेमी हैं, दूसरी ओर पति हैं। दोनों के बीच वे संघर्षरत रहती हैं। उनकी चेतना उन्हें पति के प्रति विश्वासघात नहीं करने देती, वे आर्य धर्म से च्युत नहीं होना चाहती। निरन्तर सतीत्व धर्म का पालन करते हुए उचित अर्थों में भारतीय नारी बनना चाहती हैं। पर मन उन्हें अपने प्रेमियों से विमुख नहीं होने देता। बस इसी संघर्ष के बीच ही उनकी अधिकांश नायिकाएं कल्पित हुई हैं। जैनेन्द्रकुमार की अधिकांश नायिकाओं में विवेक यौन भावना एवं "सेक्स" की प्रवृत्यात्मक उत्तेजना के समक्ष

---

१. देखिए : अध्याय ४।

२. "For Freud, citing Plato's "Republic" to the effect that the virtuous man "contents himself with dreaming that which the wicked man does in actual life," presents the dream as evidence, not alone of the existence of the unconscious mind, but of the major importance of that mind to the whole life of man."
—ऑस्कर कार्गिल, इन्टलेक्चुअल अमेरिका, आयडियाज़ ऑन द मार्च, (१९५९), न्यूयार्क, पृष्ठ ६०४।

पराजित होता है। उन्हें किसी दूसरे को समर्पण करने में उनका अहं चूर-चूर होता है, और यही जैनेन्द्रकुमार को अभिष्ठ भी रहता है। वे नारियों में उनके व्यक्तिगत अहं को कोई महत्व नहीं देते, क्योंकि कोई भी एकाकी नहीं है, और किसी का कोई अलग स्वत्व नहीं है। एक से दो होने की अपेक्षा, आवश्यकता मनुष्य के भीतर व्याप्त है। उनकी अधिकांश नायिकाएं पढ़ी लिखी हैं, यहाँ तक कि गाँव की अपढ़ कट्टो भी सत्यधन से पढ़ना प्रारम्भ कर देती है। वे नारी शिक्षा के जबर्दस्त हिमायती हैं। उनकी सभी नारियाँ आधुनिक सभ्यता की नारियाँ हैं। उनके जीवन में प्रगतिशीलता है। पर वह प्रगतिशीलता आज की तथाकथित "प्रगतिशीलता" (जिस शब्द से हमें आज के प्रगतिवादी(!) आलोचक परिचित कराते हैं) से पूर्णतया भिन्न है। वे सभी नारियां अपनी प्राचीन परम्पराओं एवं गौरवशाली मर्यादाओं का परित्याग नहीं करतीं और न रूढ़िवादिता को ही आत्मसात करती हैं। वे उपयोगी परम्पराओं एवं मर्यादाओं का नवीनताओं के साथ समन्वय कर आर्य-धर्म निवाहने का प्रयत्न करती है। सुनीता[1], कट्टो[2], कल्याणी[3] और मृणाल[4] इसी प्रकार की नायिकाएं हैं, जिनके अन्तर्द्वन्द्वों के प्रकाशन से नारियों की मनःस्थिति समझने एवं उनकी चित्तवृत्तियों के प्रकाशन में बड़ी सहायता प्राप्त होती है।

इलाचन्द्र जोशी ने भी मनोविश्लेपणवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण के आधार पर अपनी नायिकाओं एवं नारी पात्रों की परिकल्पना की है। उनके उपन्यासों में चित्रित नारी पात्र दो प्रकार के हैं। एक वर्ग उन नारी पात्रों का है जो सहनशीला हैं, सहिष्णु हैं। आत्मपीड़न में विश्वास करती हैं। वे पुरुषों के प्रत्येक अत्याचार को सहती चलती हैं। उनमें विद्रोह नहीं है। "सन्यासी" में जयन्ती और "पर्दे की रानी" में शीला इसी वर्ग की हैं। दूसरा वर्ग ऐसा होता है, जो यह अत्याचार किसी भी रूप में सहन करने को तत्पर नहीं है। उनमें विद्रोह है, शक्ति है, और संघर्ष की प्रवृति है। वे पुरुष के शोपण, अराजकता, स्वेच्छाचारिता, अत्याचार एवं अहं तथा काम पिपासा का विरोध करती हैं, और अपने अस्तित्व को बनाए रखने का बराबर प्रयत्न करती हैं। "सन्यासी" की शान्ति, "प्रेत और छाया" की मंजरी इसी वर्ग की है। जोशी जी का मनोविश्लेपणवादी परिकल्पना पर आधारित नारी सम्बन्धी यह दृष्टिकोण स्वेच्छाचारी पुरुष वर्ग तथा पूंजीपति वर्ग दोनों के शोपण के विरुद्ध तीव्र विरोध की भावना पर आधारित है। उनके अधिकांश नारी पात्र सुशिक्षित हैं, और आधुनिक सभ्यता एवं संस्कृति में पालित-पोपित हैं।

"पर्दे की रानी" की शीला में उन्होंने परम्परागत नारी का रूप चित्रित किया है। वह सारे अत्याचार सहन कर भी अपने पति का साथ नहीं छोड़ती। वह यह जानते हुए भी कि उसका पति उसे विष दे रहा है, उसकी जान ले रहा है, निरंजना के लिए। फिर भी वह अपने पति से विमुख नहीं होती, और न निरंजना

१, २, ३, ४—देखिए, अध्याय ५, ६, ७।

के प्रति उसके मन में ईर्ष्या अथवा द्वेष के भाव उत्पन्न होते है। यह सहनशीलता की पराकाष्ठा थी। पर जोशी जी उसे पूर्ण भारतीय नारी के रूप में चित्रित करना चाहते थे, इसलिए उसमें विद्रोह नहीं पनपता। उसकी चेतना उसे दबा देती है। "सन्यासी" में जयन्ती भी इसी प्रकार की प्रधान नारी पात्र के विचार का मनोविश्लेषणात्मक विकास चित्रित किया गया है। वह नानक नन्दकिशोर की पत्नी है। वह मृदुभाषिणी उच्च संस्कारों में पालित एवं कर्त्तव्य परायण नारी है। उसमें दृढ़ता का अभाव और भावुकता का प्राधान्य है, एवं आत्माभिमान की प्रवृति प्रबल है। वह कुशल गृहणी भी है। उसकी अपनी माँ नहीं, सौतेली माँ है, फिर भी उसका व्यवहार इस प्रकार का है कि उसके और माँ के बीच कोई अन्तर नहीं रह जाता। ममत्व की अनुभव भावना उसके मन में १६ वर्ष की ही अवस्था में उमड़ आती है। वह अपने छोटे-छोटे सौतेले भाई-बहनों का इतना ध्यान रखती है, इतना स्नेह रखती है, कि बच्चे जयन्ती को ही अपना सब कुछ मान लेते हैं। उसके प्रत्येक व्यवहार में सलीका है, जैसे उसमें कठोर अनुशासन हो, और अपने जीवन को एक अनुशासनात्मक ढ़ंग से ही वह आगे बढ़ाना चाहती हो। उसमें पर्याप्त सौम्यता (Soberness) है, तथा कर्त्तव्यों को पहचान कर ऊपर उठने की शक्ति है। यही गुण उसके व्यक्तित्व को प्रबल आकर्षण और गरिमा प्रदान करते हैं। पर जयन्ती में आत्मविश्वास की दृढ़ता नहीं है। वह भावुकता के आवरण में लिपटी अपने को बराबर दुरूह बनाती जाती है। प्रेमी कैलाश को भी नहीं भुला पाती, और पति से विमुख भी नहीं होना चाहती। विवाहित जीवन में पति की अतिशय संशय वृति, शासन प्रवृत्ति एवं अहं की भावना की जयन्ती के जीवन में गम्भीर प्रतिक्रिया होती है। उसका चेतन मन तो कर्त्तव्य पथ की प्रेरणा मान विवाहित जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न करता है, पर उसका अवचेतन मन इसके विपरीत क्रियाशील रहता है। यह बात तो स्पष्ट ही है कि मानव का अवचेतन मन चेतन मन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है। अवचेतन मन कुंठाओं, वर्जनाओं, अतृप्त आकांक्षाओं एवं दमित-शमित वासनात्मक भावों का संग्रह होता है, जिन्हें हम उच्च संस्कार, सत्यता एवं सौम्यता के नाते अस्वीकृत कर देते हैं, और उन्हें नियंत्रित करने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः उनका अस्तित्व पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हो जाता। वे अवचेतन मन में एकत्रित होती रहती हैं, और जीवन संचालन का वास्तविक सूत्र उन्हीं के हाथों में रहता है।[1] जयन्ती के चरित्र की विचित्र प्रक्रियाएं इसी कारण हैं। अपने पति से शांति के सम्बन्ध में सुनकर भी वह कहती हैं, "मैं किसी से डाह नहीं कर सकती; हाँ घृणा कर सकती हूँ। डाह समान क्षेत्र में होता है, अपने से नीचे या ऊंचे स्तर वाले लोगों से डाह नहीं किया जाता। पर शांतिदेवी मुझसे इतने ऊंचे स्तर पर हैं कि उनके पैरों तले मेरा सारा अभिमान चूर होकर

१. सिगमड फ्रायडः इन्ट्रोडक्टरी लेकचर्स ऑन साईको–एनालिसिस, पृष्ठ १५६।

बिखर पड़ेगा, इसका मुझे दृढ़ विश्वास है।[1]" अन्त में वह आत्महत्या कर लेती है। यह आत्महत्या उसके अवचेतन मन की विजय, और चेतन मन की पराजय ही थी। पर "प्रेत और छाया" की मंजरी ऐसी नहीं है। उसमें विद्रोह है, और दृढ़-इच्छा शक्ति है। वह स्वावलम्बिनी बनने का प्रयत्न करती है।[2] जोशीजी ने "लज्जा" में लज्जा,[3] और "पर्दे की रानी" में निरंजना[4] का भी चारित्रिक विकास मनोविश्लेषणवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण पर किया है।

इस प्रकार यह तो स्पष्ट ही है कि इलाचन्द्र जोशी का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण यद्यपि मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति से सम्बन्धित है, फिर भी वह पूर्णतया आधुनिक एवं प्रगतिशील है, यथार्थवादी भी है। स्वयं जोशी जी के अनुसार मैंने ऐसे नारी पात्रों को लिया है, जिन्हें जीवन की घनघोर संघर्षमयी परिस्थितियों से होकर गुज़रना पड़ा है और जिनकी अवचेतना में निहित विद्रोह के बीज रूपी अणुओं में उन संकटाकुल परिस्थितियों के पारस्परिक संघर्ष के कारण रासायनिक प्रतिक्रिया स्वरूप भयंकर विस्फोट में परिणत होने की सम्भावना रही है। मेरे नारी पात्रों में त्याग और तपस्या की तनिक भी कमी न होने पर भी उन्होंने कभी आत्मकामी, अहंवादी और अत्याचार परायण पुरुष पात्रों के साथ समझौता नहीं किया है। मैंने जानबूझकर यथार्थ जीवन से ऐसी नारियों को चुना है, जिनमें इस प्रकार के विद्रोहात्मक विस्फोट के बीच तत्व निहित हों और जिनमें इस विस्फोट के परिणाम को अकेले अपने ही बूते पर पूर्णतया स्वीकार कर सकने की सम्भावना हो। अब समय आ गया है कि आप युगों के अन्धकार में बद्ध सदियों के क्रूर निर्यातन से पीड़ित नारी आत्मा के अन्तस्तल में निहित विद्रोह की आवाज़ को किसी भी छल-छद्म से दबाने में समर्थ नहीं हो पायेंगे। उनकी अंतरात्मा की वह फुफकारती हुई पुकार समाज की प्रत्येक कंदरा में गूँजती हुई प्रचंड विस्फोटों के साथ बाहर के जगत में फूटने के सुस्पष्ट लक्षण प्रकट कर रही है। साथ ही अपने चारों ओर की काली-काली दीवारों को तोड़ने और फोड़ने में भी उसका अन्तर्विद्रोह निकट भविष्य में सफल होकर ही रहेगा। पिछले कलाकारों की तरह दलित नारी के प्रति केवल सहानुभूति दिखाने से ही अब काम नहीं चलेगा। वह समय आ रहा है जब कलाकारों की श्रेष्ठता की परख एकमात्र इस बात से होगी कि नारी आत्मा के अन्तर में बीज रूप में छिपी हुई विद्रोह की चिनगारी को कौन कितनी अधिक तीव्रता से प्रचण्ड अग्नि के रूप में प्रज्ज्वलित करने में समर्थ होता है। केवल उसकी सामाजिक पीड़ा के प्रति काव्यात्मक करुणा जगाने वाले बुद्धिविलासी लेखकों की थोथी समवेदना की कोई आवश्यकता इस युग में नहीं है। नये युग की सच्चे अर्थों में प्रगतिशील नारी इस प्रकार की समवेदना और सहानुभूति को अपने लिए अपमानकर समझेगी। इस युग

१. इलाचन्द्र जोशीः सन्यासी, (१९४१), इलाहाबाद, पृष्ठ ३८७।
२. देखिएः अध्याय ५ ।
३. ३-४—देखिए : अध्याय ६, ७।

में तो नारी को कठोरतम परिस्थितियों के बीच में केवल अन्तर्विद्रोह के बल पर खड़ा होने के लिये उकसाने वाले यथार्थवादी आदर्शवादियों की प्रेरणा आवश्यक है। इलाचन्द्र जोशी के इस मत में पर्याप्त सत्यता है। आज की नवीन युग की बुद्धिवादिनी नारी की यही स्थिति है। अगर लेखक-कलाकार इससे विमुख होंगे तो उनकी कला सार्थकता एवं यथार्थता दोनों ही सन्दिग्ध बनी रहेगी।

सियारामशरण गुप्त ने भी अपने उपन्यासों में नारी पात्रों की परिकल्पना मनोविश्लेषणवादी परिकल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण पर किया है, पर जोशी की भाँति वे उनका पूर्ण विद्रोह या विध्वंसात्मक प्रवृत्ति नहीं चित्रित कर पाए हैं, ऐसा कदाचित् उनकी आदर्शवादिता या उनके गांधीवादी होने के कारण ही हुआ है। उनके अनुसार नारी की दुर्व्यवस्था का प्रमुख कारण उसकी आर्थिक परतन्त्रता नहीं है। उसे अपना पेट भरने के लिए पुरुषों पर आश्रित रहना पड़ता है। फलस्वरूप पुरुष उस पर अनेक प्रकार से अत्याचार करता है। उसकी उपेक्षा करता है। "नारी" (१९३६) में उन्होंने जमना के रूप में नारी की इसी विवशता एवं दारुण दुःख का चित्रण किया है।[1] गुप्त जी नारी की सबसे बड़ी विशेषता अपने पति के प्रति पूर्ण विश्वास एवं पवित्र प्रेम स्वीकार करते हैं। पति कुछ भी करे, चाहे उचित या अनुचित, पत्नी का काम उसे अपना समर्थन देना ही है। "गोद" (१९३२) में पार्वती का पति किशोरी और शोभाराम के मध्य वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होने में अपनी आपत्ति प्रकट करता है, तो सारा गाँव उस पर दोषारोपण करता है। पार्वती भी ऐसा समझती है कि उसके पति को ऐसा नहीं करना चाहिए, पर वह स्पष्ट ही सबसे कहती है, "तुम्हारे लिए उनका काम कसाईपन का हो या चाहे जो कुछ, मेरे लिए तो जो वे कहते हैं, वही ठीक हैं। बस अब इस सम्बन्ध में, मैं और कुछ नहीं कहना चाहती।"[2] इस प्रकार गुप्त जी ने उसके अवचेतन मन के विस्फोट से कोई विध्वंस होते नहीं दिखाया है, उसे निर्माणोन्मुख करने का प्रयत्न किया हैं। उसके चेतन और अवचेतन मन में बराबर संघर्ष होता है, पर वह कोई विद्रोह नहीं चाहती, अपनी परम्पराओं में विश्वास रखती है।

---

१. देखिए : अध्याय ६।

२. सियारामशरण गुप्त : गोद, (१९३२), झाँसी, पृष्ठ ५१।

नायिकाओं के स्वरूप का विकास क्रम

अब तक के लम्बे विवेचन से नायिका की परिकल्पना के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक पक्ष और स्वरूप के सम्बन्ध में यथेष्ट तथ्य स्पष्ट हो गए होंगे, और अब यहाँ उनके विकास का क्रम निश्चित किया जा सकता है। इस अध्याय में नायिकाओं के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जो परिवर्तन होते रहे हैं, उन्हें स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जाएगा। इस विकास क्रम के साथ उन प्रवृत्तियों का अध्ययन भी आवश्यक है। जिन्होंने उपन्यासकारों के दृष्टिकोण को तो प्रभावित किया ही, साथ ही उन्होंने नायिका के व्यक्तित्व पर भी अपना महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है। नायिकाओं के व्यक्तित्व के विकास क्रम के तीन चरण हैं :

१. पूर्व-प्रेमचन्द काल

२. प्रेमचन्द काल

३. उत्तर-प्रेमचन्द काल

पूर्व-प्रेमचंद काल

जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, हिन्दी उपन्यास साहित्य का आविर्भाव सुधारवादी एवं आदर्शवादी भावनाओं के क्रोड़ में हुआ था। इस काल में समाज पूर्णतया विशृंखलित हो गया था, नैतिक मान्यताएं टूट-फूट गई थीं और प्राचीन परम्पराएं जर्जरित हो रही थीं। उनका स्थान ले रही थी पश्चिम की वह शक्तिशाली भावना, जो मृगतृष्णा की भाँति भारतवासियों की चेतना पर छाती जा रही थी। लोग अपना धर्म भूलते जा रहे थे। धार्मिक रूढ़ियाँ अब उन्हें अपमानजनक प्रतीत होती थीं। वे अब पश्चिमी संस्कारों को ग्रहण करना अधिक श्रेयस्कर समझते थे।। पश्चिम की वह चमक-दमक अब उन्हें अत्यधिक आकर्षक प्रतीत होने लगी थी, और वे अपनी परम्पराओं को ठोकर मार कर उधर तीव्रगति से अग्रसर हो रहे थे। पारिवारिक व्यवस्था विच्छिन्न हो चुकी थी और संयुक्त परिवार की प्रथा समाप्त होती जा रही थी। ऐसे समय में उपन्यासकारों ने भारतेन्दु के नेतृत्व में एक-आदर्शवादी दृष्टि को अपनाया था, जिसमें उनकी उपदेशात्मक नीति भी सम्मिलित थी। वे वस्तुतः एक ऐसे सामाजिक आदर्शवाद से प्रभावित थे, जिसमें समाज के

सुधारने की भावना प्रतिध्वनित होती थी। यहाँ आदर्शवाद के स्वरूप को समझ लेना उचित होगा।

आदर्शवाद की व्याख्या करते समय प्रायः यह कहा जाता है कि सृष्टि पूर्णरूप से मस्तिष्क की प्रक्रिया है, अथवा उसकी सत्य प्रतिकृति है। मस्तिष्क और मूल्यों के मध्य अविच्छन्न सम्बन्ध रहते हैं, प्लेटो की धारणानुसार अच्छाइयों का विचार भी कहा जा सकता है। वस्तुतः आदर्शवाद एक ऐसे सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया जा सकता है, जिसके अनुसार इस सृष्टि में उन विशेषताओं को, जो अत्युत्तम, उपयोगी एवं मानवतावादी दृष्टिकोण के अनुकूल स्वीकृत हैं। अत्यन्त व्यापक एवं चरम रूप प्रदान कर निरन्तर उच्चस्थान विस्तृत पृष्ठभूमि पर प्रदान किया जाना चाहिए। उन विशेषताओं को व्यष्टि से समष्टि की ओर गतिशील कर जन-मानस में सर्वव्यापी ढंग से उसका विकास कर कल्याणमयी भावनाओं का विकास करना ही आदर्शवाद का मूल उद्देश्य होता है। प्लेटो के अनुसार भावनाओं का जगत यथार्थ संसार नहीं है, जिसे हम विचारों की संज्ञा से, विशेषतः अच्छाइयों के विचार से अभिहित करते हैं, वही यथार्थ हैं, और गहन् एवं अधिकारिक ज्ञान मानवीय चेतना की एकता को पूर्व ज्ञात वस्तुओं से सम्बन्धित करते हैं। प्रभावशाली सृष्टि निश्चय ही आदर्शवादी सृष्टि के समानार्थक होनी चाहिए। इस प्रकार प्लेटो का 'आदर्शवादी' संसार ही सत्य जगत हैं, और 'ज्ञान' का मुख्य उद्देश्य ('राय' के विरुद्ध) सदैव ही आदर्शवादी होता है। आदर्श से ज्ञान के उद्देश्यों का आविर्भाव नहीं होता, वरन् इसके माध्यम से सत्य एवं अनिवार्य अस्तित्व से भी सम्बन्धित होते हैं। यहाँ यह बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आदर्शवाद वस्तुतः दर्शन का ही एक रूप है।[१] आदर्शवाद उस सत्य से अनुप्राणित है, जो समस्त भौतिक जगत में व्युत्पति वृत्तियों के नाश और सात्विक प्रवृत्तियों की विजय उद्घोषित करता है। आदर्शवाद का मूल स्वरूप इन्हीं सात्विक प्रवृत्तियों की व्यापकता पर ही निर्मित होता है, जो मानव के चारित्रिक विकास, उसकी चित्तवृत्तियों को एक सामान्य स्तर पर सामूहिक कल्याण की भावना के विस्तार तथा पाप, घृणा एवं असत्य के पूर्णतया नष्ट होने की भावना पर आधारित है।

अतः आदर्शवाद का मूल स्वर मस्तिष्क एवं यथार्थ के चेतना से समन्वय से

---

१. "Idealism is the phoenix of philosophy, and any philosophy reckons ill that leaves it out. The imperishable element in idealism is the curious fact that, in so far as its essence is concerned, whenever we deny it we some how affirm it. It was for this reasons that Royce (एक पाश्चात्य विद्वान्) liked to hear condemnations and refutations of idealism for they served only to bring out more clearly the irrefutable element in idealism."

—लुडविग स्टीन : लेकचर्स ऑन मॉडर्न आयडियलिज्म, पृष्ठ २५० ।

नहीं सम्बन्धित है।[1] विश्व की जितनी भी सभ्यताएं हैं। उनकी पृष्ठभूमि में आदर्शवाद ही क्रियाशील रहा है। वह केवल निर्माण तक ही नहीं सम्बन्धित है, बल्कि एक कदम आगे बढ़कर वह व्यापक सुधार की आवश्यकता सिद्ध करता है। अपनी इसी प्रमुख सृजनात्मकता के कारण वह मात्र जीवन को ही निर्माण एवं विकास की ओर दिशोन्मुख नहीं करता, वरन् प्रत्येक ज्ञान एवं दर्शन के मूल स्वर एवं आत्मा का भी स्पष्टीकरण सशक्त स्वरों में करता है। स्वाभाविक आदर्शवाद जीवन का वह महत्वपूर्ण स्वरूप है, जिसमें मानवीय आत्मा अपने अमरत्व की मांग करती है और मूल्य मर्यादा-युक्त परिवेश में निरन्तर गौरव एवं आत्मसम्मान की रक्षा की दिशा में अग्रसर होती है।

आदर्शवादी उपन्यासकार अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की गौरवशाली परंपराओं एवं मर्यादापूर्ण मान्यताओं के प्रति गहन् रूप में आस्थावान् होते हैं और किसी भी रूप में उनका खण्डन-मण्डन अथवा तिरस्कार एवं अस्वीकृति उन्हें सह्य नही होती। वे उनकी महत्ता सिद्ध करने एवं उनकी उपयोगिता स्पष्ट करने के लिए ही कथानक का ताना-बाना रचते हैं और अपने मंतव्य को तर्कों सहित उपस्थित करते है। वे इस सम्बन्ध में यथार्थ की पूर्ण अवहेलना करते हैं और उसकी तरफ से आँखें बन्द किये रहते हैं। आदर्शवाद लेखक को यथार्थ की कठोर पर स्वाभाविक भूमि पर आने से रोकता है। वह समाज में कुत्सित वृत्तियों का पूर्ण नाश और सात्विक प्रवृत्तियों की पूर्ण विजय चाहता है। वह समाज में नैतिकता का पूर्ण उत्थान एवं मंगलकारी भावनाओं का पूर्ण प्रसार चाहता है, जिससे समाज निरन्तर सत्पथ पर अग्रसर होता रहे, सभी का जीवन सुखी एवं समृद्ध रहे, सभी को पूर्ण मानसिक शान्ति प्राप्त हो और सभी आपसी सहयोग एवं सहानुभूतिपूर्ण वातावरण में जीवन जी सके। आदर्शवाद कभी नही स्वीकारता कि आज का मानव जीवन पूर्णतया खण्डित है। मूल्य एवं मर्यादाएं बिखर रही हैं। विचित्र सी कटुता, अन्तव्यापी व्यथा विषाद की तीखी प्रतिक्रियाएं, मानव जीवन पर गहन् रूप में आच्छादित हो रही हैं। सर्वत्र घृणा, असत्य एवं पाप का प्रसार हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थ एवं प्राप्ति आशा के पीछे स्वयं अपने आपको भूलता जा रहा है। वह खुदगर्जी के पीछे यह भूल गया है कि वह किसी को कुछ दे सकता है। दूसरे के त्रस्त एवं अपूर्ण जीवन को अपनी सहानुभूति से पूर्ण बनाने का 'छोटा' सा प्रयत्न भी कर सकता है। इन सब सामाजिक विकृतियों ने आज के मानवीय जीवन को विचित्र सी दिशा प्रदान

---

१. "The driving force of idealism, as I understand is not furnished by the question how mind and reality can meet consciousness, but by the theory of logical stability (Italics mine) which makes it plain that nothing can fulfill the questions of self-existence except by possessing the unity that belongs only to mind.

—बोसांके : लॉजिक, (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ ३२२।

कर उसे कटुता से इतना विषाक्त कर दिया है कि सहज सम्भाव रूप में उसका जीवन भी दुर्लभ हो गया है। आदर्शवादी जीवन की इस पीड़ादायक स्थिति का पूर्ण तिरस्कार कर भावुकता की काल्पनिक पृष्ठभूमि पर एक ऐसे स्वप्निल संसार की सृष्टि करने का प्रयत्न करते हैं। जिससे सर्वत्र आनन्दतत्व ही संचारित होता रहे। सभी को सुख एवं सन्तोष की उपलब्धि होती रहे, पीड़ा एवं असहनीय व्यथा का कहीं नामोनिशान भी न हो। आदर्शवादी अपनी इसी प्रवृत्ति का परिचय देते हुए यह तर्क उपस्थित करते हैं कि उनका इस सम्बन्ध में यथार्थवाद की उपेक्षा करना बुद्धिहीनता का परिचायक नहीं है। आदर्शवाद न्यायपूर्ण मान्यताओं एवं विचार-धाराओं के प्रति गहनतम आस्था रखता है और अन्याय का दमन कर न्याय की सार्वभौमिक सत्ता इच्छित करता है। वह इस न्यायपक्ष की विजय के सम्बन्ध में इतना अस्वस्थ रहता है कि उसे अपनी आत्मा का हनन कर आत्म-प्रवंचना का शिकार बनने में भी कोई संकोच नहीं होता। आदर्श ऐसे औपन्यासिक पात्रों की परि-कल्पना पर बल देता है, जिनमें चारित्रिक निष्ठा हो और उनका चरित्र किसी भी दृष्टिकोण से दुर्बल न हो। आदर्शवाद यह नहीं चाहता कि उसके द्वारा सिरजे गए पात्र परिस्थितियों से विवश होकर अनैतिकता की राह अपनाए, हत्या करे। स्वयं भी गुमराह हो, दूसरों को गुमराह बनाए। असत्य पथ को अपनाए और जीवन के उन दुर्बल पक्षों को आत्मसात करे, जो मानवतावादी दृष्टिकोण से नितान्त रूप से भी मेल न रखते हों। आदर्शवादी पात्र कुछ इस प्रकार का होगा कि संसार की सभी आदर्शवादी मान्यताएं उसमें सिमट आएंगी और वह प्रकाश के किसी देदीप्य-मान पुंज की भाँति चमत्कृत होता रहेगा। उसके जीवन का सात्विक पक्ष इतना प्रबल होगा कि किसी भी प्रकार की आसुरी प्रवृत्तियाँ उसके निकट नहीं आती प्रतीत होंगी और वह सद्वृत्तियों का एक पुतला मात्र बन कर रह जाएगा। स्पष्ट है ऐसा व्यक्ति यान्त्रिक होगा, वह स्वाभाविकता की सीमा लाँघ जाएगा और हमारे सम्मुख एक स्वप्निल संसार की सृष्टि करेगा। पर न तो कोई व्यक्ति मात्र सात्विक प्रवृ-त्तियों से ही ओतः प्रोत रहता है; और न कोई व्यक्ति मात्र आसुरी प्रवृत्तियों का ही दास होता है। यदि ऐसा हो, तो मनुष्य या देवता ही बन कर रह जाएगा, या फिर राक्षस से अधिक अस्तित्व नहीं रखेगा।

इस काल में आदर्शवाद की इन भावनाओं से उपन्यासकार पूर्णतया अभिभूत थे। इस आदर्शवादी दृष्टिकोण के साथ उनकी सुधारवादी भावना भी मिश्रित थी। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वे वस्तुतः "समाज को पतन के गर्त से बचाना चाहते थे, विस्मृत होने वाली धार्मिक परम्पराओं में लोगों का विश्वास पुनः जागरित करना चाहते थे, जीवनगत मर्यादाओं को प्रकाशित कर जीवन स्तर उच्च करना चाहते थे और लोगों को नैतिक उत्थान की ओर अग्रसर करना चाहते थे। इस काल में नारियों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। उन्हें सामाजिक और राजनीतिक सम्मान न प्राप्त थे। शिक्षा से वे वंचित थीं, उन्हें आर्थिक स्वतन्त्रता भी न प्राप्त

थी और न उनकी स्थिति में सुधार हेतु प्रयत्न की दिशा में कोई उत्साह ही था। स्वामी दयानन्द से पूर्व यद्यपि राजाराम मोहन राय नारी उत्थान के प्रति अपनी आवाज उठा चुके थे और उन्हीं के प्रेरणा स्वरूप लॉर्ड विलियम बेंटिक ने सती प्रथा पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, तथापि वह केवल एक महान् अनुष्ठान का प्रारम्भ मात्र था। इस अन्यतम लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में अभी यथेष्ट कार्य करना शेष था। स्वामी दयानन्द ने पुनः पूर्ण शक्ति से नारियों की स्थिति में सुधार लाने और नारी शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया। आर्य समाज आन्दोलन ने नारियों के कल्याण के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए। विधवा विवाह का प्रचलन तो इसने किया ही, विधवाश्रमों की स्थापना का भी प्रयत्न किया। इस समय नारी शिक्षा की ओर किंचितमात्र भी ध्यान नहीं दिया जाता था और लड़कियों की उच्च शिक्षा तो हिन्दू समाज में एक अप्रत्याशित बात समझी जाती थी। आर्यसमाज आन्दोलन ने ही हिन्दू समाज की इस भ्रान्ति का निराकरण कर नारी शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार किया और उसी का परिणाम था कि धीरे-धीरे नारी शिक्षा में अभिवृद्धि होने लगी। थियोसॉफिकल सोसाइटी के माध्यम से श्रीमती ऐनी बेसेंट सदृश महिलाओं ने हिन्दू नारियों के समक्ष ऊँचे आदर्श प्रस्तुत कर नारियों की रूढ़ियों और आडम्बरों को समाप्त कर उनमें नवीन चेतना का संचार किया तथा उन्हें उनके वास्तविक उत्तर-दायित्व एवं कर्तव्य के प्रति सचेत किया। पुनरुत्थान आन्दोलन में सर्वाधिक परिवर्तन की दिशाएं नारियों में ही लक्षित हुई। अभी तक वे अत्यन्त उपेक्षित थीं एवं शिक्षा तथा नवीन विचारधारा से वंचित केवल भोग की सामग्री समझी जाती थीं। शिक्षा का प्रचार उनमें न होने के कारण उन्हें अपने अधिकारों का ज्ञान न था, न उन्हें अपनी वास्तविक परिस्थिति का ही परिचय था। उन्हें समाज में कोई विशेष प्रतिष्ठा न प्राप्त थी और न राजनीति के क्षेत्र में ही उनका कोई स्थान था। जहाँ तक नारी प्रेम का प्रश्न था, समाज का उस पर कठोर अनुशासन था। वासनात्मक (Sexual Morality) का पतन उनमें पूर्णरूप से नहीं हो गया था और विवाह संस्था के टूटने के कोई आसार नहीं लक्षित हो रहे थे। माता-पिता द्वारा निश्चित विवाह लड़कियों को मान्य थे, और उनमें किसी प्रकार की असंतोष की भावना नितान्त रूप से भी व्याप्त न थी।

पूंजीवादी व्यवस्था ने नारियों के ऊपर इस काल में अनेक अत्याचार किए। उनमें इतनी भी प्रगतिशीलता न थी कि वे अपने पाँवों पर खड़ी होकर अपनी आर्थिक परतन्त्रता, अपने शोषण एवं पूंजीवादी व्यवस्था का विरोध कर सकें। पूंजीवादी प्रभाव समाज पर गहनतम रूप से छाया हुआ था और उसने जनमानस को पूर्णतया कुण्ठित कर दिया था। पूंजीवादी व्यवस्था के प्रतिनिधि साम्राज्यवादी पिट्ठू थे, जो प्रगति और चेतना जैसे शब्दों से घबराते थे, इसीलिए इस काल में नारियाँ दासता का जीवन व्यतीत कर रही थीं। यह आश्चर्य का विषय है कि ऐसे समय में हिन्दी उपन्यासों का जन्म होने के बावजूद भी वह समकालीन नारियों की परिस्थितियों से

पूर्ण सामंजस्य नहीं स्थापित कर सका। प्रारम्भिक उपन्यासकार तत्कालीन स्थिति से पूर्णतया परिचित तो थे, पर वे यथार्थ के ऊपर आदर्श का गहरा लेप लगाकर एक ऐसी सृष्टि का निर्माण करना चाहते थे, जो प्रगति से कोसों दूर हो। वे केवल नैतिकता का उत्थान चाहते थे और ऐसी सामाजिक व्यवस्था चाहते थे, जो नारियों और पुरुषों को कठोरता से नियंत्रित कर सके, और उन्हें उच्छृंखलता से बचा सके। अर्थ व्यवस्था के वैषम्य, पूंजीवादी व्यवस्था में नारियों के शोषण आदि से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। वे जटिलता में न फंसना चाहते थे। सीधे-सादे ढंग से रमणीयता में वास करना ही उनका लक्ष्य था, जिस पर उन्होंने सुधारवादिता का आवरण डाल लिया था। पर यह सुधारवादी दृष्टिकोण था भी कैसा? शताब्दियों पुराना! वे चाहते थे कि सृष्टि फिर से पीछे चलकर पौराणिक काल या वैदिक काल में पहुंच जाए। उन्होंने उपन्यासों के माध्यम से एक मृगतृष्णा का निर्माण करना चाहा था पर वे अपने दुराग्रहों के कारण उस मृगतृष्णा का भी निर्माण सफलतापूर्वक न कर सके। उनके सुधारवादी दृष्टिकोण को थोड़ी और स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करना उचित होगा। वे चाहते थे—

१. नारियों में उच्च शिक्षा का प्रसार न हो। वे स्कूल-कॉलेज न जाएं और घर पर ही मामूली रूप से पढ़-लिख लें।

२. नारियों का क्षेत्र केवल परिवार तक ही सीमित हो। घर की चारदीवारी के बाहर आकर खुली वायु में सांस लेना श्रेयस्कर नहीं। इससे नैतिकता का घोर पतन होगा और समाज में अनाचार फैलेगा। दूसरे शब्दों में उन्हें नारियों के ऊपर किंचितमात्र भी विश्वास न था।

३. नारियों को विवाह के पूर्व प्रेम करने का कोई अधिकार नहीं। विवाह और प्रेम सम्बन्धी स्वतन्त्रता की माँग करना गौरवहीन है।

४. विवाह के दो एक वर्ष में ही यदि पति की मृत्यु हो जाए, तो भी नारियों को पुनः विवाह न कर पति की स्मृति में सादा जीवन व्यतीत करना चाहिए। दूसरे शब्दों में विधवा विवाह न होने चाहिए।

५. वेश्या नारियाँ समाज का कलंक हैं। वे अस्पृश्य हैं। उनकी तरफ आँख उठाकर भी न देखना चाहिए। वेश्याओं का समाज में बना रहना आवश्यक है। वेश्या विवाह की तो कल्पना भी न करते थे।

६. नारियों के लिए अधिकार और प्रगतिशीलता की बातें करना निरर्थक है, तर्कहीन हैं।

पूर्व-प्रेमचन्द काल की नायिकाओं की परिकल्पना इसी निष्कर्ष पर की गई है। यही है पूर्व-प्रेमचन्द काल के उपन्यासकारों का तथाकथित आदर्शवादी एवं सुधारवादी दृष्टिकोण, जिसे वह समाज में प्रसारित करना चाहते थे। अतः पूर्व-प्रेमचन्द काल की नायिकाओं की परिकल्पना अधिकांश रूप से इसी पृष्ठभूमि पर

की गई, जो परंपरागत, रूढ़ एवं प्रगतिशीलता का प्रबल विद्रोही था। ऐसे उपन्यासकारों में गोस्वामी जी अग्रगण्य थे। यद्यपि उन्होंने काफी उपन्यास लिखे और उनमें विषय सम्बन्धी विविधता भी प्राप्त होती है, यह नायिका की परिकल्पना अधिकांश रूप में कुछ इने-गिने उपन्यासों में ही की गई है। वे कट्टर सनातनधर्मी थे और नारी शिक्षा के विरोधी थे। उन्हें भय था कि शिक्षा से नारियों में स्वतन्त्रता और उच्छृंखलता जैसी बातें आएंगी और उनका चारित्रिक पतन होगा। उनके विचार से नारी सबसे बड़ी शिक्षा उसके स्वभाव एवं चरित्र को आदर्शरूप प्रदान करना मात्र है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि गोस्वामी जी जैसे उपन्यासकार भी नारी के ऊपर विश्वास न रखते थे। उनकी नायिकाओं का विकास रूढ़ भावनाओं. आडम्बर से परिपूर्ण, परंपराओं एवं मर्यादाओं को आत्मसात् करने की अस्वाभाविक सी प्रतीत होने वाली लालसा तथा प्रगतिहीन दृष्टिकोण पर आधारित है। 'त्रिवेणी' (१८८८) की नायिका त्रिवेणी को कोई शिक्षा नहीं प्रदान की जाती, जिसके परिणामस्वरूप वह गहन् कूपमण्डूकता के आवरण में लिपटी रहती है। 'माधवी-माधव वा मदन मोहिनी' (१९१६) में भी माधवी को कोई शिक्षा नहीं प्रदान की जाती और ग्यारह वर्ष की होते ही उसका नाम स्कूल से कटवा दिया जाता है। गोस्वामी जी की नायिकाओं में जीवन के प्रति गौरव की कोई भावना नहीं है। उनमें अपनी आत्मा को महत्व देने एवं अपनी ही भावनाओं को समझने और उनका सम्यक मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति नहीं है। गोस्वामी जी की अनेक नायिकाएं एवं प्रधान नारी पात्र ऐसी नहीं हैं, जिन्होंने स्वयं अपने पति का दूसरा विवाह कराया है, या उसकी सहमति प्रदान की है। आश्चर्य तो तब होता है कि इस अपमानजनक साथ ही घृणास्पद स्थिति की आलोचना करने के बजाय उपन्यासकार उसका समर्थन किया है। 'पुनर्जन्म वा सौतियाडाह' (१९०७) तथा 'कनक कुसुम वा मस्तानी' में ऐसा ही हुआ है। मेहता लज्जाराम शर्मा की नायिकाओं का विकास भी इसी पूर्णतया परंपरागत सुधारवादी दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि पर हुआ था। इस युग की सुधारवादी प्रवृत्तियों में, जिनमें अभी भी पर्याप्त रूप से ही कट्टरता व्याप्त थी। शर्मा जी का पूर्ण विश्वास था उनकी नायिकाएं पर्दा में रहती हैं और पर्दे का मूलोच्छेदन अपनी जीवनगति 'मर्यादा' के विरुद्ध समझती हैं। नायिकाएं 'उच्छृंखलता' से डरने वाली हैं और इससे प्रगतिशीलता को स्थान-स्थान पर ठोकर मारती हैं। उनकी नायिकाएं भी गौरव एवं मर्यादा को व्यर्थ समझती हैं, और पति की दास मात्र है। पति के चरणों में उनका भगवान हैं। पति चाहे शराबी हो, जुआरी हो, विकलांग हो, उनकी रुचि का हो या न हो, और उन दोनों के विचार एक दूसरे से सामंजस्य रखते हों या न रखते हों, उनकी नायिकाएं अपने पति को देवता मानकर उन्हीं के चरणों में आँख बन्द कर समर्पित हैं। वह उन्हें ठोकर मारता है, वे उसे पतिभक्त का प्रसाद समझती हैं। और इस प्रकार वे अस्वाभिकता की चरम सीमा उपस्थित करती हैं। शर्माजी की नायिकाएं भी अशिक्षित हैं। शिक्षा के प्रति उनकी कोई रुचि नहीं है। शर्मा जी ने अपने 'प्रवचनों'

और अपनी नायिकाओं के माध्यम से समाज की यह बहाने का प्रयत्न किया है कि नारी दासी है। उस पर कठोर अनुशासन एवं नियन्त्रण रखना चाहिए और जरा भी स्वतन्त्रता न प्रदान करनी चाहिए। वह विश्वास की पात्री नहीं, अविश्वसनीयता के स्तर पर रखी जानी चाहिए। प्रगतिशीलता का तिरस्कार शर्मा जी की भी नायिकाएं करती हैं। 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' तथा 'विगड़े का सुधार' (१९००) में उन्होंने अपनी तथाकथित 'सुधारवादी' भावना एवं समकालीन समाज में व्याप्त नारियों की यथार्थ स्थिति (हालाँकि उसे भी उन्होंने जानबूझ कर विद्रूप बनाने का प्रयत्न किया है) के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा रूढियों, विद्रूपताओं एवं अस्वाभाविक परिस्थितियों का समर्थन करने का प्रयत्न किया है। और तो और उन्होंने वेश्यावृत्ति का बड़े जोरदार शब्दों में समर्थक किया है। और समाज में वेश्याओं की स्थिति अनिवार्य मानी है।

नारी सम्बन्धी यही धारणा थी, जिससे इस युग को उपन्यासकारों को एक सीमित परिवेश में सोचने को बाध्य किया और उन्होंने अपनी नायिकाओं की कल्पना इस प्रकार की, जिनमें स्वाभाविकता तो नाममात्र को न थी, हां आदर्श परंपराएं उनमें ठूंस-ठूंस कर भरी हुई थीं। ठाकुर जगमोहन सिंह के 'श्यामस्वप्न' (१८८८) की नायिका श्यामा, टीकाराम सदाशिव तिवारी कृत 'पुष्पकुमारी' (१९१७) की नायिका पुष्पकुमारी, देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय कृत 'सुन्दर सरोजनी' (१८९३) की नायिका सरोजिनी, गंगाप्रसाद गुप्त कृत 'लक्ष्मीदेवी' की नायिका लक्ष्मी, रामप्रसाद सत्याल कृत 'किरणशशि' (१९०९) की नायिका किरणशशि, कृष्णलाल वर्मा कृत 'चम्पा' (१९१९) की नायिका चम्पा तथा जैनेन्द्रकिशोर कृत 'कमलनी, (१८९१) की नायिका कमलिनी आदि सभी नायकाओं की परिकल्पना किशोरीलाल गोस्वामी तथा मेहता लज्जाराम शर्मा द्वारा स्थापित मान्यताओं के आधार पर हुई है। ये दोनों ही इस युग के उपन्यासकारों के नेता थे और उनकी विचार धारा का अनुसरण आंख मूंद कर किया जा रहा था। पर जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, इस काल की नायिकाओं में इतने आदर्श हैं कि तत्कालीन परिस्थितियों में उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। उनके व्यक्तित्व का इस युग के साथ कोई मेल नहीं बैठता। यह युग नारी उत्थान की दृष्टि से संक्रान्तिकाल का था। वे एक ऐसे दोराहे पर खड़ी थीं, जिसके एक ओर परंपराएं थीं, रूढ़ियां थीं, आडम्बर थे, दूसरी ओर नवीनता थी, स्वतन्त्रता और प्रगतिशीलता थी, जागरूकता एवं नवोन्मेष की भावना से ओतःप्रोत युग उन्हें बुला रहा था। समकालीन नारी मनःस्थिति दूसरे मार्ग पर तीव्रता से चलने का आत्मसात् करने का प्रयत्न किया, जो उनका दुराग्रह मात्र ही था। उनकी नायिकाएं कृत्रिमता एवं अस्वाभाविकता की कहानी स्वयं कहती हैं। उनमें किंचितमात्र भी स्वाभाविकता नहीं है। वे एक प्रकार से प्राणहीन है। जीवन-स्पन्दन से वंचित हैं। उनका जीवन उनका अपना नहीं है। वह यान्त्रिक है। उनका अस्तित्व एक प्रकार से कठपुतलियों की भांति है। जिनके डोरें उपन्यासकार

अपनी इच्छानुसार जैसा था (वैसा खींच सकता है, और जिधर चाहे, उस दिशा में मोड़ सकता है। ये सभी नायिकाएं उस युग की नारी स्थिति का प्रतिनिधित्व करतीं, वरन् उपन्यासकारों के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती हैं। यह तो पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि इन उपन्यासकारों का दृष्टिकोण रूढ़ियों से जकड़ा हुआ था। अन्धविश्वासों एवं परंपराओं के बंधन में बंधा हुआ था। वे प्रगतिशीलता के विरोधी थे। और नारियों के ऊपर विश्वास करने को तत्पर नहीं थे। पिछले अध्याय में यह विस्तार के साथ दिखाया जा चुका है कि इन उपन्यासकारों ने अपने इस हास्यास्पद दृष्टिकोण के पोषण के लिए जो तर्क उपस्थित किए हैं, वे कुछ और नहीं उनके दुराग्रह मात्र हैं। अतः समग्र रूप में इस युग की नायिकाएं समकालीन नारी परिस्थितियों में अपना सामंजस्य नहीं स्थापित कर पातीं। तत्कालीन नारियां प्रगति की ओर उन्मुख हो रही थीं, और उनमें नवीनता की प्रवृत्ति थी इसके विपरीत इस युग की नायिकाएं पिछड़ेपन की ओर उन्मुख हो रही थीं और उनमें प्रगतिहीनता की प्रवृत्ति थी। इस युग की नारियों में शिक्षा का प्रसार हो रहा था, नायिकाओं में शिक्षा का पतन हो रहा था। नारियों में अपने राजनीतिक सामाजिक अधिकारों की प्राप्त की दिशा में प्रगतिशीलता लक्षित हो रही थी, पर नायिकाओं में कहीं इसका नामोनिशान भी नहीं था। वास्तव में इसका प्रधान कारण यह था कि इस काल के उपन्यासकारों ने या तो समय की गति और युगीन परिस्थिति की यथार्थता को नहीं पहचाना, और यदि पहचाना भी तो उसकी जान-बूझ कर उपेक्षा की। और अपने आदर्शवादी परम्परा की धुन में उन्होंने यही सोच लिया था कि वर्तमान गति को रोक कर वे परम्पराओं और रूढ़ियों को पुनर्जीवित कर सकते हैं। स्पष्ट है कि अपने इस उद्देश्य में उन्हें सफलता नहीं प्राप्त हो सकती थी, क्योंकि समय की परिवर्तनशीलता को रोक पाना सहज सम्भव नहीं है। इस काल में औपन्यासिक नायिकाओं के स्वरूप में इस प्रकार कोई विकास नहीं हुआ। नायिकाओं का जो स्वरूप प्राप्त भी होता है, उसे आगे आने वाले युग की भूमिका ही समझनी चाहिए, कुछ और नहीं। पर जैसा कि पीछे कई स्थलों पर यह बात स्पष्ट की जा चुकी है, हिन्दी उपन्यासों का यह प्रारम्भिक काल था, और नायिकाओं के स्वरूप विकास की दृष्टि से यह भूमिका विशेष प्रभावशाली न होते हुए भी यथेष्ट था। प्रारम्भिक उपन्यासकारों ने लम्बे गौरवशाली विकास पथ का निर्माण कार्य प्रारम्भ कर दिया था, जिसका पूर्ण विकास आगे के युगों में हुआ, यही क्या कम महत्वपूर्ण है ? इसलिए अपनी तमाम अस्वाभाविकताओं, रूढ़ियों, जर्जरित परम्पराओं में जकड़े होने एवं युग दिशा की मात्रा में पिछड़े होने के बावजूद भी इस काल की औपन्यासिक नायिकाएं महत्वशून्य नहीं हैं। यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि पूर्व-प्रेमचन्द काल की औपन्यासिक नायिकाएं ही वह नींव की पत्थर हैं, जिस पर प्रेमचन्द और उनके समकालीन उपन्यासकारों ने दीवालें खड़ी कीं और उत्तर-प्रेमचन्द काल

के उपन्यासकारों ने छत डाल कर उस भवन का निर्माण कार्य पूर्ण किया। इस प्रकार नायिकाओं का स्वरूप विकास क्रमशः ही हुआ जाना समझना चाहिए।

प्रेमचन्द काल

प्रेमचन्द के हिन्दी उपन्यासों में आगमन के साथ ही उपन्यास क्षेत्र में परिवर्तन की नई दिशाएं लक्षित हुई और आशापूर्ण संभावनाओं का सूत्रपात हुआ। इस काल में शैली एवं शिल्प तथा विषय वस्तु आदि की दृष्टि से ही परिवर्तन नहीं हुआ, वरन् पात्रों एवं उनके चरित्र चित्रण के ढंग में भी परिवर्तन हुए। पिछले काल में यथार्थवाद का कहीं नाम नहीं था, पात्र या तो पूर्णतया कल्पित होते थे, और या जीवन के किसी क्षेत्र से लिए भी जाते थे, तो उन पर सुधारवादिता की झोंक में आदर्शवाद का इतना गहरा मुलम्मा चढ़ा दिया जाता था कि वे पूर्णतया अस्वाभाविक से प्रतीत होने लगते थे, उनकी आत्मा मर जाती थी और उनमें से जीवन तत्व समाप्त हो जाते थे। उनकी प्रभावशीलता समाप्त होकर वे पूर्णतया निर्जीव प्रतीत होते थे। यही कारण था कि जीवन और जगत से दूर होने के कारण वे पात्र समाज पर उतना प्रभाव डालने में पूर्णतया असमर्थ रहते थे, जितना कि तत्कालीन उपन्यासकार समझते थे। उन पात्रों के स्वरूप को देखकर पाठकों को हँसी आती थी और वे केवल मनोरंजन की दृष्टि से परखे जाते थे, न कि कोई प्रभाव विशेष ग्रहण करने की दृष्टि से। पर इस काल में वैसी बात न रह सकी। ऐसी बात नहीं है कि इस काल के उपन्यासकारों ने सुधारवादी दृष्टिकोण का तिरस्कार कर दिया हो या उसे अस्वीकृत कर दिया हो तथा इसके साथ ही आदर्शवादी मान्यताओं को उन्होंने निस्सार सिद्ध कर दिया हो। इस काल के उपन्यासकारों का भी दृष्टिकोण आदर्शवादी ही था और उन्होंने भी अपना उद्देश्य सुधारवादी ही बना रखा था। पर उन्होंने एक काल्पनिक संसार की सृष्टि न कर उपन्यासों का सम्बन्ध प्रत्यक्षतः मानव जीवन से सम्बद्ध कर दिया और यथार्थवाद के प्रति भी अपना आग्रह प्रकट करने लगे।

यथार्थवाद ने उपन्यास लेखन शिल्प के ऊपर अपना स्थायी प्रभाव डाला, और साहित्य के जितने भी रूप उस समय प्रचलित थे, उसमें उपन्यास साहित्य पर ही इसका विशेष प्रभाव पड़ा और यथार्थवाद की आधारशिला पर ही उपन्यासों का ताना-बाना निर्मित होना प्रारम्भ हुआ। तभी वह जन-जीवन के अधिक निकट भी आया और इसके साथ ही उपन्यासों की लोकप्रियता में भी आशातीत वृद्धि हुई, क्योंकि इस स्थिति में उपन्यासों में सत्यता एवं स्वाभाविकता का आभास अधिक मात्रा में प्रतिध्वनित होने लगा। अभी तक कल्पनाशीलता और अस्वाभाविकता के जिस वातावरण ने उपन्यासों को अपने आवरण में जकड़ रखा था, यथार्थवाद ने समय से उसका मूलोच्छेदन करके उपन्यासों को उचित रूप से दिशोन्मुख किया। यथार्थवाद वास्तव में वस्तुओं के यथातथ्य चित्रण पर बल नहीं देता, अपितु सत्यानुभूति से प्रेरित चित्रण पर बल देता है। यदि कोई उपन्यास मात्र इसलिए यथार्थ-

वादी है, कि इसमें जीवन का चित्रण तटस्थ दृष्टि से किया गया है, तो यह केवल अन्वेषित रोमांस ही होगा। यथार्थवाद वास्तव में बहुविविध मानव अनुभवों के पूर्ण एवं चित्रण का प्रयत्न करता है, न कि किसी विशेष साहित्यिक दृष्टिकोण का। यथार्थवाद उस जीवन प्रकार में नहीं अवस्थित रहता, जो उपन्यासों में प्रस्तुत किया जाता है; वरन् उस जीवन प्रकार के प्रस्तुतीकरण की शैली में विद्यमान रहता है और विकसित होता है। यथार्थवाद इस सत्य का समर्थन करता है कि साहित्य सृजन न तो प्राणहीन स्तर पर जीवित रह सकता है, जैसा कि प्रकृतवादियों ने दावा किया था और न किसी व्यक्तिवादी सिद्धान्त पर, जो स्वय अपने स्वत्व का शून्य में विलय कर देता है।[1] वास्तविक महान् यथार्थवाद इस प्रकार मानव और समाज का उनके पूर्ण रूप में चित्रण करता है और उनके एक या दो विशेषताओं मात्र के चित्रण के प्रति अपनी अनास्था का भाव प्रकट करता है।

यथार्थवाद त्रुटिपूर्ण विषयों एवं उद्देश्यों के बीच कोई समझौता करता है, यह सोचना या समझना पूर्णतया भ्रामक है। यथार्थवाद एक ऐसे मार्ग के अनुगमन पर बल देता है जो विकसनशील सृजन प्रक्रिया से सम्बन्धित है। इस विकसनशील सृजन प्रक्रिया के मार्ग में जो भी शक्तियाँ अवरोध उपस्थित करती हैं, यथार्थवाद उन्हें तिरस्कृत कर उनके प्रति अनास्था का भाव प्रकट करता है। इस प्रकार यथार्थवाद ऐसे सत्य को उद्घोषित एवं समर्थित करता है कि मानव और समाज को खण्डित रूप में नहीं, वरन् उनके पूर्ण रूप में चित्रित करना ही श्रेयस्कर है। उनके खण्डित एवं असत्य रूप उन्हें सह्य नहीं है और वह उन्हें अस्वीकार करता है। वह केवल एक पक्ष या दो पक्षों का चित्रण मात्र कर ही संतोष नहीं कर लेता। यथार्थवादी यद्यपि कल्पना का पूर्ण तिरस्कार तो नहीं करता, पर कल्पना से उसका सम्बन्ध वहीं तक रहता है, जहाँ तक उसकी अनिवार्यता रहती है। कला सम्बन्धी कोई सृजनात्मक प्रक्रिया तभी सम्भव होती है, जब कल्पना और यथार्थ समन्वित रूप से नवीन निर्माण कार्य में संलग्न होते हैं। चेखव ने एक स्थान पर लिखा है कि यथार्थवाद बाह्य जगत का ही अनुगमन नहीं करता, वरन् वह महती उद्देश्यों से प्रेरित होता है। अतः कहा जा सकता है कि यथार्थ तत्वों का ज्यों का त्यों चित्रण

---

१. "Realism, however is not some sort of middle way between false objectivity and false subjectivity, but on the contrary the true, solution, bringing third way, opposed to all the pseudo-dilemmas engendered by the wrongly posed question of those who wonder without a chart in the labyrinth of our time.... Realism is the recognition of the fact that a work of literature can rest neither on a lifeless average, as the naturalists suppose, nor on an individual principle which dissolves its own self into nothingness."

—जॉर्ज ल्यूकाच : स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म, (१६५०), लन्दन, पृष्ठ ६।

करना न तो वांछनीय है, न सम्भव ही है। इसीलिए थोड़ी बहुत कल्पना का आश्रय साहित्य-सृजन में ग्रहण किया जाता है, जिससे वे चीज़ें, जो यथार्थ हैं और प्रस्तुत करने के लिए वांछनीय है, एक विशिष्ट दृष्टिकोण से एक विशेष परिवेश में उपस्थित हो सकें। यथार्थवाद इसीलिए सामयिक परिस्थितियों पर अधिक बल देता है और कल्पना की अनिवार्य आवश्यकता के माध्यम से उन्हें सत्य ढंग से प्रस्तुत करता है। इस प्रकार यथार्थवाद से अभिप्राय उस चतुर्मुखी दृष्टिकोण से है, जो स्वतन्त्र जीवन, चरित्रों एवं मानवीय सम्बन्धों से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है। यह किसी भी रूप में भावुक एवं बौद्धिक शक्तियों का तिरस्कार नहीं करता, जो अनिवार्यतः आधुनिक युग में विकसनशील अवस्था में प्राप्त होती हैं। यथार्थवाद का विरोध मात्र उन अवरोधक शक्तियों से है, जो मनुष्य की पूर्णता एवं व्यक्ति तथा परिस्थितियों की वस्तुगत विचित्रता को क्षणिक मुद्रा के माध्यम से खण्डित एवं नष्ट करती हैं।

वैसे यथार्थवाद के कई अर्थ हो सकते हैं, पर यथार्थ वास्तव में यथार्थ ही होता है, जिसे या तो भावनाओं के माध्यम से या फिर मानस के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है, या फिर दोनों के ही माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है।[1]

---

१. 'Whatever our philosophical belief, whether we be idealist, materialist, realist or phenomenalist, reality is always reality expressed by senses or by mind, or more truely by both. As such it is ever changing and never has that mechanical cause-and effect relationship which we find in the material world or in the field of science. There seem to be sound reason for believing that there is a phenomenal world to which mankind belongs, but what is certain is that this phenomenal world can only be known and given meaning as part of human consciousness; therefore, whatever it is it is certainly not something fixed and unchanging which any human being could appropriate and claim to own as the reality There is no true reality except that of the essences and as far as historical time is concerned, that of forms, (Forms is always used with its philosophical meaning of essence or substantial being of a thing.) embodied in the permanent symbols of art. Reality is something whose meaning varies, and that also applies to works of art; for although they retain the identity of the material of which they are made, and although, once created, they are, they only exist as works of art while they are apprehended by a human consciousness."

—जोसेफ़ चिएरी : रियलिज्म एण्ड इमैजिनेशन, (१९६०), लन्दन, पृष्ठ २२-२३।

यथार्थवाद वेदना से निवृत्ति नहीं स्वीकारता। मानव जीवन की कुंठाएं, वर्जनाएं एवं असंतोषप्रद स्थितियों की भयंकरता से यथार्थवाद मुख नहीं मोड़ता, उनका साहस के साथ चित्रण करता है। वह मानव की अखण्डता पर तो विश्वास करता है, पर आदर्शवादियों की भाँति उसे देवता नहीं बना देता। मनुष्य कुरूपताओं एवं विशेषताओं के परस्पर समन्वय का ही रूप होता है। यथार्थवाद इसी समन्वय को दोनों पक्षों पर समान रूप से बल देता है और सत्य स्थिति के चित्रण में हिचकता नहीं। यथार्थवाद समाज की प्रमुख एवं ज्वलन्त समस्याओं को ही अपने चित्रण के लिए चुनता है और समकालीन मानवीय घुटन, पीड़ाओं आदि के यथार्थ चित्रण में ही उसकी लेखकीय स्थिति सुदृढ़ रहती है। यथार्थवाद की दृष्टि तथ्यात्मक है। तथ्य विज्ञान पर आधारित होते हैं और इन्हीं तथ्यों का अन्वेषण करना यथार्थवाद की प्रमुख प्रवृत्ति होती है। यथार्थवाद की सबसे बड़ी शर्त एवं माँग है कि लेखक बिना किसी भय, संकोच एवं पक्षपात पूर्ण दृष्टि के अपने सृष्टि के सादृश्य से प्राप्त अनुभवों एवं अपने चारों ओर के परिवेश का ईमानदारी के साथ विवरण प्रस्तुत करे। यथार्थवाद ने कला का सम्बन्ध विज्ञान से स्थापित किया है और उसे विश्लेषण शक्ति से विभूषित किया है। यथार्थवाद कट्टर सामाजिक व्यवस्थाओं, रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों के प्रति अनास्था का भाव प्रकट करता है। यथार्थवाद की सीमाएं केवल उच्चवर्गीय व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है, वह मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय व्यक्तियों को समान रूप से अपने चित्रण का आधार बनाता है। वह पात्रों की चारित्रिक दुर्बलताओं को स्वीकार करता है और आदर्शवादियों की भाँति जानबूझ कर उसे एक अस्वाभाविक विशिष्ट मोड़ दे देना उसे स्वीकार्य नहीं है। यथार्थवाद लघुता के प्रति कभी अपनी विरक्ति नहीं प्रकट करता और न ही दैवीय शक्तियों के प्रति उसकी आस्था रहती है। यथार्थवाद जीवन के सत्य को चित्रित करता है और उन जीवन सत्यों में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं रखता। यथार्थवाद स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर उन्मुख होता है और परिवर्तनशील परिस्थितियों तथा वैचारिक दृष्टिकोणों से प्रेरणा ग्रहण कर कला को नवीन वातावरण में गतिशील करता है। यथार्थवाद व्यक्ति को समाज का अभिन्न अंग स्वीकार कर उसकी अखण्डता के प्रति आस्थावान् है। वह व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता एवं समाज निरपेक्ष अस्तित्व को अस्वीकार करता है। प्रतिभा के अभाव में यथार्थवादी चित्रण एक विद्रूप बन जाता है और कलात्मकता का अभाव उसकी विशेषताओं को न्यून कर देता है।

पर प्रेमचन्द और उनके समकालीन उपन्यासकारों ने शुद्ध रूप से यथार्थवाद का अनुगमन नहीं किया। उन्होंने यथार्थवाद की 'भयंकरता' से समझौता कर लिया और आदर्श एवं यथार्थ का परस्पर समन्वय कर आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का पालन करना प्रारम्भ किया। वस्तुतः यह तो निर्विवाद है कि न तो कोई औपन्यासिक कृति शुद्ध यथार्थवादी धरातल पर लिखी जा सकती है और न घोर आदर्शवादी धरातल पर। सत्य तो यह है कि दोनों का समन्वय ही युग सापेक्ष्य है और महान् कलाकारों ने यही

किया है। उन्होंने आदर्श और यथार्थ का समन्वय करके ही अपनी औपन्यासिक कृतियों की सृजना की है। इस समन्वय को ही आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहते हैं। आदर्शवाद में प्राणों का वेग संचारित करने के लिए ही यथार्थवाद आलम्बन रूप में ग्रहण किया जाता है। प्रेमचन्द के अनुसार वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने के लिए ही यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। अतः स्पष्ट है कि आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का समर्थक उपन्यास का अपना विवरण यथार्थवादी ढंग से उपस्थित तो करेगा। किन्तु उस पर आदर्शवाद का मुलम्मा या पालिश चढ़ाता जाएगा, जिससे कि उपन्यास पढ़ते समय पाठक अपने व्यक्तिगत जीवन की क्षुधा, तृष्णा, विवशता, लाचारियों एवं अन्य अनेक अवसादों से ग्रस्त मानवीय उत्पीड़नों को भूल आशा और विश्वास, अपनी गौरवशाली संस्कृति की परम्परा के प्रति आस्थामय अनुभूति का अनुभव करे। यथार्थ और आदर्श दोनों ही जीवन के लिए आवश्यक होते हैं।[1] वैसे विचारों के क्षेत्र में आदर्श और यथार्थ के सम्बन्ध में बराबर विचार किया जाता रहा है[2] और दोनों के अंतर को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जाता रहा है।

---

१. 'Idealism is the driving force of all vital culture—that which creates, but also that which revives and reforms.... Realism and idealism are both necessary life forms of the human reason. In a sense they are intellectual transmatations of the will to life itself The cry we must know is a form of the cry we must live."

—विल्बर मार्शल अर्बन : बियॉड़ रियलिज्म एण्ड आयड़ियलिज्म, (१९४९), लन्दन पृष्ठ ७-८।

२. "The realist thinks genuine knowledge is possible unless the thing known is independent of the knower and the ideals thinks that genuine knowledge is impossible if it is wholly independent—unless there be mutual implication of knower and known. It is this debate that in one form or another, they are constantly carrying on, and this belongs, as we shall see more specifically presently, wholly to the world of discourse and dialectic ... Idealism is protean in its forms and is able to raise its head again after every blow—to find a form for every cultural and scientific climate. Realism is the artaeus of philosophy; and like that hero, renews its strength every time it touches the ground of natural instinct or prejudice. Each of these tendencies has crystallized into a 'logic' of its own—has in fact made its own logic based upon its own assumptions."

—विल्बर मार्शल अर्बन : बियॉड़ रियलिज्म एण्ड आयड़ियलिज्म, (१९४९), लन्दन, पृष्ठ २७-३१।

प्रेमचन्द काल के सभी उपन्यासकारों ने आदर्श के परस्पर समन्वय करके ही अपनी नायिकाओं का स्वरूप प्रस्तुत किया है। इस काल में नायिकाओं के ऊपर से उस भोंडे, कृत्रिम और अविश्वास पूर्वक आवरण को उतारकर, जिसे पूर्व-प्रेमचन्द काल के उपन्यासकारों ने अपनी तथाकथित आदर्शवादिता एवं सुधारवादिता की झोंक में आकर पहना दिया था और जिसके फलस्वरूप इन नायिकाओं का स्वरूप बोझिल ही नहीं हो गया था, आडम्बरपूर्ण और अविवेकपूर्ण सा प्रतीत होने लगा था, नारी की आत्मा को उसकी तमाम अच्छाइयों और बुराइयों के साथ यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया। इस काल में नारी समाज के सम्मुख एक भीषण प्रश्न चिन्ह के रूप में उपस्थित थी। दहेज प्रथा अपने भयंकर रूप में सामाजिक अभिशाप बनकर नारियों के सुखमय जीवन में विष घोल रही थी! वैधव्य और वेश्यावृत्ति की भयानक छायाएं अलग नृत्य कर रही थीं, जिसकी आवाज में नारी की कल्पनाएं, उनके स्वर्णिम भविष्य और सुख-संतोष की भावना डूब कर निष्प्राण हो गई थीं। समाज अट्टहास कर रहा था और नारियाँ अनमेल विवाह का शिकार बन अभिशप्त जीवन व्यतीत करने को बाध्य हो रही थीं। यद्यपि शिक्षा का प्रसार नारियों में हो रहा था, पर उसे वह गति नहीं प्राप्त हो रही थी, जो वास्तव में प्राप्त होनी चाहिए थी। नारी की आर्थिक परतन्त्रता ज्यों की त्यों विद्यमान थी और वे पुरुषों के ऊपर आश्रित थीं। परिवार टूटते जा रहे थे और उस विशृंखलता में व्यक्तिवादी दृष्टि-कोण उभर रहा था। इन समस्याओं को प्रेमचन्द के नेतृत्व में युगीन उपन्यासकारों ने चित्रित करने का प्रयत्न किया पर इस सन्दर्भ में उन्होंने जिन नायिकाओं की परिकल्पना की हैं, उनमें आदर्श और यथार्थ का संतुलन प्रायः बिगड़ गया है, और यथार्थ की अपेक्षा आदर्श का पुट कुछ अधिक आ गया है, पर उतना नहीं, जितना कि पिछले युग में था और जिसके कारण वे अस्वाभाविक प्रतीत हों। हाँ इतना तो अवश्य ही है कि उनकी स्वाभाविक गति में अब भी उतनी वृद्धि नहीं हुई, वस्तुतः जितनी होनी चाहिए थी।

इस काल की नायिकाएं केवल घर की चार दिवारी तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि उनका प्रवेश राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन में भी अधिकांश रूप से हो गया था। वे सामाजिक और राजनीतिक जीवन से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हो गई थीं। वैसे इसका यह अर्थ नहीं है कि परिवार में उनकी स्थिति नगण्य हो गई थी, या स्वयं इन नायिकाओं ने ही परिवार की उपेक्षा की थी। परिवार का वे इसी प्रकार सम्मान करती थीं, जैसे पहले, पर पारिवारिक व्यवस्था के साथ सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था के साथ वे सम्बद्ध हो गई थीं। 'प्रेमचन्द के 'कर्म भूमि' की प्रधान नारी पात्र सुखदा इसी भावना का प्रतिनिधित्व करती है। इस काल की नायिकाएं आत्मपीड़ा सहन करने एवं अपनी दयनीय स्थिति में चुपचाप जीवन जीने की भावना से ओतःप्रोत हैं। यद्यपि किसी भी उपन्यासकार ने उन नायिकाओं का विद्रोह नहीं चित्रित किया है, फिर भी उनका असन्तोष कई स्थलों पर चित्रित किया

गया था। इस असंतोष चित्रण से इस काल की नायिकाओं में काफी स्वाभाविकता की वृद्धि हो गई है। पिछले युग की नायिकाओं में यह बात नहीं थी। यह लेखकों का एक प्रकार का आदर्शवाद ही था। पर पिछले युग की तुलना में यह आदर्शवादी लेप अत्यन्त न्यून मात्रा में था और केवल समस्याओं के समाधान तक ही सीमित था, समस्याओं को प्रस्तुत तो यथार्थवादी ढंग से ही किया गया था। पर इस मात्रा में प्रयुक्त आदर्शवाद ने भी नायिकाओं के स्वरूप को यथेष्ट मात्रा में प्रभावित किया और यदि विकास क्रम की दृष्टि से परिलक्षित किया जाए, तो इस काल की नायिकाएं पिछले काल की नायिकाओं से, जहाँ तक आदर्शवाद का प्रश्न है, कुछ विशेष भिन्न नहीं हैं। हाँ, यदि कोई अन्तर है तो मात्र इतना ही कि उनका स्वरूप काफी जाना पहचाना सा प्रतीत होता है, और यदि उन्हें यान्त्रिक न बनाया गया होता, तो कदाचित् वे साहित्य की अमर नायिकाएं होतीं। इस काल की सभी नायिकाओं में सौजन्यता है, सहिष्णुता है, थोड़ी बहुत त्यागवृत्ति है, परिवर्तनशीलता के प्रति आग्रह है और वे सभी नवोन्मेष की भावना से ओतःप्रोत हैं। यद्यपि उन्हें इन सब बातों के साथ ही अपने जीवन के गौरव, मर्यादा, आत्मसम्मान एवं परम्पराओं के प्रति भी मोह हैं, पर इस रूप में नहीं कि वे अपने को रूढ़ियों से युक्त न कर सकें।

इस काल की नायिकाओं में सबसे प्रमुख विशेषता तो यह लक्षित होती है कि उन्होंने किसी दबाव में आकर अपनी आत्मा का हनन कर आत्म-प्रवंचना को आत्मसात् नहीं किया। उनके अन्दर अपने प्राण हैं, किसी दूसरे के नहीं। वे अपनी साँसों के बल पर जीती हैं, किसी दूसरे की साँसों के आश्रय पर नहीं। वे इस प्रकार जीवन शक्तियों की प्रतीक हैं, प्राणहीन कायाएं मात्र नहीं हैं। जहाँ तक प्रेम का प्रश्न है, इन नायिकाओं को प्रेम सम्बन्धी वह नियन्त्रण नहीं सहना पड़ता, जो पिछले युग में था। उन्हें थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता प्राप्त हुई थी, पर इस बात का अवश्य ही ध्यान रखा गया कि वे उच्छृंखल न हो जाएं। उन्हें रूढ़ियों से मुक्त कर जीवन की वास्तविक मर्यादा की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया गया। इस काल के किसी भी उपन्यासकार ने यह घोषित नहीं किया कि वेश्यावृत्ति का प्रचलन समाज में आवश्यक है। सभी ने एक स्वर से वेश्यावृत्ति का विरोध किया और वेश्या-विवाह एवं उत्थान का समर्थन किया। इस काल में विधवा विवाह का भी स्पष्ट शब्दों में समर्थन किया गया और वेश्या प्रेम तथा विधवा प्रेम की भी मान्यताएं स्वीकृत की गई। इस प्रकार प्रेमचन्द काल में हमें नायिकाओं का ऐसा स्वरूप प्राप्त होता है, जो पिछले युग की नायिकाओं की अपेक्षा अधिक विकसित है, साथ ही सत्य भी। उनमें काल्पनिकता का समावेश पिछले युग की भाँति नहीं है और वे युग जीवन के अधिक निकट हैं। पर इस निकटता पर आशंका, संकोच एवं दुराग्रह की छाया भी अपरोक्ष रूप से अंकित हैं, यह स्वीकार करना होगा। सुमन के जीवन की समस्याओं का समाधान आश्रय में नहीं, विद्रोह में था। ऐसा विद्रोह जो समाज की व्यवस्था को

उलट-पुलट सकता था, जो नारियों के भीतर सुलग रही थी, पर प्रस्फुटित नहीं हो पा रही थी और जिसके लिए उन्हें नेतृत्व की आवश्यकता थी। निर्मला के मन का विद्रोह भी जबर्दस्ती नियन्त्रित किया गया है। यही स्थिति तितली आदि की भी है। यह परम्परागत मोह के कारण ही हुआ है। प्रेमचन्द अपने विचारों में प्रगतिशील तो थे, पर प्रारम्भ में काफी समय तक वे अपना परम्पराओं का मोह नहीं त्याग पाए थे। सुमन का विवाह सदन सिंह से वे इसीलिए नहीं करा पाये हैं, क्योंकि वेश्या विवाह को अच्छा समझते हुए भी वे समाज में विद्रोह नहीं उपस्थित करना चाहते। इस कार्य को "माँ" में विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक" ने किया, जब बन्दीजान वेश्या की दोनों बेटियों का विवाह हो जाता है। इस प्रकार नायिकाएं विकास पथ की ओर निरन्तर अग्रसर होती रही और उनमें प्रगतिशीलता का संचार होता रहा।

उत्तर-प्रेमचंद काल

इन नायिकाओं का व्यक्तित्व उत्तर-प्रेमचन्द काल में और भी निखरा एवं संवरा तथा सबल एवं सशक्त हुआ। इस काल में मनोविज्ञान के साथ ही अन्य अनेक नवीन औपन्यासिक प्रवृत्तियों के क्षेत्र में प्रवेश किया और उपन्यासकारों को प्रभावित किया, जिसके फलस्वरूप सर्वथा नवीन प्रकार की नायिकाओं की परिकल्पना की जाने लगी। अभी तक नायिकाओं की परिकल्पना का स्रोत परम्परागत रूपों में अथवा समाज की समस्याओं में निहित था, पर अब उपन्यासकारों का ध्यान इस ओर कम जाकर इन नवीन प्रवृत्तियों की ओर गया और एक नई नारी का जन्म हुआ, जो सापेक्ष्य तो थी, पर उसमें युग से लड़ने और जीवित रहने की क्षमता भी थी। इन नवीन प्रवृत्तियों में फ्रायड का मनोविश्लेषणवाद, व्यक्तिवाद, समाजवाद, अस्तित्ववाद आदि प्रमुख हैं। फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद की पीछे विस्तार से चर्चा की जा चुकी है।[1] यहाँ उसका उल्लेख करना पिष्टपेषण मात्र ही होगा।

व्यक्तिवाद की परिधि में एक पूरा समाज आ जाता है, जो प्रत्येक व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्र विचारधारा, जो उसे दूसरे व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न स्थान प्रदान करती है तथा विचार एवं कार्यों की प्राचीन परम्परा से अलग रहने की प्रवृत्ति से संचालित होता है। 'परम्परा'—एक ऐसी शक्ति है, जिसमें सदैव सामाजिक तत्वों का समावेश होता है न कि व्यक्तिवादी तत्वों का। इस प्रकार के समाज का अस्तित्व स्पष्ट है, एक विशिष्ट ढंग के वैचारिक दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। विशेष रूप से एक आर्थिक और राजनीतिक संगठन पर, जो अपने सदस्यों को अपने द्वारा संपादित किए जाने वाले कार्यों में विभिन्न वैचारिक दृष्टिकोण अपनाने की व्यापकता, तथा उस व्यक्तिगत आयडियोलॉजी अपनाने की स्वतन्त्रता, जो प्राचीन परम्पराओं पर नहीं, वरन् व्यक्तिगत लोगों की व्यक्तिगत इच्छाओं पर आधारित

1. देखिए : अध्याय ३, (नवीन नारी मनोविज्ञान)।

है, चाहे उनकी सामाजिक स्थिति कुछ भी हो, और चाहे उनकी अपनी व्यक्तिगत सीमाएं कुछ भी हों। यह साधारणतया निश्चित है कि आधुनिक समाज असाधारण रूप से इस सन्दर्भ में व्यक्तिवादी है और इसके आविर्भाव के अनेक कारणों में से दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। एक तो आधुनिक व्यावसायिक पूंजीवाद का उदय एवं विकास तथा दूसरे विरोधवाद का व्यापक विस्तार, विशेषतया उसके शुद्धतावादी रूप का विस्तार।

व्यक्तिवादी आर्थिक सिद्धान्तों के कारण व्यक्तिगत एवं सामूहिक सम्बन्धों का, विशेषतया काम (Sex) पर आधारित सम्बन्धों का महत्व पूर्णतया समाप्त हो गया और जैसा कि वेबर का कथन है, मानव जीवन के बुद्धिहीन तत्वों में काम (Sex) के सर्वाधिक महत्वपूर्ण होने के कारण वह व्यक्ति के आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किए गए कार्यों में सबसे बड़ा सिर दर्द बन गया है। फलस्वरूप उसे व्यावसायिक पूंजीवाद की आयडियोलॉजी के कठोर नियन्त्रण में डाल दिया गया है। एक अन्य विचारक के अनुसार श्रम के प्रगतिशील वर्गीकरण में जब कि हम अत्यधिक उपयोगी नागरिक बन जाते हैं। हम मनुष्य के रूप में अपनी पूर्णता समाप्त कर देते हैं। आधुनिक समाज का पूर्ण संगठन नवीन अन्वेषण की प्रवृत्ति और स्वतन्त्र प्रयत्नशीलता को लगभग समाप्त कर देती है और तब बहुत न्यून मात्रा में मानवीय रुचि शेष रह जाती है। इस स्थिति का समाधान या तो समाचारपत्रों में या फिर उपन्यासों में प्राप्त किया जा सकता है। वास्तव में व्यक्तिवाद की स्थायी उपलब्धि धार्मिक आन्दोलन एवं सुधार के कारण प्राप्त हुई न कि धर्म निरपेक्षिता एवं पुनर्जागरण के कारण। यद्यपि इस प्रकार के विवाद बहुत अधिक तर्कसंगत नहीं कहे जा सकते और व्यक्तिवाद के उदय एवं विकास की उपलब्धियों में कौन तत्व अधिक महत्वपूर्ण थे, कौन तत्व कम महत्वपूर्ण थे, मात्र इसी पर विवाद कर अपने मतों की प्रतिष्ठापना से कोई विशेष लाभप्रद स्थिति नहीं प्राप्त होगी। किन्तु इतना निश्चित एवं सत्य है कि एक तत्व प्रोटेस्टेन्ट के सभी रूपों में सर्वमान्य है कि मनुष्य एवं ईश्वर के बीच मध्यस्थ के रूप में चर्च की सत्ता पूर्णतया समाप्त हो गई और उसके स्थान पर धर्म का एक सर्वथा भिन्न स्वरूप प्रतिपादित हुआ, जिसमें व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता स्वीकृत की गई और अपनी स्वयं की आत्मिक अभिव्यक्तियों एवं तत्सम्बन्धित रूप में दिशोन्मुख होने का पूर्ण उत्तरदायित्व व्यक्ति के कन्धों पर ही डाल दिया गया। इस नवीन प्रोटेस्टेन्ट भावभिव्यक्ति की दो मुख्य विशेषताएं थीं...प्रथम यह कि व्यक्ति द्वारा स्वयं एक आत्मिक सत्ता के रूप में अपनी चेतनता की वृद्धि करने की प्रवृत्ति, और दूसरे नैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण को प्रजातांत्रिक आधारभूमि पर स्थापित करने की प्रवृत्ति।

व्यक्तिवाद के आधुनिक स्वरूप के विकास एवं उपन्यासों के विकास की पृष्ठभूमि में इन शुद्धतावादियों की महत्वपूर्ण देन है, जिसका उचित मूल्यांकन होना चाहिए। यह वस्तुतः शुद्धतावाद ही था, जिसके माध्यम से डेनियल डेफो ने उपन्यासों में

व्यक्ति की सत्ता स्वीकार करने और उसके मनोवैज्ञानिक संभावनाओं से अपने को पूर्णतया अलग कर दिया था, जिससे कि वह व्यक्ति की एकान्तिकता का चित्रण कर सके और यही कारण था कि उनकी कृतियाँ उन पाठकों में अत्यधिक लोकप्रिय हुई, जो अपने को सबसे अलग मानते थे। ऐसे पाठकों ने डेफो को महान् लेखक की संज्ञा से विभूषित किया, क्योंकि उसने प्रथम बार व्यक्ति की सत्ता स्वीकार कर उसकी एकान्तिकता का चित्रण करने का प्रयत्न किया था। व्यक्तिवाद की इस विचारधारा का भी विरोध भी किया गया और कहा गया कि व्यक्ति की एकान्तिकता अत्यन्त हानिप्रद है और पीड़ादायक है और इस पथ पर चलकर मानव जीवन पशु जीवन के समान हो जाता है और उसका मानसिक ह्रास होता है। इन आलोचकों का डेफो ने बड़े विश्वासपूर्ण ढंग से उत्तर दिया उसने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति के सामर्थ्य को पूर्ण रूप से समझ लेने के पश्चात् ही इस एकान्तिकता की स्थिति उत्पन्न की जा सकती है और पिछली दो शताब्दियों में व्यक्तिवाद के एकान्तिक पाठक इसकी आलोचना नहीं वरन् इस पर अपना हर्ष प्रकट करेंगे कि व्यक्तिवादी अनुभव की विश्वव्यापी प्रतिमूर्ति एकान्तिक बन गई है। यह विश्वव्यापी है—यह शब्द यद्यपि व्यक्तिवाद के सिक्के के दूसरी तरफ बराबर अंकित मिलेगा, पर यह शब्द वस्तुतः असन्दिग्ध है। यद्यपि डेफो स्वयं इस नवीन सामाजिक एवं आर्थिक संगठन का एक आशावादी प्रवक्ता था, किन्तु तब भी उसने आर्थिक व्यक्तिवाद से सम्बन्धित न्यून मात्रा में प्रेरणादायक व्यक्तियों का चित्रण अपने उपन्यासों में किया, जिसने परिणामस्वरूप व्यक्ति को उसके परिवार एवं राष्ट्र से अलग कर दिया। डेफो के अनुसार दूसरे व्यक्तियों के सुख-दुःख हमारे लिए क्या महत्व रखते हैं? सम्भव हो सकता है कि हम सहानुभूति की शक्ति से प्रेरित होकर उसके कुछ भावों से द्रवित हो जाएं और छिपे तौर पर उन्हें अपनी सहानुभूति भी दे डालें, किन्तु अन्ततोगत्वा सभी ठोस प्रति-ध्वनियां हमारे स्वयं में ही समाहित हो जाती हैं। हमें अलग-अलग पूर्ण ढंग से रहना है। हमारी भावनाएं हमीं तक सीमित हैं। हम प्रेम करते हैं, हम घृणा करते हैं, हम व्यथित होते हैं, हम सुखी होते हैं—किन्तु यह सब अपनी व्यक्तिगत सत्ता के परिवेश में एकान्त ढंग से ही होता है। इन बातों के सम्बन्ध में यदि हम किसी से कुछ कहते हैं तो इतना ही कि अपनी इस एकान्तिकता की इच्छाओं की पूर्ति में हम उनकी सहा-यता चाहते हैं और कई एक राष्ट्र एवं दूसरों से अलग रहना चाहते हैं। यह स्वयं हमारे तक ही सीमित रहता है कि हम सुखी होते हैं या पीड़ित होते हैं।

व्यक्तिवाद ने समाज के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण की स्थापना की है। व्यक्तिवाद के अनुसार समाज का अपना स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं है, उसे व्यक्तियों ने मिलकर रचा है। इस समाज को इस बात का कोई अधिकार नहीं है कि वह व्यक्तियों के ऊपर कोई अनुशासन या नियंत्रण रखने का प्रयत्न करें। व्यक्ति स्वयं ही इतना चेतना सम्पन्न है कि वह अपनी जीवन दिशाओं के सम्बन्ध में निर्णय कर सकता है। उसे इस बात का स्वयं ही पता रहता है कि वह जिस मार्ग का अवलम्बन

कर रहा है, उस पर अग्रसर होकर वह कल्याणमयी सृष्टि कर सकेगा, या स्वयं अपने ही संहार का कारण बन जाएगा। समाज को इस सम्बन्ध में दिशा निर्देशन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जब कभी भी निरंकुशता की प्रवृत्तियों ने व्यक्तिगत अधिकारों एवं व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन करने का प्रयत्न किया है; व्यक्तिवाद द्वारा उसकी सफल सामाजिक प्रतिक्रिया हुई है। उसने समाज को स्वतन्त्र बनाने का प्रयत्न किया है। वह ध्वंसोन्मुख समाज की पलायनवादी मनोवृत्ति का प्रतीक बन कर आगे अग्रसर होता है और मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया का स्वरूप बन जाता है। इससे अन्तर्भूत व्यक्ति का अहं ही समाज एवं उसकी परिस्थितियों का वास्तविक सत्य बन जाता है और वह अन्तर्मुखी हो जाता है, और व्यक्ति की यह निःसंगता उसे आत्म वलिदान की प्रवृत्ति की ओर प्रेरित करती है। व्यक्तिवाद ने एक प्रकार से व्यक्ति को समाज से दूर किया है और उसे अपनी पीड़ाओं और सुख की स्थितियों में स्वयं अपने तक को सीमित रहने के लिए वाध्य किया है। वह व्यक्ति को पलायनवादी बनाकर समाज की सत्ता को पूर्णतया अस्वीकृत करता है।

इस युग की तीसरी प्रमुख प्रवृति जिसने औपन्यासिक नायिकाओं के व्यक्तित्व पर प्रभाव डाला है, वह है समाजवाद, जिसकी मान्यताएं मार्क्सवादी दर्शन पर आधारित हैं। मार्क्स की विचारधारा के अनुसार किसी देश के इतिहास में ऐसा भी काल आ सकता है, जिसमें कला अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। कला प्रक्रिया की यह दिशा सामाजिक प्रगति की दिशा से भिन्न होती है। मार्क्स कला के वाह्यवादी अस्तित्व को स्वीकार करता है। हमारे द्वारा रचा गया साहित्य निश्चित रूप से मानव के ऊपर प्रभाव डालेगा। मानव समाज से भिन्न कला और साहित्य का कोई अस्तित्व नहीं। उसका सृजन स्वप्न लोक में नहीं, युग जीवन के यथार्थ-वादी धरातल पर होता है। मार्क्स का विश्वास था कि मानव समाज की प्रगति में पार्थिव शक्तियाँ, जो मूलरूप से अर्थशास्त्र से सम्बद्ध हैं। अधिक मात्रा में क्रियाशील रहती हैं। मार्क्स का कहना है कि यह समाज परिवर्तनशील है, जिसका प्रभाव कला एवं साहित्य सृजन पर भी पड़ता है। इस परिवर्तनशीलता के कला और साहित्य पर पड़ने वाले प्रभाव का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि कला और साहित्य रूढ़ियों की स्थिति से युक्त रहते हैं। साहित्य में रूढ़ियों की अनिवार्य स्थिति स्वीकार की जाती है। उन रूढ़ियों को प्रगति के आवरण में आबद्ध किया जाता है या अधोगति के, यह समाज के उन्नायकों की नीतियों पर निर्भर करता है। मार्क्स-वाद के अनुसार इन साहित्यिक रूढ़ियों की उपेक्षा करना अनुचित है। इन रूढ़ियों को उस सीमा तक अपनाना आवश्यक होता है, जहाँ तक वे साहित्य की प्रगति-शीलता में सहायक होती हैं। मार्क्स के समाजवादी दर्शन के दो पक्ष है। एक विश्ले-षणात्मक, दूसरा क्रियात्मक। जब तक संघर्ष नहीं होता। प्रश्न उठता है, इस संघर्ष से वास्तविक अभिप्राय क्या है और यह संघर्ष किसके मध्य होता है? यह संघर्ष समाज के वर्गों के मध्य होता है। ये वर्ग आर्थिक विभाजन पर आधारित

का अनुभव मानव मन में तभी होता है, जब अपनी जीवन प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में वह तल्लीनतापूर्वक चिंतन-मनन करता है। इस प्रकार वह जो निष्कर्ष निकालता है, वह स्वयं उसी के लिए अत्यन्त भयानक सा प्रतीत होने लगता है। उसे प्रतीत होता है कि सृष्टि की सीमाएं अत्यन्त व्यापक हैं, और उसमें उसकी लघुसत्ता कोई विशेष महत्व नहीं रखती। उसके चारों ओर नितान्त शून्य की स्थिति व्याप्त है, जिसमें एक प्रकार से उसका उन्मीलन हो जाता है। इस शून्यता में अपने अस्तित्व के उन्मीलन के भाव से मानव पूर्णतया संत्रस्त हो उठता है और उस शून्य के वातावरण से ऊपर उठकर अपने अस्तित्व की रक्षा करना चाहता है, जिससे उसकी पूर्णता बनी रहे और उसकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रहे। इस सृष्टि के व्यापक परिवेश में आच्छादित शून्य की बाहें उसे डस न लें—इसके निराकरण का वह उपाय करता है। अस्तित्ववाद का प्रारम्भ मनुष्य की इसी इच्छा और प्रयत्नशीलता से प्रारम्भ होता है।

अभी तक दार्शनिकों ने उन दोनों भावनाओं में अलगाव की स्थिति उत्पन्न की थी, जिसमें एक व्यक्ति के अस्तित्व के नियम का कारण था, और दूसरी वह प्राकृतिक सृष्टि थी, जिसे निश्चय ही शासन करना चाहिए, जिसकी सर्वोच्च सत्ता सर्वोपरि है, जिसका उन्मीलन नहीं हो सकता। अस्तित्ववादियों के लिए यह अलगाव की स्थिति ही अभी तक प्राप्त सभी उपलब्धियों की नींव है, और दोनों के मध्य समझौते की स्थिति उत्पन्न करना तथा इस अलगाव की स्थिति का दमन करना स्वयं व्यक्तिगत अस्तित्व को ही समाप्त करना है। अस्तित्ववाद हीगल द्वारा प्रतिपादित ठोस पूर्णता का सिद्धान्त दो कारणों से अस्वीकृत कर देता है—१—इतिहास दूसरों द्वारा किए गए व्यक्तिगत निर्णयों का परिणामसूचक सत्यता से परिपूर्ण निष्कर्ष है, और अस्तित्व रखने वाले व्यक्ति के प्रति उसका कोई अधिकार नहीं है, जब तक कि वह व्यक्ति स्वयं उसे ऐसा अधिकार देना पसन्द नहीं करता। २—ज्ञान अतीतकाल का मात्र आंशिक ज्ञान ही हो सकता है; भविष्य की सीमाएं सदैव खुली रहती हैं। मनुष्य स्वयं ही मनुष्य का भविष्य है (Man is the future of man)। वे कान्ट के अमूर्त पूर्णता को एक समाधान के रूप में भी नहीं स्वीकृत करते, क्योंकि मनुष्य में ऐसे तत्व नहीं विद्यमान हैं, जिनका दूसरों पर शासन करने एवं उन्हें नियंत्रित करने का अधिकार हो। मनुष्य मात्र वही है, जो वह करता है, तब भी वह इससे भी अधिक कुछ और है। वह अपने आप में कोई तत्व या निष्कर्ष बने, अपने स्वत्व और ऐतिहासिक अस्तित्व का वास्तविक बाह्य जगत में उन्मीलन कर देता है और मानव बन जाता है। इस मानव का स्वरूप वही होता है, जैसा वह अपने को बनाता है। व्यक्तित्व की अन्यतम गहराइयों का कोई अधिकृत स्वत्व नहीं है जो अच्छाइयों की आत्मा का रूप होती है और जिसके साथ व्यक्ति प्रायः या कदाचित् कभी भी पूर्ण न्याय नहीं करता। वह इसीलिए, क्योंकि वह सदैव ही दृष्टि में और अपने स्वयं से भी कुछ और रहता है। उसे बराबर चिन्ता बनी रहती

है कि वह जो कुछ भी है, अगर इससे कम हो जाएगा तो फिर उसका क्या होगा ? इसीलिए अच्छाइयों और बुराइयों में वह अपने स्वयं से भी कुछ और सदैव ही रहता है, और यही अलगाव व्यक्तिगत अस्तित्व का सिद्धान्त है।

व्यक्ति सदैव चिन्ताग्रस्त रहता है। वह चिल्ला-चिल्ला कर कहता है, मेरी अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी कुछ अर्थ रखती है, उसका अपहरण नहीं होना चाहिए। समाज में मैं भले ही भिखारी हूँ, अपाहिज, लूला या लंगड़ा हूँ, या रिरियाया हुआ कुत्ता हूँ, पर मेरा अस्तित्व अर्थहीन नहीं है। उसे नष्ट नहीं किया जाना चाहिए। चाहे कुछ भी हो जाए, वह किन्हीं भी परिस्थितियों में नहीं चाहता कि उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण हो, और उसका अस्तित्व शून्य में लीन हो जाए। दूसरे शब्दों में वह बराबर अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करता चलता है, यही वास्तव में अस्तित्ववाद है।

अस्तित्ववाद की इस प्रकार अनेक विचित्रताएं स्पष्ट होती हैं। वह व्यक्ति को स्वयं उसी से नहीं अलग कर देता, अपितु इस सारी सृष्टि से भी अलग कर देता है। इससे दर्शन की अनेक समस्याएं उठ खड़ी होती हैं। वे इस बात की संगति सिद्ध करने का प्रयत्न कदापि नहीं करतीं कि मनुष्य का स्वयं अपने से ही और इस सारी सृष्टि से अलग हो जाना उचित है, और तर्क संगत है, बल्कि वे अलगाव की सीमाएं बराबर व्यापक बनाने का प्रयत्न करती हैं, और यह सिद्ध करने का प्रयत्न करती हैं कि मनुष्य के लिए यह अलगाव नितान्त रूप से अनिवार्य है, क्योंकि मात्र इसी के माध्यम से वह अपने व्यक्तिगत अस्तित्व की रक्षा कर सकता है और अपनी स्वतन्त्रता का अपहरण होने से बचा सकता है। इस प्रकार अस्तित्ववाद अपने सम्बन्ध में उठाई गई शंकाओं का समाधान करने का प्रयत्न नहीं करता और न इस प्रकार की प्रयत्नशीलता की आवश्यकता ही अनुभव करता है। इन शंकाओं की ओर अपना ध्यान वह तभी आकृष्ट करता है, और इनके समाधान का प्रयत्न करता है, जब वे पूर्ण मानव से सम्बन्धित होकर अनिवार्य एवं अनुपेक्षणीय बन जाती हैं। ये शंकाएं मात्र परम्परागत शंकाएं नहीं हो सकतीं और न ही ये जिज्ञासा की अरुचिपूर्ण शंकाएं हो सकती हैं, जो ज्ञान की शर्तों या नैतिक एवं सौन्दर्यवादी निर्णयों से सम्बन्वित होती हैं। क्योंकि मनुष्य का स्वयं अपने से और इस बाह्य जगत से अलगाव की प्रवृत्ति से सम्बन्धित जो प्रश्न उठाए जाते हैं, वे सभी प्रश्न स्वयं उसके और इस वस्तुगत विश्व के अस्तित्व से सम्बन्धित हैं। इस अर्थ में अस्तित्ववाद का इतिहास बहुत प्राचीन है, और उसका सम्बन्ध दर्शनशास्त्र के प्रारम्भ से जोड़ा जा सकता है। जबकि वह इस बात की अपील सभी मानवों से करता है कि उन्हें सुप्तावस्था से जागना चाहिए और यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि उनके मनुष्य होने का अन्ततः वास्तविक अर्थ क्या है ? दूसरे शब्दों में वह पुनः यह चेतावनी देने का प्रयत्न करता है कि उनकी स्वतन्त्रता खतरे में है, जिसका अपहरण किसी भी क्षण हो सकता है। उनका अस्तित्व कोई अर्थ नहीं रखता, जो किसी भी क्षण

होते हैं। एक वर्ग तो पूंजीवादी समाज का है, जिसके हाथ में उत्पादन प्रणाली के सारे सूत्र हैं। दूसरा वर्ग सर्वहारा वर्ग का है। जिसके हाथ में कोई अधिकार नहीं है। पूंजीवादी वर्ग इस सर्वहारा वर्ग का शोषण करता है, क्योंकि वह असहाय है। यह शोषण प्रकृति के स्वाभाविक मार्ग में अवरोध उत्पन्न करता है, 'क्योंकि वह अस्वाभाविक है, प्रकृति ऐसा नहीं चाहती।

सर्वहारा वर्ग परिश्रम करता है। अपने खून-पसीने के असहनीय श्रम से उत्पादन करता है, पर उसे उसका पुरस्कार नहीं मिलता। उसका शोषण होता है। वितरण प्रणाली बड़ी दोषपूर्ण है। पूंजीवादी वर्ग कोई श्रम नहीं करता, किन्तु उत्पादन का अधिकांश भाग वही हस्तगत कर लेता है। देश की अर्थव्यवस्था ऐसी होनी चाहिए, जिसमें सबका समान भाग हो। असमान वितरण एवं वैषम्य ही वर्ग को जन्म देता है, जिससे समाज में शोषण प्रवृति का प्रसार होता है। प्रगतिशील साहित्य का काम समाज के मार्ग में आने वाली अन्धविश्वास, रूढ़िवाद की अड़चनों को दूर करना है। समाज को शोषण के बन्धनों से मुक्त करना है। कार्यक्रम में प्रगतिशील, क्रान्तिकारी सर्वहारा श्रेणी का सबल साधन बनना प्रगतिशील साहित्य का ध्येय है। काल्पनिक सुखों की अनुभूति के भ्रमजाल को दूर करके मानवता की भौतिक और मानसिक समृद्धि के रचनात्मक कार्य के लिए प्रेरणा देना प्रगतिशील साहित्य का मार्ग है।[1] मार्क्सवादी धारणानुसार नारी की भी एक विशिष्ट स्थिति होती है। उसके अनुसार इस पूंजीवादी समाज में नारी केवल भोग-विलास की सामग्री है, जिस पर पुरुष का पूर्ण अधिकार है। उसका अपना स्वयं का कोई अस्तित्व मात्र इतना ही है कि वह किसी की पुत्री, श्रीमती या मां बने।[2] उसके जीवन का एक मात्र उद्देश्य यही होता है कि वह अपने पति को नाना प्रकार से रिझाएं और उसके द्वारा प्रदान किए संतानों का पालन करे। विवाह में एक प्रकार से उसका दान किया जाता है। इस समाज तथा परिवार पर पुरुष का शासन है। नारी आर्थिक रूप से पराधीन है, उस पर पुरुष का नियंत्रण है, वह पुरुषों पर आश्रित है। समाज में उसकी स्थिति इतनी हेय और उपेक्षणीय है कि उसे उसके व्यक्तिगत नाम से पुकारना उसका अपमान है। वह पुरुषों के समान स्तर पर कभी नहीं आ सकती। वह पुरुषों के समस्त स्तर पर तभी आ सकती है, जब वह आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हो।[3] वह दुर्भाग्य से परतन्त्र है, इसीलिए समाज में उसकी स्थिति इतनी हेय है। नारियों के मानसिक बन्धन तथा नैतिक मान्यताएं एवं पूंजीवादी तथा सामन्तवादी संस्कृतियों के माध्यम से जन्मे हैं। पुरुषों ने उसे बहका-कर उसकी दासता को सतीत्व तथा पतिपरायणता की संज्ञा से विभूषित कर दिया

---

१. यशपाल: बात-बात में बात, (१६५४), लखनऊ, पृष्ठ २७।

२. वही, पृष्ठ, ५५।

३. वही, पृष्ठ, ५०-५१।

है ताकि वह असंतुष्ट न हो और अपनी निरापद स्थिति में भी गौरव का अनुभव करे। मार्क्सवाद में प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण भी भौतिकवादी है क्योंकि 'संतान की उत्पत्ति के उद्देश्य से प्रकट होने वाला प्रेम सभी जीवों और मनुष्यों में होता है। अपने क्रम को जारी रखने के लिए ही सृष्टि स्त्री पुरुष में आकर्षण पैदा करती है। प्रेम और आकर्षण का प्राकृतिक, शाश्वत और मूलरूप यही है। बुद्धि और शिक्षा बढ़ने से प्रेम का रंग बदलने लगता हैं। इन्द्रियां थक जाती हैं। उनसे एक सीमा तक ही तृप्ति हो सकती है। इसलिए मनुष्य कल्पना और बुद्धि द्वारा सुख भोगता है। परन्तु मानसिक सुख का आधार इन्द्रिय सुख की कल्पना ही है। इसलिए जब इन्द्रिय-प्रेम का सुख अहिंसात्मक रूप से केवल कल्पना में भोगा जाता है तब उसे आत्मिक बल कहते हैं।[1] नारी के आत्मसम्मान को महत्त्व नहीं दिया जाता, जिसके दुष्परिणाम होते हैं। 'इस देश में बिना जाने-बूझे पुरुष को पति रूप में स्वीकार कर लेना क्या स्त्री का आत्मसम्मान है ? कोई स्त्री विवश ही वेश्या बनती है कोई विवश हो पतिव्रता।' नारियों की इस दयनीयता में ही उसकी मौत है। वह घृणास्पद जीवन व्यतीत करती है। आधुनिक पूंजीवादी समाज में प्रेम एक सौदा मात्र है। नारी आश्रय चाहती है, जिसे प्रेम की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। और सब चीजों की तरह जीवन में प्रेम की गति भी द्वन्द्वात्मक है। प्रेम जीवन की सफलता और सहायता के लिए है।[2] यदि प्रेम बिल्कुल छिछला और थियला रहे तो वह असंयत वासना-मात्र बन जाता है,। जीवन में अड़चन के रूप में प्रेम चल नहीं सकता।,[3] क्योंकि 'नारी के लिए प्रेम का परिणाम केवल रक्त है—हृदय का रक्त अथवा शरीर का रक्त। पुरुष केवल ठोकर मारकर चला जाता है। यही उसका भाग्य है और यही उसका गौरव है।[4] इस प्रकार मार्क्सवादी विचारधारा के अन्दर नारी के सम्बन्ध में एक विशिष्ट दृष्टिकोण का परिचय दिया गया, जिसने औपन्यासिक नायिकाओं के व्यक्तित्व को यथेष्ट मात्रा में प्रभावित किया है।

इस काल की चौथी औपन्यासिक प्रवृत्ति अस्तित्ववाद है। अस्तित्ववाद एक दर्शन है, जो जीने से सम्बन्धित है। अस्तित्ववाद के प्रणेता मुख्यतया जीन-पाल सार्त्रे (१९०५) समझे जाते हैं, जिन्होंने अपने उपन्यासों एवं नाटकों के माध्यम से इस दर्शन का प्रतिपादन किया। वैसे अस्तित्ववाद के जन्मदाताओं में किर्कगार्ड हाईडेगर का नाम लिया जाता है, जिन पर दार्शनिक नीत्शे के विचारों का अत्यधिक प्रभाव था। पर मूल रूप से सार्त्र को ही अस्तित्ववाद का मूल व्याख्याकार समझा जाना चाहिए। अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य का अर्थ है स्वतन्त्रता। इस स्वतन्त्रता

---

१. यशपाल: चक्कर क्लब, (१९५१), लखनऊ, पृष्ठ१८।
२. यशपाल: पार्टी कामरेड, (१९४६), लखनऊ, पृष्ठ ३३।
३. यशपाल : मनुष्य के रूप, (१९४९), लखनऊ, पृष्ठ ९६।
४. यशपाल : मनुष्य के रूप, (१९४९), लखनऊ, पृष्ठ ११७।

मिटाया जा सकता है। आश्चर्य है कि ऐसे संकट के समय जबकि उनकी स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत सत्ता और अस्तित्व को इस सृष्टि के व्यापक परिवेश ने जबर्दस्त चुनौती दी है। वे सो रहे हैं, और अपनी स्वतन्त्रता एवं अस्तित्व के सम्बन्ध में किंचितमात्र भी चिन्तित नहीं हैं। अस्तित्ववाद व्यक्ति को इस सुप्तावस्था से जगाने और अपने को समझने की प्रेरणा देने की एक दार्शनिक प्रक्रिया है।

यहाँ सार्त्र के सिद्धान्तों को थोड़े विस्तार से समझ लेना अधिक तर्कसंगत होगा। सार्त्र के अनुसार चेतनशील होने का अर्थ है कि हम किसी वस्तु के प्रति चेतनशील हैं। चेतनशीलता किसी वस्तु से सम्बन्धित होती है, और उससे अलग होती है। वह स्वयं अपने से न तो सम्बन्ध जोड़ती है, न अलग होती है। चेतना का सम्बन्ध इस सृष्टि से अलग नहीं किया जा सकता जो स्वतन्त्र है, और आत्म-निर्भर है। सृष्टि का सम्बन्ध—अवश्य ही चेतना से विच्छिन्न किया जा सकता है, इसलिए नहीं कि चेतना महत्वपूर्ण स्थान रखती है, या स्वतन्त्र है, वरन् इसलिए कि वह इस सृष्टि में शून्य के रूप में आती है। इस प्रकार चेतना इस वस्तुगत सृष्टि से सम्बन्धित है, और उस पर निर्भर है। व्यक्ति वह तत्व नहीं है, जो विचार करता है, बल्कि सभी तत्वों का अलगाव है। यह अलगाव कभी पूर्ण नहीं होता। ज्ञान का मूलभूत आदर्श यह है कि किसी भी वस्तु को उसके मूलरूप में देखा और समझा जाए। किन्तु यह तभी सम्भव है, जब चेतना वस्तु के साथ स्वयं अपने आपको पहचाने। तभी कोई चेतनशीलता नहीं हो सकती और न ज्ञान की ही सम्भावना हो सकती है। अतः ज्ञान का यह अर्थ नहीं है, जैसा कि कान्ट के सिद्धान्तों में प्रतिपादित किया गया है कि ज्ञान के माध्यम से हम वस्तुओं को स्वयं उनके मौलिक रूप में जानने और समझने में असमर्थ रहते हैं। बल्कि सीधे-सादे तौर पर अर्थ यह है कि यह पूर्णतया मानवीय है और यह कि चेतनशीलता का अलगाव, जिससे एक ऐसी सृष्टि का अस्तित्व प्रकाश में आता है, जिसे जाना जा सकता है। इस अस्तित्ववादी सिद्धान्त ने भी नायिकाओं के स्वरूप पर इस काल में प्रभाव डाला है। यद्यपि यह तो नहीं कहा जा सकता कि इस अस्तित्ववादी प्रभाव के कारण ही कोई नायिका परिकल्पित की गई हो, पर उसका आंशिक प्रभाव निश्चय ही पड़ा है।

इन सभी नवीन विचारधाराओं ने उत्तर-प्रेमचन्द काल के उपन्यासकारों की नायिका सम्बन्धी परिकल्पना को विशेष रूप से प्रभावित किया। नारी के स्वरूप के सम्बन्ध में अभी तक जो परम्परागत प्रतिमान थे, उनमें इन नवीन विचारधाराओं ने आमूल-चूल परिवर्तन उपस्थित कर दिया। अब नारी के आदर्श पत्नी रूप, माँ, भगिनी या विधवा एवं वेश्या के रूप के प्रति उपन्यासकारों की विशेष रुचि न रही। उसने नारी के चरित्र की आन्तरिक वृत्तियों का उद्घाटन करके उसके मनोविज्ञान की व्याख्या करने का प्रयत्न किया और उसमें यथार्थ का रंग भरने का भी प्रयत्न किया। नारी का आदर्शवादी परम्परागत रूप अब नायिकाओं के स्वरूप में नहीं

प्रतिफलित हुआ, वरन् उसके स्थान पर नारी का जो यथार्थ रूप था, नवीन चेतना के आधीन उसका जो मनोवैज्ञानिक स्वरूप था, तथा उसकी ईर्ष्या, घृणा, द्वेष, प्रेम तथा वासना का स्पष्ट चित्रण होने लगा और एक प्रकार से नैतिकता एवं अनैतिकता का संकोच उपन्यासकारों में समाप्त होने लगा। इसके कारण स्पष्ट थे। फ्रायड ने व्यक्तियों में वासना की जिस प्रबलता को प्रबल तर्कों द्वारा सिद्ध किया था, उसके प्रति आधुनिक उपन्यासकार विशेष रूप से आस्थावान् हो गया था और परम्पराओं के प्रति उसका मोह समाप्त हो गया था। इसी प्रसंग में एक बात और उल्लेखनीय है कि नायिकाओं की परिकल्पना के स्वरूप परिवर्तन की दिशा में इन नवीन विचार-धाराओं ने ही अपना प्रभाव नहीं डाला, अपितु स्वयं भारतीय समाज में नारियों की परिवर्तित परिस्थितियों का भी बड़ा हाथ था। समाज में नैतिक तथा सांस्कृतिक मर्यादाएं खण्डित हो रही थीं तथा परिचय के प्रभाव से एक विचित्र-सी उच्छृंखलता, नग्नता प्रदर्शन, कामोत्तेजक वेषभूषा, अतिशय फैशन-परस्ती और विलासिता, कामुकता से परिपूर्ण चित्रपटों का प्रसार एवं लोकप्रियता तथा दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली के कारण नारियों का गलत दिशा में प्रयाण आदि में नायिका की परिकल्पना सम्बन्धी स्वरूप विभिन्न दिशाओं में गतिशील हुआ।

यहाँ इस बात की ओर भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि इस काल में नारियों की सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति भी परिवर्तित हो चुकी थी। उन्हें प्रेम एवं विवाह सम्बन्धी स्वतन्त्रता भी प्राप्त हो चुकी थी और आधुनिकता के पूर्ण प्रवेश से नवोन्मेष की भावना एवं प्रगतिशीलता से उनकी चेतना पूर्णतया सुसम्पन्न हो चुकी थी। उच्च शिक्षा का उनमें काफी प्रसार हो चुका था और हो रहा था। इन सबका परिणाम यह हुआ कि अहं भी शक्ति प्राप्त कर रहा था, इसके साथ ही उनमें एक व्यक्तिवादी दृष्टिकोण उभर रहा था। इस प्रवृत्ति का एक परिणाम सामाजिक पलायनवाद के रूप में भी अभिव्यक्त हुआ, जिससे नारियों में आत्म बलिदान एवं आत्मपीड़न का भाव भी सशक्त रूप में प्रस्फुटित हुआ। इन सभी प्रवृत्तियों के प्रभावानुसार नायिकाओं के जिन स्वरूपों का विकास इस काल में हुआ, उसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :

(क) परम्पराओं एवं आदर्शों के प्रति गहन् आस्था का भाव
(ख) आत्मपीड़न एवं आत्म बलिदान का भाव
(ग) विद्रोह का भाव
(घ) व्यक्तिगत अहं की प्रधानता एवं तीव्र व्यक्तिवादी दृष्टिकोण
(च) फैशन परस्ती एवं विलासप्रियता
(छ) परम्पराओं की अस्वीकृति एवं रूढ़ि मुक्त रूप
(ज) अतीव वासनात्मक

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत शुद्ध रूप से परिकल्पित नायिकाओं की संख्या इस काल में कुछ विशेष अधिक नहीं रही। पिछले काल के आदर्शवादी और परम्परागत उपन्यासकार भी इस युग में अपने दृष्टिकोण में यथेष्ट मात्रा में परिवर्तन ला चुके

थे। यद्यपि पिछले प्रभाव को वे पूर्ण रूपेण समाप्त कर सकने में असमर्थ थे। कुछ नये उपन्यासकारों ने भी इस प्रभाव को आंशिक रूप से ग्रहण किया। इन सभी नायिकाओं में नवीनता के होते हुए भी परम्पराओं का मोह पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुआ था। परम्पराओं एवं नवीनता का यह सामंजस्य जैनेन्द्रकुमार, भगवती प्रसाद वाजपेयी, वृन्दावनलाल वर्मा, उषादेवी मित्रा, सियारामशरण गुप्त आदि की नायिकाओं में प्राप्त होता है। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत ऐसी नायिकाओं की परिकल्पना की गई। जिनमें एक के पश्चात् एक ठोकर सहते रहने से एक विचित्र-सी तटस्थता का भाव आ जाता है। ये नायिकाएं आत्मपीड़न और आत्म बलिदान में ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य समझती हैं। उनके जीवन में असन्तोष रहता है, अपनी स्वयं की कुंठाएं एवं वर्जनाएं रहती हैं। जिसे दूसरे शब्दों में अमुक्त वासना का भी रूप दिया गया है, पर इसके वावजूद भी वे विद्रोह नहीं करती हैं और परिस्थितियों की विषमताओं से समझौता कर अपने मन के उठे विद्रोह भाव को नियंत्रित करने का प्रयत्न करती हैं। इस नियन्त्रण का कारण परम्पराओं का प्रभाव ही है, क्योंकि ये सभी नायिकाएं परम्पराओं को अपने जीवन में अक्षुण्य बनाये रखना चाहती थीं। इस प्रकार की नायिकाएं जैनेन्द्रकुमार, सियारामशरण गुप्त ने विशेष रूप से कल्पित की हैं। विद्रोह का भाव, व्यक्तिगत अहं की प्रधानता एवं तीव्र व्यक्तिवादी दृष्टिकोण रखने वाली नायिकाएं इस समाज की सत्ता को अस्वीकृत करती हैं, और अपने जीवन की दिशाएं निर्मित करने एवं निश्चित करने में स्वयं अपनी चेतना के प्रति ही आस्थावान् रहती हैं। इस दिशा में उन्हें समाज का हस्तक्षेप बिल्कुल ही सह्य नहीं है। एक प्रकार से उनमें समाज से पलायन की प्रवृत्ति रहती है। ऐसी नायिकाओं में अंचल की नायिकाएं प्रमुख हैं। अज्ञेय के "शेखर : एक जीवनी" की शशि यद्यपि नायिका नहीं प्रधान नारी पात्र है, किन्तु उसमें भी इसी प्रवृत्ति का प्रतिफलन हुआ है। समाज में बढ़ने वाली फैशन परस्ती एवं विलासप्रियता के फलस्वरूप जिन नायिकाओं की परिकल्पना की गई है, उनमें इलाचन्द्र जोशी की कुछ नायिकाएं हैं। इनके जीवन का चरम लक्ष्य भोग है, वासना की तृप्ति है, पर कुछ अंशों तक वह असीमित नहीं होने पाया है। परम्पराओं की अस्वीकृति एवं रूढ़ि मुक्त रूप नायिकाएं पूर्णतया आधुनिक हैं। उनमें परम्पराओं के प्रति स्पष्ट विद्रोह की भावना प्राप्त होती है। उनमें वासना के बन्धन भी कुछ मात्रा तक शिथिल हैं तथा उनमें अनैतिकता तथा नैतिकता के प्रति संकोच की भावना न्यून है। प्रत्येक व्यक्ति में अपना अहं अपना आत्मसम्मान होता है। कुछ उसे महत्व देते हैं, कुछ नहीं। जहाँ तक नारियों का सम्बन्ध है, जब तक उनमें नवीन चेतना और जागृति नहीं हुई थी। उनकी शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार हुआ था, तब तक स्वयं उन्हें कदाचित् यह नहीं ज्ञात था कि व्यक्ति का अहं और उसका आत्मसम्मान भी कोई चीज होती है, जिसे व्यक्ति अधिकांशतः अत्याधिक महत्वपूर्ण मानता है। पर ब्रिटिश शासन के पश्चात् धीरे-धीरे स्थिति में जब परिवर्तन हुआ, तो नारियों में भी अपने अहं एवं आत्मसम्मान की

भावना उदित होने लगी और वे पुरुषों की अपेक्षा अपने को अधिक प्रगतिशील, प्रतिभासम्पन्न एवं तीव्र चेतना शक्ति सम्पन्न सिद्ध करने का प्रयत्न करने लगीं। यह भावना यहाँ तक शक्ति प्राप्त करने लगी कि नारियों में विद्रोह की भावना भी व्याप्त होने लगी और वे किसी भी मूल्य पर अपने को पुरुषों के समक्ष पराजित होते नहीं देखना चाहती थीं। चाहे वे उनके पति ही क्यों न हों। वे पति के सम्मुख भी अपने स्वाभिमान एवं आत्मसम्मान की रक्षा तथा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रखने की चेष्टा करने लगी। इस काल में नारियों का स्वतन्त्र अस्तित्व यथेष्ट मात्रा में विकसित हो चला था और वे अपने अधिकारों के प्रति पूर्ण रूप में सजग हो चली थीं। उनमें एक प्रकार का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण पनपने लगा था और विवाह संस्था में वे आमूल चूल परिवर्तन की मांग करने लगी थीं। वे केवल पति की दासी नहीं, वरन् दो स्वतन्त्र व्यक्तियों की भाँति अपना जीवन यापन करना चाहती थीं। अपने व्यक्तिगत जीवन में एक दूसरे का हस्तक्षेप उन्हें पसन्द न था। अंचल के 'चढ़ती धूप' (१९४५) की नायिका ममता इन्हीं भावनाओं की चरम अभिव्यक्ति करती है। अतीव वासनात्मक रूप का चित्रण अधिकांश रूप में अज्ञेय और यशपाल ने किया है। उनकी नायिकाओं के जीवन में वासना की प्रधानता है, और जीवनगत मर्यादा का अभाव है। वास्तव में यह विश्वास कर लिया गया कि नारियों में पुरुषों की अपेक्षा वासना की प्रबल इच्छा होती है। उनके सारे कार्य व्यापार केवल एक ही उद्देश्य-वासना की पूर्ति के लिए होते हैं। इस सम्बन्ध में यशपाल ने एक स्थान पर लिखा है : कला के प्रेमियों को एक शिकायत मेरे प्रति है कि मैं कला को गौण और प्रचार को प्रमुख स्थान देता हूँ।...कला को कला के निर्लिप्त क्षेत्र में ही सीमित न रख मैं उसे भावों या विचारों का वाहक बनाने की चेष्टा क्यों करता हूँ ?... क्योंकि जीवन में मेरी साध केवल जीवन-यापन ही नहीं बल्कि जीवन की पूर्णता है। इसी प्रकार कला से सम्बन्ध जोड़कर भी मैं कला को केवल कला के लिये ही नहीं समझ सकता। कला का उद्देश्य है—जीवन में पूर्णता का यत्न।"[1] पर जीवन की पूर्णता निश्चित रूप से मात्र वासना नहीं है, यह निर्विवाद है। यशपाल क्या इतना समझ सकेंगे कि मात्र अश्लीलता ही यथार्थ नहीं है। अश्लीलता का चित्रण चाहे जितना किया जाये। उससे तभी तक किसी को आपत्ति नहीं हो सकती यदि वह मात्र यथार्थ चित्रण के लिए किया जाता है। पर यदि वह चित्रण रस लेकर किया जाता है तो वह आपत्तिजनक है, अशोभन है। अतीव वासनात्मक रूप का चित्रण करने वाले उपन्यासकार उच्छृंखलता, असंयम, भोगवादी तथा पाप पुण्य की सीमाओं के प्रति अत्यन्त असहिष्णु होते हैं और वैयक्तिक जीवन की निराशाओं (Frustration) का प्रतिबिम्बित वासना नायिकाओं में चित्रित होता है। उनका प्रबल यौनोत्पीड़ित (Sex-obsession) वासना सम्बन्धी स्वतन्त्रता की माँग करता है, जिससे जीवन की पूर्णता (?) और सभ्यता का पूर्ण विकास (या पतन ?) हो सके।

---

१. यशपाल : दादा कामरेड, (१९४१), लखनऊ, पृष्ठ ४

उपसंहार

अब तक के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी उपन्यासों का जन्म उस समय हुआ, जब देश पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क के फलस्वरूप एक नया मोड़ ले रहा था। देश में नवीन चेतना, सामाजिक क्रान्ति, प्राचीनता का विरोध और नवीनता का आह्वान इसी के परिणाम थे। प्रारम्भ में उपन्यासकारों के सम्मुख कोई पहले से चली आ रही परम्परा न थी। उनके सम्मुख कोई आदर्श न था। उन्हें तो अपना आदर्श, और मार्ग स्वयं ही निश्चित करना था। इस बात की ओर पीछे संकेत किया जा चुका है कि पश्चिम के साथ सम्पर्क के फलस्वरूप पुनरुत्थान की भावना उत्पन्न हुई थी। नारी-जागरण इस पुनरुत्थान का प्रधान एवं प्रमुख अंग था। उस समय नारियों की स्थिति में अनेक परिवर्तन हुए। अभी तक उनमें शिक्षा तथा नवीन चेतना की कमी थी, वे अपने सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकारों से वंचित थीं, धार्मिक रूढ़ियों से ग्रस्त थीं। एक प्रकार से वे बिल्कुल ही पिछड़ी हुई थीं, युग के नए दौर के साथ चलने में अपने को असमर्थ पा रही थीं। पुनरुत्थान काल ने उनकी काया पलट कर दी, और उनमें शिक्षा का प्रसार होने लगा, नवीन चेतना का उदय हुआ, वे अपने सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकारों के प्रति सजग और साथ ही प्रयत्नशील हुईं। इसके परिणामस्वरूप एक नई नारी का जन्म हुआ, जो परम्पराओं में विश्वास रखने के बावजूद भी रूढ़ियों से ग्रस्त नहीं थी। उचित मात्रा में शिक्षा प्राप्त करने पर भी उसमें उच्छृंखलता नहीं आई थी, उसमें सहिष्णुता थी, अपने कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व का पालन करने की लालसा थी, तथा सद्गृहिणी बन कर परिवार का पालन करने की आकांक्षा थी। नवीन शिक्षा प्राप्त करने की आकांक्षा होते हुए भी भारतीय नारी भारतीय आदर्श की उपेक्षा करना नहीं चाहती थी—सम्भवतः चाहते हुए भी नहीं कर सकी, क्योंकि संस्कार मनुष्य के जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वह बिल्कुल स्वतन्त्र होना नहीं चाहती थी, हालांकि पति की दासता का भी वह दबे-दबे स्वरों में विरोध कर रही थी। आगे चलकर स्थिति में थोड़ा और परिवर्तन हुआ। पश्चिम की नई लहर भारतीय चेतना पर छाती गई। वहाँ की संस्कृति, वहाँ की नारियों की स्वतन्त्रता, स्वछन्द जीवन व्यतीत करने की लालसा आदि ने भारतीय नारी को अत्यधिक प्रभावित किया, और वह उन आदर्शों को अपने जीवन में ढालने को व्यग्र हो उठी। इसका दुष्परिणाम

हुआ। देश की परम्पराओं के प्रति नारियों का मोह कुछ कम हो चला। अब उन्हें अपनी गौरवशाली मर्यादाओं का अधिक ध्यान न रहा : उनमें भोग और विलास की वृत्ति का प्राधान्य होने लगा। कुछ वर्गों से सेक्स सम्बन्धी स्वतन्त्रता की माँग भी उठाई जाने लगी। इस प्रकार आलोच्य-काल में हमें नारी के तीन रूप प्राप्त होते हैं :—(१) सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकारों से वंचित नारियों का परम्परागत एवं रूढ़ियों से ग्रस्त रूप। (२) नवीन परिस्थितियों में निर्मित नारियों का रूप, जिससे अपने अधिकारों के प्रति सजगता और उन्हें प्राप्त करने के प्रति प्रयत्नशीलता का भाव उदय हो रहा था। (३) नारी का आधुनिकतम रूप, जिसमें नारी को अपनी परम्पराओं एवं आदर्शों के प्रति कोई मोह नहीं रहा था, और उसे अपने समस्त अधिकार प्राप्त हो गए थे, आर्थिक दृष्टि से भी स्वावलम्बी होने के उसे प्रत्येक अवसर सुलभ थे। उसकी स्वतन्त्रता की भावना का एक रूप यौन-सम्बन्धी प्रतिबन्ध तोड़ने में भी व्यक्त हुआ।

उपन्यासों में चूंकि मानव जीवन का ही प्रमुख रूप से चित्रण होता है, इसीलिए उपन्यासकार अपने समय की सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों से अत्यधिक प्रभावित होता है। समाज नारी और पुरुष दोनों से मिलकर बनता है, उपन्यासकार उसी सामाजिक वातावरण को उपन्यास के पृष्ठों में सजीव करने का प्रयत्न करता है। उसे उपन्यासों में पुरुष पात्रों के साथ नारी पात्रों को रखना आवश्यक होता है, जिससे कि वह मानव जीवन की भाँति उपन्यास की भी पूर्णता सिद्ध कर सके। इसीलिए उपन्यासकारों के उपन्यासों में हमें नारियों के विविध रूप प्राप्त होते हैं। अपनी नायिका सम्बन्धी परिकल्पना में उपन्यासकार नारी के परम्परागत और नवीन रूपों से प्रेरणा प्राप्त करता है, साथ ही वह नारी की सामाजिक स्थिति से भी प्रभावित होता हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नेतृत्व में उनके सहयोगियों ने नारी की स्थिति की ओर ध्यान दिया। स्वयं भारतेन्दु ने अपना नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण "नीलदेवी" (१८८१) नामक नाटक में व्यक्त किया है। यद्यपि उन्होंने स्वयं कोई भी मौलिक उपन्यास नहीं रचा, पर उन्होंने अपने सहयोगियों को बराबर सामाजिक जागरूकता में विश्वास रखने के लिए प्रेरित किया। पर तब भी प्रारम्भिक उपन्यासकारों ने नारी की परिवर्तित परिस्थितियों को उस रूप में चित्रित करने में अपने को असमर्थ पाया, जिस रूप में उन्हें करना चाहिए था। वे उपन्यासों में मनोरंजक तत्वों का समावेश अधिक मात्रा में करना चाहते थे, तथा ऐयारी, रोचकता, आश्चर्य में डाल देने वाली घटनाओं का संचयन एवं कौतूहलता आदि उन्हें अधिक प्रिय थी। अतः वे उचित रूप में नायिकाओं की कम ही कल्पना कर सके, और जो नायिकाएं कल्पित भी की गई हैं, वे परम्पराओं में विश्वास रखने वाली, पातिव्रत धर्म का पालन करने वाली तथा अपने जीवन में प्रेम को अधिक महत्व देने वाली थीं। नारी का प्रेमिका

रूप ही अधिक स्पष्ट हो सका। यहाँ तक कि किशोरीलाल गोस्वामी भी जिन्होंने अनेक उपन्यासों की रचना की, कोई ऐसा उपन्यास लिखने में असमर्थ रहे, जिसकी नायिका नारी की तत्कालीन परिवर्तित होने वाली परिस्थितियों एवं उसके जीवन में समाविष्ट होने वाली नवीनताओं को अपने में समेटे हुए हो। भारतेन्दु युग के बाद द्विवेदी युगीन उपन्यासकारों ने नारी समस्याओं को प्रस्तुत अवश्य किया, पर अधिक सशक्त रूप में नहीं। इस प्रकार की समस्याओं को प्रस्तुत करने में जिस नवीन दृष्टि-कोण की आवश्यकता थी, उन उपन्यासकारों में इसका अभाव था। पर एक बात अवश्य ही भारतेन्दु युगीन और द्विवेदी युगीन उपन्यासकारों में सामान्य रूप से पाई पाई जाती है, कि वे नारी को उच्च स्थान प्रदान करते थे, और उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उसमें उच्छृंखलता, उसका पतित होना, तथा अपने कर्तव्य एवं दायित्व से च्युत होना उन्हें सह्य नहीं था। इसीलिए जितनी भी नायिकाएं हमें इन युगों में प्राप्त होती हैं, सभी का एक संतुलित रूप है, उनमें अपनी जीवनगत मर्यादाओं का त्याग करने की प्रवृत्ति नहीं है।

इसी आदर्श को प्रेमचन्द और उनके सहयोगियों ने भी अपनाने का प्रयत्न किया। उनकी दृष्टि में भी नारी अत्यधिक श्रद्धा की पात्री थी, इसीलिए उन्होंने जिन नायिकाओं की परिकल्पना की, उनमें जहाँ तक परम्परागत आदर्शों, जीवनगत मर्यादाओं एवं कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व के प्रति सजगता का प्रश्न है, वे भारतेन्दु-युगीन और द्विवेदीयुगीन नायिकाओं से भिन्न नहीं हैं, पर यह अवश्य है कि उन्होंने नारी समस्याओं को अधिक गम्भीरता से तथा यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने नारी की समस्याओं का केवल ब्यौरा ही नहीं प्रस्तुत किया है, अपितु नारी की समस्याओं के साथ अपनी नायिकाओं एवं नारी पात्रों को इस प्रकार परस्पर संगुम्फित किया है, कि उन समस्याओं का प्रभाव उपन्यास पढ़ते समय निरन्तर तीव्र ही होता जाता है, और अंत तक पहुँचते-पहुँचते पात्र जैसे अपने अधिकतम सीमा पर पहुँच करकरा कर टूट जाता है, उसी प्रकार उन समस्याओं का भी प्रभाव अत्यन्त तीखे रूप से पाठकों पर पड़ता है। पिछले दोनों युगों में यह बात नहीं थी। वहाँ समस्याएँ पहले से थीं, नायिकाओं एवं नारी पात्रों को उसमें फिट भर कर दिया जाता था, पर उनके ऊपर से थोपे जाने को वे नहीं छिपा पाते थे, इसीलिए उन समस्याओं का उतना तीखा प्रभाव भी नहीं पड़ पाता था, उनका ब्यौरा केवल इतिहास ही बन कर रह जाता था।

प्रेमचन्दोत्तर काल में नारी का तीसरा रूप अत्यन्त विकास प्राप्त कर लेता है, और उसके साथ ही औपन्यासिक शिल्प का भी यथेष्ट विकास हो जाता है। इस नए दौर में नायिकाओं के अंतस्तल की भावनाओं के अध्ययन एवं उनके मनो-विश्लेषण पर अधिक बल दिया जाने लगा, जिससे कि अधिकांश उन नायिकाओं के सम्बन्ध में, जिन्हें ऊपरी सतह से ही जानने के कारण हम उच्च प्रवृत्तियों की एवं आदर्शपूर्ण समझते थे, इन लेखकों ने उनकी बाकायदा चीरफाड़ की, और उनका

कोई रहस्य हमसे अपरिचित नहीं रह गया। अब परिस्थितियाँ परिवर्तित हो चुकी थी, और उपन्यासकारों ने जिन नायिकाओं की परिकल्पना की, उनमें परम्पराओं के प्रति, परिवार के प्रति, कर्तव्य एवं दायित्व के प्रति उतना मोह नहीं रह गया था, जितना पिछले दौर में, और उनका सर्वथा नवीन रूप हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ। इस काल में सर्वाधिक विचार नारी की आर्थिक समस्या पर किया गया। क्योंकि अपनी तमाम प्रगतिशीलता के बावजूद भी नारियाँ पूर्ण रूप से स्वावलम्बी नहीं हो पाई थी. और उनकी आर्थिक स्वतन्त्रता अब भी उनके सम्मुख उपस्थित थी। जैनेन्द्र, सियारामशरण गुप्त आदि ने इसी समस्या को प्रभावशाली ढंग से उपस्थित करने का प्रयत्न किया। किन्तु एक बात अवश्य ही उल्लेखनीय है और वह यह कि प्रेमचन्दोत्तरकालीन उपन्यासों में नारी समस्या पर उतना बल नहीं दिया गया, जितना नारी चरित्रों पर, इसीलिए अनेक नायिका प्रधान उपन्यासों के चित्रण में जो समस्याएं आ जाती थीं, उनका समावेश तो हो जाता था, पर केवल समस्याओं के चित्रण के लिए वह भी विशेष रूप से नारी समस्याओं के चित्रण के लिए, कम ही उपन्यास रचे गए।

नायिका सम्बन्धी परिकल्पना में जहाँ तक नारी के आदर्शों, उसकी मर्यादा, उसके त्याग एवं पवित्रता का प्रश्न है, ठाकुर जगमोहन सिंह, किशोरीलाल गोस्वामी, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, विश्वम्भर नाथ शर्मा "कौशिक", सियारामशरण गुप्त तथा सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" आदि में अत्यधिक साम्य हैं, यद्यपि सभी के दृष्टिकोण एवं समस्याओं के प्रस्तुत करने के ढंग में स्वाभाविक रूप में अन्तर है। इन सभी लेखकों ने नारी के प्रति अपनी अगाथ श्रद्धा प्रकट की है, और उसके पतित रूप में भी गरिमा खोजने का प्रयत्न किया है। नारी समस्याओं के बहाने नायिकाओं की इन्द्रिय लोलुप मनोवृत्ति की उत्तेजना तथा शारीरिक भूख की तुष्टि की कामना आदि का रसमय चित्रण करने के सम्बन्ध में "यशपाल", "उग्र", "ऋषभचरण जैन" तथा "चतुरसेन शास्त्री" अधिक निकट हैं, जिनके उपन्यासों में मनोविश्लेषण एवं यथार्थवाद के नाम पर नैतिकता की सर्वथा अवहेलना और वासना का नग्न चित्रण दिखाई पड़ता है। समग्र रूप में प्रेमचन्दोत्तर काल और वाद भी नारी श्रद्धा की उतनी पात्री नहीं रह गई, जितनी वह भारतेन्दु और द्विवेदी युग तथा प्रेमचन्द के युगों तक रही।

प्रेमचन्दोत्तर काल में यथार्थवाद के नाम पर नारी की काफी दुर्गति हुई है। प्रायः लेखकों ने अपनी नायिका का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया, जिससे उसमें यथार्थ का अधिकाधिक पुट प्रतिपादित हो सके, और साथ ही लेखक की उस ईमानदारी का परिचय प्राप्त हो सके कि वह एक ऐसी नायिका का चित्रण कर रहा है, जो सबके बीच की है, सभी उससे परिचित हैं, वह भिन्न नहीं है। उससे भी कुछ ऐसा नहीं, जो अस्वाभाविक एवं अप्राकृतिक है। पर लेखक के इस उद्देश्य में जाने-अनजाने यह भाव भी सम्मिलित रहता था, या किया जाता था कि नायिका का रूप इस प्रकार कल्पित किया जाय, जिससे पाठकों की छिपी हुई प्राकृतिक वासना

पर एक हल्की चोट देकर उसे उभाड़ा जा सके, और वह नायिका उनके मन और मस्तिष्क पर दिन रात छाई रहे। यहाँ एक बात अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है, वह है लेखक की ईमानदारी, जिसे वह साहित्य, समाज एवं राष्ट्र के प्रति अपने महती उत्तरदायित्व को समझ कर उसका पालन करना अपना प्रमुख कर्त्तव्य समझता है। शताब्दियों में कोई एक भारतेन्दु या प्रेमचन्द जन्म लेता है, जो साहित्य का एकमात्र यह उद्देश्य ही मानता है, कि वह हमारे मन के छिपे हुए देवत्व को उभाड़ कर रख दे, और हमें सत्पथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा दे सके पर प्रेमचन्दोत्तर काल में अधिकांश उपन्यासाकारों ने इसे पूर्णतया अस्वीकृत किया, और परिणामस्वरूप नारी की छीछालेदर हुई, उनके वासनात्मक रूप, गोरी मांसल बाहों, और सौन्दर्य पर ही अत्यधिक बल दिया गया। यह तो नहीं अस्वीकृत किया जा सकता कि हमारी नारियों में आदर्श ही आदर्श हैं, विकृतियाँ उनमें कुछ भी नहीं हैं। यह सत्य है कि उनका पतन काफी सीमा तक हुआ है, और उनमें विकृतियां भी काफी आई हैं, पर साहित्य हमारी सात्विक वृत्तियों को उभाड़ने के लिए होता है, न कि हममें वासना एवं उत्तेजना उत्पन्न करने के लिए। यदि साहित्य के उद्देश्य को इतनी लघुतम सीमा में आबद्ध कर दिया जायगा। तो उसकी स्थिति अत्यन्त सन्देहप्रद बन जायगी। अधिकांश प्रेमचन्दोत्तरकालीन उपन्यासकारों ने अपनी नायिकाओं को ऐसी ही अस्वस्थ परिस्थितियों में रखकर चित्रित किया है, जिस पर उन्होंने यथार्थवाद का मुलम्मा देने का प्रयत्न किया है, पर साहित्य के विकास की दिशा में वह एक अत्यन्त भयानक खाई उत्पन्न कर देता है। उन्होंने नारी को उसके ममत्व से वंचित करके उसे केवल प्रेमिका रूप में देखना अधिक उचित समझा। जो उनका एक अविवेकपूर्ण दुराग्रह था। १९४७ के बाद तो इस स्थिति में और परिवर्तन हुआ, और चोटी के उपन्यासकारों ने अपनी नायिकाओं के बहाने कामशास्त्र की व्याख्याएं करनी प्रारम्भ कर दीं। उनकी नायिकाएं ऐसी तितलियों के रूप में उपस्थित की गई जिनको जीवन का प्रमुख उद्देश्य ऐश्वर्य एवं विलास की प्रवृत्ति को ही पूर्ण करना था। इसी से ही उन्होंने अपने कर्त्तव्य एवं दायित्व की पूर्णता समझी।

प्रश्न उठता है, कि क्या प्रेमचन्दोत्तर काल में परिस्थिति इतनी परिवर्तित हो गई थी कि उपन्यासकार इस प्रकार की तितलियों का चित्रण करने पर बाध्य हो गया था? यह आवश्यक है कि उस युग में पश्चिम की देखा-देखी नारियों ने भोग और विलास के प्रति अधिक आग्रह प्रकट किया, पर उनकी संख्या अधिक नहीं हो पाई। उस तमाम प्रगतिशीलता के बावजूद भी अधिकांश नारियों ने अपनी गौरव-पूर्ण मर्यादाओं का पूर्णतया त्याग नहीं किया, बल्कि वे उन्हें नवीन परिस्थितियों के अनुरूप ढाल कर अपनाने में संलग्न हुई। अतः उन थोड़ी सी संख्या में अपनी मर्यादाओं को छोड़ देने वाली नारियों को भारतीय नारी समाज का प्रतीक स्वरूप मान कर नायिका की परिकल्पना करना वास्तव में एक विडम्बना मात्र ही है, पर हिन्दी उपन्यासों में हुआ यही, और परिणामस्वरूप प्रेमचन्दोत्तरकालीन उपन्यासों

में अधिकांश रूप से नायिकाओं के अस्वस्थ रूप ही उपस्थित किए गए। आज हमारा देश निर्माण की अवस्था में है, हमें स्वतन्त्रता प्राप्त किए पन्द्रह वर्ष ही हुए हैं। अभी हमें प्रगति के चरमोत्कर्ष तक पहुँचना है, जिसमें नारियों का उतना ही उत्तरदायित्व है, जितना पुरुष का। ऐसी अवस्था में उपन्यासकार का यह प्रमुख कर्त्तव्य हो जाता है कि वह नारियों में नैतिक उत्थान की दृष्टि से अपनी नायिकाओं की परिकल्पना करे और नारियों में जिस सीमा तक नैतिकता का पतन हो गया हैं, उसके प्रति उन्हें सचेत कर, उनमें जीवन की गरिमा स्थापित करने की प्रेरणा दे सके। उन्हें अपनी नायिका सम्बन्धी परिकल्पना में देश और समाज के व्यापक सन्दर्भ में परिवर्तन करना होगा, तभी साहित्य का वास्तविक उद्देश्य पूरा हो सकेगा।

परिशिष्ट

सहायक पुस्तकों की सूची

विशेष : इस शोध-प्रबन्ध में प्रयुक्त उपन्यासों की रचना तिथियाँ यथासंभव देने का प्रयत्न किया गया है। जहाँ ऐसा नहीं संभव हो सका है, वहाँ प्रयुक्त संस्करण की तिथियाँ दी गई हैं।

१. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' : अधखिला फूल, (१९०७), बनारस।
२. अल्फ्रेड एडलर : प्रोब्लम ऑव न्यूरोसिस, लन्दन।
३. अर्नेस्ट ए० बेकर : द हिस्ट्री ऑव इंगलिश नॉविल, प्रथम पोथी लन्दन।
४. अज्ञेय : शेखर : एक जीवनी, प्रथम भाग, (१९४०), द्वितीय भाग, (१९४४), बनारस।
५. अंचल : चढ़ती धूप, (१९४५), इलाहाबाद।
६. अंचल : नई इमारत, (१९४७), इलाहाबाद।
७. आर्नल्ड केटिल : एन इन्ट्रोडक्शन टू द इंगलिश नॉविल, लन्दन।
८. अगस्त फोरेल : द सेक्सुअल क्वेश्चन, (१९३१), लन्दन।
९. आर्थर कॉम्पटन रिकेट : ए हिस्ट्री ऑव इंगलिश लिट्रेचर, (१९४०), लन्दन।
१०. आस्कर फिस्तर : लव इन चिल्ड्रेन एण्ड इट्स एब्रेशन्स, लन्दन।
११. आर० सी० मजूमदार : एन एडवांस्ड हिस्ट्री ऑव इण्डिया, (१९५२), लन्दन।
१२. आर० बिफ्काल्ट : द मदर्स, तीसरी पोथी, (१९२८), न्यूयॉर्क।
१३. आयरीन क्लीफेन : टूवर्ड्स सेक्स फ्रीडम, (१९३५), लन्दन।
१४. इलाचन्द्र जोशी : लज्जा, (१९२९), इलाहाबाद।
१५. इलाचन्द्र जोशी : सन्यासी, (१९४१), इलाहाबाद।
१६. इलाचन्द्र जोशी : पर्दे की रानी, (१९४१), इलाहाबाद।
१७. इलाचन्द्र जोशी : प्रेत और छाया, (१९४६), इलाहाबाद।
१८. इलाचन्द्र जोशी : निर्वासित, (१९४६) इलाहाबाद।
१९. इलाचन्द्र जोशी : विवेचना, (१९४६), इलाहाबाद।
२०. ईरा वॉल्फर्ट : व्हाट इज ए नॉविल एण्ड व्हाट इज इट गुड फॉर, (१९५०), न्यूयॉर्क।
२१. ई० एम० फार्स्टर : एस्पेक्ट्स ऑव द नॉविल, (१९४६), लन्दन।
२२. उपेन्द्रनाथ अश्क : सितारों का खेल, (१९३९), इलाहाबाद।

२३. उपेन्द्रनाथ अश्क : गिरती दीवारें, (१६३६), इलाहाबाद।
२४. उषा देवी मित्रा : जीवन की मुस्कान, (१६३६)।
२५. उषा देवी मित्रा : वचन का मोल।
२६. उषा देवी मित्रा : पिया।
२७. एडलर : अन्डरस्टैंडिग ह्यूमन नेचर, (१६२७), न्यूयार्क।
२८. एलेन वाल्टर : राइटर्स ऑन राइटिंग, (१६४८), लन्दन।
२९. एलिजाबेथ चेसेर : वोमन, मैरेज एण्ड मदरहुड, (१६१३), लन्दन।
३०. एलेन व्यी : द वोमन मुवमेन्ट, (१६१२), लन्दन।
३१. ए० एम० वी० मीथिन : वोमन इन ट्रान्जीशन, (१६०७), लन्दन।
३२. ए० एच० मॉरीसन : वोमन एण्ड देयर कैरीयर्स, (१६३४), न्यूयॉर्क।
३३. एमिली फीफेर : वोमन एण्ड वर्क, (१८८८), लन्दन।
३४. एल० प्रुएट : वीमेन एण्ड लेजर : ए स्टडी ऑव वेस्ट, (१६२४), न्यूयार्क।
३५. एनी एर्लास्टासी : डिफ्रेन्शल साइकोलॉजी, (१६३७), न्यूयॉर्क।
३६. एस्थर हार्डिंग : द वे ऑव आल वीमेन, (१६३३) लन्दन।
३७. एडिथ ह्वार्टन : पर्मानेन्ट वैल्यूज इन फिक्शन, (१६४६), टोर्नोटो।
३८. ए० युसुफ अली : द मेकिंग ऑव इंडिया, (१६२५) लन्दन।
३९. ए० युसुफ अली : ए कल्चुरल हिस्ट्री ऑव इंडिया, (१६४०), लन्दन।
४० ए० एस० अल्टेकर : द पोजीशन ऑव वीमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन, (१६५६), बनारस।
४१. एडविन म्योर : द स्ट्रक्चर ऑव नॉवेल, (१६४६), लन्दन।
४२. एच० जी० वेल्स : आउटलाइन्स ऑव हिस्ट्री, (१६२०), लन्दन।
४३. एल० एफ० रशब्रुक : व्हाट एबाउट इंडिया ? (१६३६), लन्दन।
४४. ए० जे० आर्कबोल्ड : आउट लाइन्स ऑव इंडियन कॉंस्टीट्युशनल हिस्ट्री, (१६२६), लन्दन।
४५. ए० डी० स्पेन्सर : वुमन शेयर इन सोशल कल्चर, (१६१३), फिलाडेल्फिया।
४६. ए० लूडोविची : वुमन : ए विंडिकेशन, (१६२३), लन्दन।
४७. ओटो वेनिन्डार : सेक्स एण्ड कैरेक्टर, (१६०३), वियना।
४८. क्लारा रीव : प्रोग्रेस आव रोमांस, (१७८५)।
४९. क्लैगुई कैजामियाँ ए हिस्ट्री ऑव इंगलिश लिट्रेचर, लन्दन।
५०. किशोरीलाल गोस्वामी : त्रिवेणी, (१८८८) बनारस।
५१. किशोरीलाल गोस्वामी : स्वर्गीय कुसुम, (१८८६) बनारस।
५२. किशोरीलाल गोस्वामी : हृदयहारिणी, (१८६०), बनारस।

५३. किशोरीलाल गोस्वामी : लवंगलता, (१८६०), बनारस ।
५४. किशोरीलाल गोस्वामी : पुनर्जन्म वा सौतिया डाह, (१६०७), काशी ।
५५. किशोरीलाल गोस्वामी : लीलावती वा आदर्श सती, (१६०७), काशी ।
५६. किशोरीलाल गोस्वामी : कनक कुसुम वा मस्तानी, (वृन्दावन) ।
५७. किशोरीलाल गोस्वामी : माधवी माधव वा मदनमोहिनी, (१६१६), वृन्दावन ।
५८. किशोरीलाल गोस्वामी : लखनऊ की कब्र वा शाही महलसरा, (१६१७), वृन्दावन ।
५६. क्रिस्टॉफ मीनेन्स : हिस्ट्री ऑव द फीमेल सेक्स, (१६०८) लन्दन ।
६०. गुरुदत्त : स्वाधीनता के पथ पर, (१६४२), दिल्ली ।
६१. चतुरसेन शास्त्री : नीलमणि, (१६४०), बनारस ।
६२. जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी, (१६४७) इलाहाबाद ।
६३. जयशंकर प्रसाद : कंकाल, (१६१६), इलाहाबाद ।
६४. जयशंकर प्रसाद : तितली, (संवत् १६६१), इलाहाबाद ।
६५. ज्योफेरी मे : सोशल कंट्रोल ऑव सेक्स एक्सप्रेशन्स, (१६३०), लन्दन ।
६६. जोसेफ किर्क फोल्सम : द फेमिली, इट्स सोशियोलॉजी एण्ड सोशल सिकिएट्री, (१६३४), लन्दन ।
६७. जोसेफ चिएरी : रियलिज्म एण्ड इमैजिनेशन, (१६६०), लन्दन ।
६८. जे० एन० सरकार : लेटर मुगल्स, (१६५५), कलकत्ता ।
६६. जे० रेम्जे म्योर : मेकिंग ऑव ब्रिटिश इंडिया, (१७५६ से १८५८ तक) १६०४, मैनचेस्टर ।
७०. जैनेन्द्रकुमार : कमलिनी, (१८६१) ।
७१. जैनेन्द्रकुमार : परख, (१६२६), बम्बई ।
७२. जैनेन्द्रकुमार : कल्याणी, १६३२), बम्बई ।
७३. जैनेन्द्रकुमार : सुनीता, (१६३६), बम्बई ।
७४. जैनेन्द्रकुमार : त्याग पत्र, (१६३७), बम्बई ।
७५. टॉल्स्टॉय : व्हाट इज आर्ट, (ओ० यू० पी०) ।
७६. टीकाराम सदाशिव तिवारी : पुष्पकुमारी, (१६१७), कलकत्ता ।
७७. ठाकुर जगमोहनसिंह : श्यामा स्वप्न, (१८८८) ।
७८. डब्ल्यू एच० हडसन : एन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर, (१६४६), लन्दन ।
७६. डेविश डेचेज : द नॉवेल एण्ड द मॉडर्न वर्ल्ड, शिकागो ।
८०. डश : द साइकोलॉजी ऑव वीमेन ।

८१. थॉम्पसन एण्ड गैरेट : राइज़ एण्ड फुलफिलमेंट ऑव ब्रिटिश रूल इन इंडिया, (१९२५), लन्दन।
८२. देवकीनन्दन खत्री : चन्द्रकान्ता, (१८९१), बनारस।
८३. देवीप्रसाद शर्मा : सुन्दर सरोजिनी, (१९०७), काशी।
८४. नॉर्मन कज़िन्स : राइटिंग फॉर लव ऑर मनी, (१९४९), कनाडा।
८५. पर्सी लब्बाक : द क्रैफ्ट ऑव फिक्शन, (१९५४), लन्दन।
८६. पट्टाभि सीतारमैया : कांग्रेस का इतिहास, (१९४६), दिल्ली।
८७. पांडेय बेचन शर्मा उग्र : जीजी जी, (१९४३), बनारस।
८८. पांडेय बेचन शर्मा उग्र : दिल्ली दलाल, (१९२७)।
८९. पांडेय बेचन शर्मा उग्र : चन्द हसीनों के खतूत, (१९२७)।
९०. पांडेय बेचन शर्मा उग्र : बधुआ की बेटी, (१९२८)।
९१. पांडेय बेचन शर्मा उग्र : शराबी, (१९३०)।
९२. पांडेय बेचन शर्मा उग्र : सरकार तुम्हारी आँखों में, (१९३७)।
९३. पोप नो जान्सन : एप्लाइड ईयोगोनिक्स, लन्दन।
९४. प्रेमचन्द : वरदान, (१९०२), बनारस।
९५. प्रेमचन्द : प्रतिज्ञा, बनारस।
९६. प्रेमचन्द : प्रेमाश्रय, (१९१८), बनारस।
९७. प्रेमचन्द : सेवासदन, (१९१४), बनारस।
९८. प्रेमचन्द : निर्मला, (१९२२-२३), बनारस।
९९. प्रेमचन्द : कायाकल्प, (१९२६), बनारस।
१००. प्रेमचन्द : रंगभूमि, (१९२४), बनारस।
१०१. प्रेमचन्द : कर्मभूमि, (१९३२) बनारस।
१०२. प्रेमचन्द : गबन, (१९३०), बनारस।
१०३. प्रेमचन्द : गोदान, (१९३६), बनारस।
१०४. बर्ट्रेन्ड रसेल : मैरेज एण्ड मॉरेल्स, (१९२९), लन्दन।
१०५. बर्नार्ड डी० वोटो : द वर्ल्ड ऑव फिक्शन, लन्दन।
१०६. विनयकुमार सरकार : क्रिएटिव इंडिया, (१९३७), लाहौर।
१०७. बोसांके : लौजिक, (द्वितीय संस्करण)।
१०८. भगवती प्रसाद बाजपेयी : पतिता की साधना, (१९३६), इलाहाबाद।
१०९. भगवती प्रसाद बाजपेयी : त्यागमयी, (१९४२), इलाहाबाद।
११०. भगवती प्रसाद बाजपेयी : निमन्त्रण, इलाहाबाद।
१११. भगवती प्रसाद बाजपेयी : दो बहनें, इलाहाबाद।
११२. मार्ग्रेट ई० काज़िन्स : इंडियन वुमनहुड, (१९४१) इलाहाबाद।

११३. मार्ग्रेट सैन्जर : वुमन एण्ड द न्यू रेस, (१९२०), लन्दन ।
११४. मोहनदास कर्मचन्द गांधी : आत्मकथा, (१९५२), दिल्ली ।
११५ मेह्यू : एजूकेशन ऑव इण्डिया, (१९२६), लन्दन ।
११६. मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श हिन्दू, (१९१४), इलाहाबाद ।
११७. मेहता लज्जाराम शर्मा : सुशीला विधवा, (१९०७), इलाहाबाद ।
११८. मेहता लज्जाराम शर्मा : धूर्त रसिकलाल, (१८९९) ।
११९. मेहता लज्जाराम शर्मा : स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी, (१८९९) ।
१२०. मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श दम्पत्ति, (१९०४) ।
१२१. मेहता लज्जाराम शर्मा : बिगड़े का सुधार, (१९०७) ।
१२२. यशपाल : दादा कामरेड, (१९४१), लखनऊ ।
१२३. यशपाल : देशद्रोही, (१९४३), लखनऊ ।
१२४. यशपाल : दिव्या, (१९४५), लखनऊ ।
१२५. यशपाल : पार्टी कामरेड, (१९४६), लखनऊ ।
१२६. यशपाल : मार्क्सवाद, (लखनऊ) ।
१२७. यशपाल : चक्कर क्लब, (१९५१), लखनऊ ।
१२८. यशपाल : बात-बात में बात, (१९५४), लखनऊ ।
१२९. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, (आठवां संस्करण), बनारस ।
१३०. रांगेय राघव : घरौंदे, (१९४१), बनारस ।
१३१. रांगेय राघव : मुर्दों का टीला, (१९४६), इलाहाबाद ।
१३२. राहुल सांकृत्यायन : जीने के लिए, (१९३९), छपरा ।
१३३. राहुल सांकृत्यायन : सिंह सेनापति, (१९४२), इलाहाबाद ।
१३४. राहुल सांकृत्यायन : जय यौधेय, (१९४४), इलाहाबाद ।
१३५. ऋषभ चरण जैन तथा जैनेन्द्रकुमार : तपोभूमि, (१९३६), दिल्ली ।
१३६. रिचार्ड चर्च : द ग्रोथ ऑव द इंगलिश नॉविल, (१९५१), लन्दन ।
१३७. रैल्फ फॉक्स : द नॉविल एण्ड द पीपुल, लन्दन ।
१३८. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (डॉ०) : आधुनिक हिन्दी साहित्य, (१९४८), इलाहाबाद ।
१३९. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (डॉ०) : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, इलाहाबाद ।
१४०. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (डॉ०) : हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ, बम्बई ।
१४१. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (डॉ०) : उन्नीसवीं शताब्दी, (१९६३), इलाहाबाद ।
१४२. वृन्दावन लाल वर्मा : गढ़कुण्डार, (१९२७), झाँसी ।
१४३. वृन्दावन लाल वर्मा : कुण्डलीचक्र, (१९३२), झाँसी ।
१४४. वृन्दावन लाल वर्मा : संगम, (१९३९), झाँसी ।

१४५. वृन्दावन लाल वर्मा : विराटा की पद्मिनी, (१९३६), झाँसी।
१४६. वृन्दावन लाल वर्मा : लगन, (१९२९), झाँसी।
१४७. वृन्दावन लाल वर्मा : प्रत्यागत, (१९२९), झाँसी।
१४८. वृन्दावन लाल वर्मा : अचल मेरा कोई, (१९४६), झाँसी।
१४९. वृन्दावन लाल वर्मा : झाँसी की रानी, (१९४६), झाँसी।
१५०. वृन्दावन लाल वर्मा : कचनार, (१९४७), झाँसी।
१५१. वायला क्लीन : द फैमिनिन कैरेक्टर, (१९४६), लन्दन।
१५२. वाई० एम० रीग : व्हीदर वुमन ? (१९३८), बम्बई।
१५३. विलीस्टाइन गुडसेल : द एजूकेशन ऑव वीमन, (१९२३), न्यूयार्क।
१५४. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण, (१९४४), कलकत्ता।
१५५. विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' : माँ, (१९२९), आगरा।
१५६. विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' : भिखारिणी, (१९२९), आगरा।
१५७. शारलेट पी० गिलमैन : वुमन एण्ड इकोनॉमिक्स, (१९१५), लन्दन।
१५८. सर पी० ग्रिफिथ : द ब्रिटिश इम्पैक्ट ऑन इण्डिया, (१९५३), लन्दन।
१५९. सर जॉन कमिंग : मॉडर्न इण्डिया : ए कोऑपरेटिव सर्वे, (१९३१), लन्दन
१६०. सी० जे० युंग : साइकोलॉजिकल टाइम्स, (१९३३), लन्दन।
१६१. सिगमण्ड फ्रायड : सिविलीजेशन एण्ड इट्स डिसकंटेंट्स, (१९३०), लन्दन
१६२. सिगमण्ड फ्रायड : हिज ड्रीम एण्ड सेक्स थ्यूरीज़, (१९५९), न्यूयॉर्क।
१६३. सिगमण्ड फ्रायड : द साइकोलॉजी ऑव वीमेन, (१९३३), लन्दन।
१६४. सियारामशरण गुप्त : गोद, (१९३२), झाँसी।
१६५. सियारामशरण गुप्त : नारी, (१९३७), झाँसी।
१६६. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' : अलका, (१९३३), लखनऊ।
१६७. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' : निरुपमा, (१९३६), लखनऊ।
१६८. हर्बर्ट जे० मुल्लर : मॉडर्न फिक्शन : ए स्टडीज़ ऑव वैल्यू, लन्दन।
१६९. हेनरी जेम्स : द आर्ट ऑव फिक्शन, (१९४८), न्यूयार्क।
१७०. हैवलाक एलिस : मैन एण्ड वुमन, (१९३४), लन्दन।
१७१. हैवलाक एलिस : स्टडीज़ इन द साइकोलॉजी ऑव सेक्स, छठी पोथी (१९२८), लन्दन।